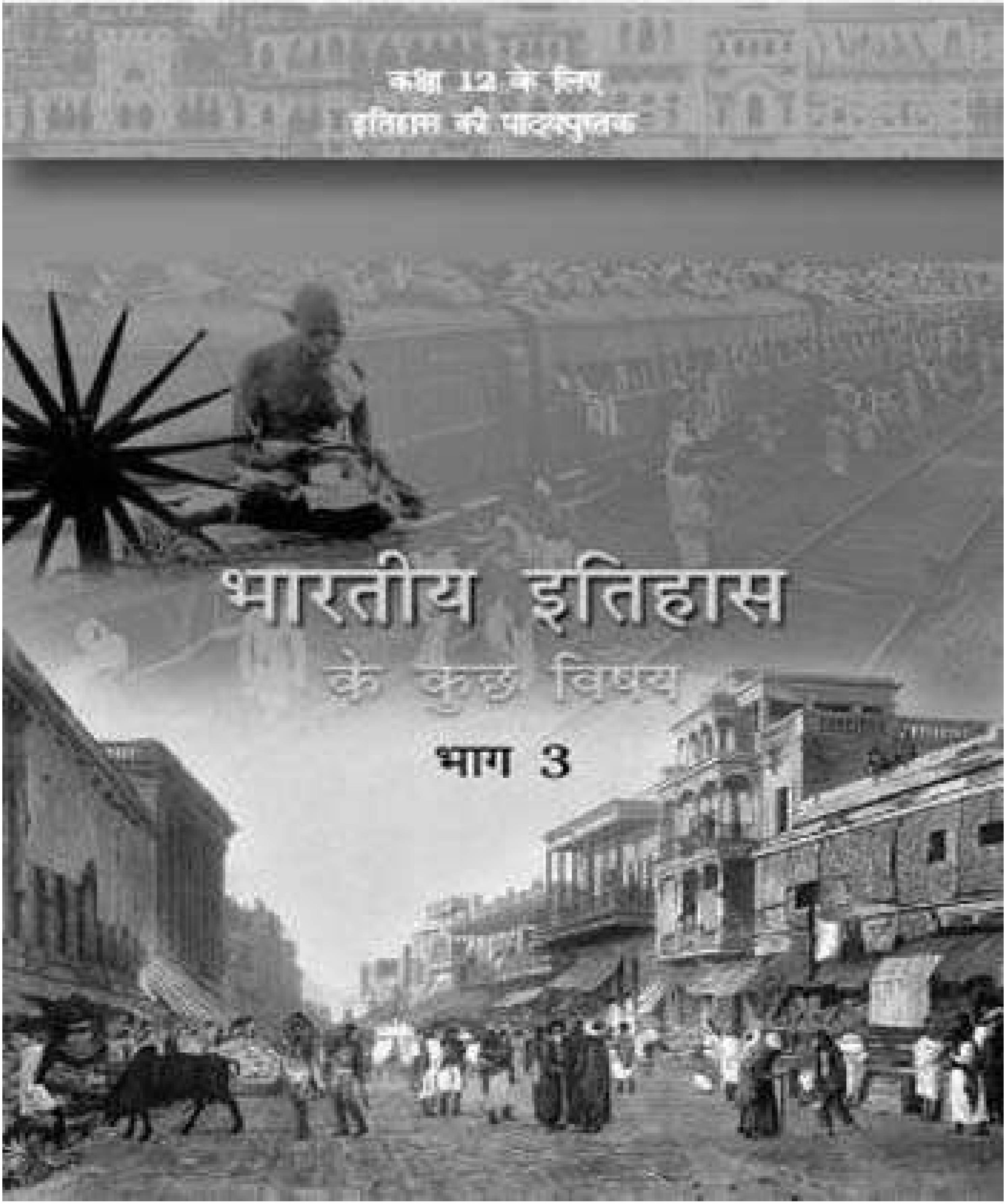
कक्षा 12 के लिए
इतिहास की पाठ्यपुस्तक
भारतीय इतिहास
के कुछ विषय
भाग 3

कक्षा 12 के लिए
इतिहास की पाठ्यपुस्तक

भारतीय इतिहास के कुछ विषय

भाग 3

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

जुलाई 2007 आषाढ़ 1929

पुनर्मुद्रण

फरवरी 2008 माघ 1929
जनवरी 2009 पौष 1930

PD 25T NSY

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2007

रु. 75.00

एन.सी.ई.आर.टी. वॉटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा शकुन प्रिंटर्स, 241, पटपडगंज, इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली 110 092 द्वारा मुद्रित।

ISBN 81-7450-700-0 (भाग 1)
81-7450-759-0 (भाग 2)
81-7450-771-X (भाग 3)

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुनः प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन. सी. ई. आर. टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशकरी III इस्टेज
बैंगलुरु 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगाव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग : *पेय्येटि राजाकुमार*
मुख्य उत्पादन अधिकारी : *शिव कुमार*
मुख्य संपादक : *श्वेता उप्पल*
मुख्य व्यापार प्रबंधक : *गौतम गांगुली*
संपादक : *नरेश यादव*
उत्पादन सहायक : *राजेश पिप्पल*

आवरण एवं सज्जा
आर्ट क्रियेशंस, नयी दिल्ली

कार्टोग्राफी
कार्टोग्राफी डिज़ाइन एजेंसी

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक स्कूल और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नयी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास हैं। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि स्कूलों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और अपने अनुभव पर विचार करने का अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों व स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आध ार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितना वार्षिक कैलेण्डर के अमल में चुस्ती, जिससे शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक स्कूल में बच्चों के जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में बातचीत एवं बहस और हाथ से की जाने वाली गतिविधियों को प्राथमिकता देती है।

एन.सी.ई.आर.टी. इस पुस्तक की रचना के लिए बनाई गई पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान सलाहकार समूह के अध्यक्ष, प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन, इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता एवं इतिहास पाठ्यपुस्तक समिति के मुख्य सलाहकार, प्रोफ़ेसर नीलाद्रि भट्टाचार्य, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली की विशेष आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के निर्माण में कई शिक्षकों ने

योगदान दिया; इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया। हम माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रोफ़ेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफ़ेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं। व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित एन.सी.ई.आर.टी. टिप्पणियों एवं सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नयी दिल्ली
20 नवंबर 2006

अध्ययन का केंद्रबिंदु निश्चित करना

कौन सी बात इस किताब के केंद्रबिंदु को निर्धारित करती है? आखिर इस किताब का क्या लक्ष्य है? पिछली कक्षाओं की पढ़ाई से यह कैसे जुड़ी हुई है?

कक्षा 6 से 8 तक हमने भारतीय इतिहास के बारे में प्रारंभिक काल से आधुनिक युग तक की जानकारी प्राप्त की। हर वर्ष एक विशेष ऐतिहासिक काल के बारे में पढ़ाई की गई। कक्षा 9 और 10 की किताबों में परीक्षण का दायरा बदल गया। उच्च प्राथमिक कक्षाओं के विपरीत यहाँ हमने एक छोटा सा काल चुनकर समकालीन विश्व का सूक्ष्म अध्ययन किया। क्षेत्रीय सीमाओं को लाँघते हुए, राष्ट्रीय-राज्यों के विस्तार से कहीं आगे बढ़कर, हमने यह जानने की कोशिश की कि दुनिया के अलग-अलग हलकों और मुल्कों के लोगों ने आज की दुनिया बनाने में क्या भूमिका अदा की है। भारतीय इतिहास एक बृहत्तर विश्व के अंतर्संबंधित इतिहास का हिस्सा बन गया। इसके बाद कक्षा 11 में हमने *विश्व इतिहास के कुछ विषयों* का अध्ययन किया। इस दौरान हमने पृथ्वी पर इनसानों के जीवन की शुरुआत से आज तक के लंबे अंतराल के बीच अपनी कालानुक्रमिक दृष्टि को विस्तार दिया। लेकिन हमने विशेष खोज के लिए सिर्फ़ कुछ विषयों को चुना। इस साल हम भारतीय इतिहास के कुछ विषयों का अध्ययन करेंगे।

यह किताब हड़प्पा से शुरू होती है और भारतीय संविधान के बनने पर खत्म होती है। इसमें पाँच हज़ार वर्षों का सामान्य सर्वेक्षण नहीं बल्कि कुछ विशेष विषयों का गहन अध्ययन किया गया है। पिछले वर्षों की किताबों ने आपको पहले ही भारतीय इतिहास से परिचित करा दिया है। अब समय आ गया है कि हम कुछ विषयों की गहराई से छानबीन करें।

जहाँ हमने आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विषयों को चुनकर बदलाव के अलग-अलग आयामों को समझने की कोशिश की है वहीं इनके बीच की दीवारों को भी तोड़ने का प्रयास किया है। जहाँ इस किताब के कुछ विषय आपको उस युग की राजनीति तथा सत्ता और शक्ति की प्रकृति से परिचित करवाएँगे, वहीं कुछ में यह समझने का प्रयास है कि समाज कैसे संगठित होता है, कैसे काम करता है और कैसे बदलता है। कुछ और अध्याय बताते हैं धार्मिक जीवन और रीति-रिवाज़ों के बारे में, अर्थव्यवस्थाओं के विषय में और ग्रामीण एवं शहरी समाजों में बदलाव के बारे में।

इनमें से हर विषय आपको इतिहासकारों के शिल्प से अवगत कराएगा। इतिहास को ढूँढ़ निकालने के लिए इतिहासकारों को स्रोतों की ज़रूरत पड़ती है जिनके माध्यम से अतीत के बारे में जाना जा सकता है। लेकिन स्रोत खुद-ब-खुद अतीत को प्रकट नहीं करते। इतिहासकारों को इन स्रोतों के साथ जूझना पड़ता है, इनकी व्याख्या करनी पड़ती है और उनसे अतीत के तथ्य बुलवाने पड़ते हैं। इसीलिए तो इतिहास एक दिलचस्प विषय बन जाता है। पुराने स्रोतों से भी हमें कई नयी जानकारियाँ मिल सकती हैं, यदि हम उनसे नए सवाल पूछें और उन पर अलग तरीके से नज़र दौड़ाएँ। इसलिए हमें यह जानने की ज़रूरत है कि इतिहासकार किस तरह स्रोतों को पढ़ते हैं और कैसे वे पुराने स्रोतों में नयी बातें खोज निकालते हैं।

लेकिन इतिहासकार सिर्फ़ पुराने स्रोतों का ही पुनर्परीक्षण नहीं करते। वे नए स्रोत भी खोज निकालते हैं। कई बार ये स्रोत आकस्मिक रूप से मिल जाते हैं। पुराविदों को कभी-कभी अनजाने में ही कोई मुहर या टीला दिख जाता है जिससे किसी प्राचीन सभ्यता के स्थल का सुराग मिल जाता है।

किसी कलेक्टरेट के धूल-धूसरित दस्तावेज़ों और लेखों के पुलिंदे की छानबीन करते हुए इतिहासकार अनजाने में किसी स्थानीय झगड़े के मुकदमे के कागज़ात पा लेता है और इनसे सदियों पहले के ग्रामीण जीवन का एक नया विश्व सामने खड़ा हो जाता है। क्या ये खोजें

एक संयोग मात्र हैं? हो सकता है किसी अभिलेखागार में आपको अचानक पुराने दस्तावेज़ों का एक पुलिंदा मिल जाए। आप उसे खोल कर देखते हैं लेकिन आपको उसमें कोई महत्वपूर्ण बात नज़र नहीं आती। यदि आपके मन में संबद्ध सवाल नहीं हों तो उस स्रोत का कोई मतलब नज़र नहीं आएगा। आपको स्रोत को खोजना होता है, मूल पाठ को पढ़ना होता है, सुरागों के पीछे लगना पड़ता है और इन सबका अंतर्संबंध ढूँढ़ना होता है तब जाकर आप अतीत का पुनर्निर्माण कर पाते हैं। किसी स्रोत की खोज मात्र से ही अतीत के रहस्य नहीं खुल जाते। जब अलेक्ज़ैंडर कनिंघम ने पहली बार हड़प्पा सभ्यता की एक मुहर देखी तो वे इसका कोई मतलब नहीं निकाल पाए। काफ़ी समय बाद ही उस मुहर का महत्त्व समझ में आया।

वस्तुत: जब इतिहासकार नए सवाल पूछना शुरू करते हैं या नए विषयों की खोज करते हैं तब उन्हें अक्सर नए प्रकार के स्रोतों की खोज करनी पड़ती है। यदि हम क्रांतिकारियों और विद्रोहियों के बारे में जानना चाहते हैं तो सरकारी कागज़ात सिर्फ़ एक अधूरी छवि ही प्रस्तुत कर पाएँगे। एक ऐसी छवि जो सरकारी पक्ष के द्वेष और पूर्वाग्रहों से रँगी हुई होगी। हमें विद्रोहियों की डायरी, उनके व्यक्तिगत पत्र, उनके लेख और उद्घोषणाओं जैसे दस्तावेज़ों को ढूँढ़ने की ज़रूरत पड़ेगी। ये सब आसानी से नहीं मिलते। यदि हम 1947 के विभाजन के सदमे को झेलने वाले लोगों के अनुभवों को समझना चाहते हैं तो लिखित स्रोतों की अपेक्षा मौखिक स्रोत ज़्यादा बातें उद्घाटित कर पाएँगे।

जैसे-जैसे इतिहास की दृष्टि फैलती है वैसे-वैसे अतीत को समझने की कोशिश में लगे इतिहासकार नए सुरागों की तलाश में नए स्रोतों की खोज शुरू कर देते हैं। जब ऐसा होता है तब किन-किन चीज़ों को स्रोत माना जाए – इसकी समझ ही बदल जाती है। एक समय था जब सिर्फ़ लिखित दस्तावेज़ों को ही प्रामाणिक स्रोत माना जाता था। लिखित दस्तावेज़ों को सत्यापित किया जा सकता था, उनका हवाला दिया जा सकता था और उन्हें जाँचा जा सकता था। मौखिक साक्ष्य को एक वैध स्रोत ही नहीं माना जाता था। आखिर उसके सत्यापन या जाँच की गारंटी कौन लेता? मौखिक परंपरा में अविश्वास की यह स्थिति अभी भी पूरी तरह खत्म नहीं हुई है। लेकिन मौखिक परंपरा का अभिनव प्रयोग करके ऐसे अनुभवों को सामने लाया गया है जो दूसरे किसी दस्तावेज़ से प्रकट नहीं होते।

इस साल की किताब से आप इतिहासकारों की दुनिया में प्रवेश करेंगे, उनके साथ नए सूत्रों की तलाश करेंगे और देखेंगे कि वे किस तरह से अतीत के साथ संवाद करते हैं। आप देखेंगे कि वे किस तरह से स्रोतों से सार्थक जानकारी ढूँढ़ निकालते हैं, अभिलेखों को पढ़ते हैं, पुरास्थलों की खुदाई करते हैं, मनकों और हड्डियों के अर्थ निकालते हैं, महाकाव्यों की व्याख्या करते हैं, स्तूपों और इमारतों का निरीक्षण करते हैं, चित्रों और तसवीरों का परीक्षण करते हैं, पुलिस की रपट और राजस्व के दस्तावेज़ों की व्याख्या करते हैं और अतीत की आवाज़ों को सुनते हैं। हर विषयवस्तु एक विशेष किस्म के स्रोत की खासियत और संभावनाओं पर विचार करेगी। यह चर्चा करेगी कि कोई स्रोत क्या बता सकता है और क्या नहीं।

भारतीय इतिहास के कुछ विषय पुस्तक का यह अंतिम भाग है।

नीलाद्रि भट्टाचार्य
मुख्य सलाहकार
इतिहास

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति
हरि वासुदेवन, *प्रो.फेसर*, इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

मुख्य सलाहकार
नीलाद्रि भट्टाचार्य, *प्रो.फ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली (विषय 10)

सलाहकार
कुमकुम रॉय, *एसोसिएट प्रो.फ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली (विषय 2)
मोनिका जुनेजा, *गेस्ट प्रो.फ़ेसर*, इंस्टीट्यूट फ़ूरगेशीख़्ट (इतिहास संबंधी अध्ययन के लिए संस्था), विएना, ऑस्ट्रिया

सदस्य
उमा चक्रवर्ती, *रीडर* (अवकाशप्राप्त), इतिहास, मिरांडा हाऊस, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली (विषय 4)
कुणाल चक्रवर्ती, *प्रो.फ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली (विषय 3)
जया मेनन, *रीडर*, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (विषय 1)
नजफ़ हैदर, *एसोसिएट प्रो.फ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली (विषय 9)
पार्थो दत्ता, *रीडर*, इतिहास विभाग, ज़ाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य कक्षाएँ), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली (विषय 12)
प्रभा सिंह, *पी.जी.टी.*, केंद्रीय विद्यालय, ओल्ड कैंट, तेलियरगंज, इलाहाबाद
फ़रहत हसन, *रीडर*, इतिहास विभाग, अलीगढ़ (विषय 5)
बीबा सोब्ती, *पी.जी.टी.*, मॉडर्न स्कूल, बाराखंबा रोड, नयी दिल्ली
मुज़फ़्फ़र आलम, *प्रो.फ़ेसर*, दक्षिण-एशियाई इतिहास, शिकागो विश्वविद्यालय, शिकागो, यू.एस.ए.
मीनाक्षी खन्ना, *रीडर* (इतिहास), इंद्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली (विषय 6)
रजत दत्ता, *प्रो.फ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली (विषय 8)
रामचंद्र गुहा, *स्वतंत्र लेखक, मानवविज्ञानी एवं इतिहासकार*, बंगलौर (विषय 13)
रश्मि पालीवाल, एकलव्य, कोठी बाजार, होशंगाबाद
रूद्रांग्शू मुखर्जी, *कार्यकारी संपादक, दि टेलीग्राफ़,* कोलकाता (विषय 11)
विजया रामास्वामी, *प्रो.फ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली (विषय 7)
सी.एन. सुब्रमण्यम, एकलव्य, कोठी बाजार, होशंगाबाद (विषय 7)
स्मिता सहाय भट्टाचार्य, *पी.जी.टी.*, ब्लू बेल्स स्कूल, कैलाश कॉलोनी, नयी दिल्ली
सुमित सरकार, *प्रो.फ़ेसर*-इतिहास (अवकाशप्राप्त), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली (विषय 15)

अनुवादक
अनिल सेठी
परशुराम शर्मा, *निदेशक* (अवकाशप्राप्त), राजभाषा, भारत सरकार
योगेन्द्र दत्त, सराय, सी.एस.डी.एस., दिल्ली
सीमा एस. ओझा

सदस्य-समन्वयक
अनिल सेठी, *प्रो.फ़ेसर,* सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नयी दिल्ली (विषय 14)
सीमा एस. ओझा, *लेक्चरर*, सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली

आभार

भारतीय इतिहास के कुछ विषय, भाग 3 बड़ी संख्या में शिक्षाविदों, स्कूल के शिक्षकों, इतिहासकारों, संपादकों और डिज़ाइनरों के सामूहिक प्रयासों का परिणाम है। प्रत्येक अध्याय पर कई महीनों तक चर्चा और पुनरीक्षा चलती रही। इस प्रक्रिया में भाग लेने वाले सभी व्यक्तियों का हम आभार व्यक्त करते हैं।

विभिन्न व्यक्तियों ने पुस्तक के अध्याय पढ़कर अपने सुझाव दिए। विशेषरूप से राष्ट्रीय निगरानी समिति के सदस्यों प्रोफ़ेसर जे. एस. ग्रेवाल और शोभा वाजपेयी ने आरंभिक प्रारूपों पर कई उपयोगी सुझाव दिए जिनके लिए हम उनके आभारी हैं। प्रोफ़ेसर नारायणी गुप्ता, प्रभु मोहपात्र और तरुण सेंट ने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। महमूद फ़ारूकी ने 11वें अध्याय के लिए उद्धरण सुझाए। पार्थ शील, अखिला येचुरी और सब्यसाची दासगुप्ता ने शोध संबंधी सहायता दी।

विभिन्न संस्थाओं और व्यक्तियों ने पुस्तक के लिए दृश्य सामाग्री प्रदान की : विक्टोरिया मेमोरियल म्यूज़ियम व लाइब्रेरी; इंदिरा गाँधी नेशनल सेंटर फॉर दि आर्ट्स, नयी दिल्ली; अलकाज़ी फाउंडेशन फॉर दि आर्ट्स, नयी दिल्ली; दि ओशियंस आर्काइव एंड लाइब्रेरी कलेक्शन, मुम्बई; सिविक आर्काइव्स, नयी दिल्ली; फोटो डिवीज़न, भारत सरकार; साउथ एशिया सेंटर, युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो। चितरंजन पांडा, कौशिक भौमिक, प्रतीक चक्रवर्ती और रेहाब अलकाज़ी ने चित्रों के लिए दृश्य सामग्री प्राप्त करने में व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया। संग्राहकों में दुर्लभ उदारता के साथ जूटा और ज्योतींद्र जैन ने चित्रों का अपना विशाल संग्रह हमारे लिए उपलब्ध कराया। हम इन सभी का धन्यवाद देते हैं।

आर्ट क्रियेशंस की रितु टोपा ने असंभव सी लगने वाली तारीख़ों तक काम को पूरा करने के लिए बिना थके पुस्तक का डिज़ाइन किया। अल्बिनस टिर्की ने तकनीकी सहायता प्रदान की।

दिनेश कुमार, *प्रभारी, कंप्यूटर कक्ष;* ईश्वर सिंह, अनिल शर्मा, मुकद्दस आज़म तथा अरविंद शर्मा *डी.टी.पी. ऑपरेटर;* अंजना बख्शी, *कॉपी एडिटर;* अचल कुमार *प्रूफ रीडर* ने इस पुस्तक के निर्माण में सहयोग दिया। हम इन सभी के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं।

हमने यथासंभव पुस्तक के सभी सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करने का प्रयास किया है फिर भी यदि असावधानीवश इसमें कोई त्रुटि रह गई हो तो हम उसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

विषय सूची

आमुख *iii*
अध्ययन का केंद्रबिंदु निश्चित करना *v*
इस पुस्तक का कैसे प्रयोग किया जाए? *xi*

भाग 3

विषय दस
उपनिवेशवाद और देहात 257
सरकारी अभिलेखों का अध्ययन

विषय ग्यारह
विद्रोही और राज 288
1857 का आंदोलन और उसके व्याख्यान

विषय बारह
औपनिवेशिक शहर 316
नगरीकरण, नगर–योजना, स्थापत्य

विषय तेरह
महात्मा गाँधी और राष्ट्रीय आंदोलन 346
सविनय अवज्ञा और उससे आगे

विषय चौदह
विभाजन को समझना 376
राजनीति, स्मृति, अनुभव

विषय पंद्रह
संविधान का निर्माण 405
एक नए युग की शुरुआत

भाग 1 (पृ. 1–114)

विषय एक
ईंटें, मनके तथा अस्थियाँ
हड़प्पा सभ्यता

विषय दो
राजा, किसान और नगर
आरंभिक राज्य और अर्थव्यवस्थाएँ
(लगभग 600 ई.पू. से 600 ईसवी)

विषय तीन
बंधुत्व, जाति तथा वर्ग
आरंभिक समाज
(लगभग 600 ई.पू. से 600 ईसवी)

विषय चार
विचारक, विश्वास और इमारतें
सांस्कृतिक विकास
(लगभग 600 ईसा पूर्व से ईसवी 600 तक)

भाग 2 (पृ. 115–256)

विषय पाँच
यात्रियों के नज़रिए
समाज के बारे में उनकी समझ
(लगभग दसवीं से सत्रहवीं सदी तक)

विषय छः
भक्ति–सूफी परंपराएँ
धार्मिक विश्वासों में बदलाव और श्रद्धा ग्रंथ
(लगभग आठवीं से अठारहवीं सदी तक)

विषय सात
एक साम्राज्य की राजधानी : विजयनगर
(लगभग चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक)

विषय आठ
किसान, ज़मींदार और राज्य
कृषि समाज और मुगल साम्राज्य
(लगभग सोलहवीं और सत्रहवीं सदी)

विषय नौ
शासक और विभिन्न इतिवृत्त
मुग़ल दरबार

इस पुस्तक का कैसे प्रयोग किया जाए?

भारतीय इतिहास के कुछ विषय पुस्तक का यह अंतिम भाग है।

☑ अध्ययन में मदद हेतु प्रत्येक अध्याय को कई भागों और उपभागों में बाँटा गया है। सरल पाठन के लिए इन भागों और उपभागों को संख्याएँ दी गई हैं।

☑ इसके अलावा कुछ सामग्री तीन तरह के बॉक्सों के अंतर्गत दी गई है।

संक्षेप में अर्थ	अतिरिक्त जानकारी	विस्तृत परिभाषाएँ

यह सामग्री ***परीक्षा में मूल्यांकन हेतु नहीं है।***
यह केवल समझने की प्रक्रिया पुख्ता बनाने और उसमें मदद करने के लिए है।

☑ प्रत्येक अध्याय के अंत में ***कालरेखाएँ*** दी गई हैं। ये परीक्षा में ***मूल्यांकन हेतु नहीं हैं।*** यह पाठ की सामग्री की पृष्ठभूमि की जानकारी के लिए हैं।

☑ प्रत्येक अध्याय में ***चित्र/रेखाचित्र, मानचित्र*** और ***स्रोत*** दिए गए हैं।

(क) **चित्रों** के अंतर्गत औज़ारों, मृद्‌भाण्डों, मुहरों, सिक्कों, आभूषणों आदि पुरावस्तुओं के चित्र एवं अभिलेखों, मूर्तियों, पेंटिंग, इमारतों, पुरास्थलों, नक्शों, लोगों तथा जगहों की तसवीरें हैं। इन सभी का इस्तेमाल इतिहासकार स्रोतों के रूप में करते हैं।

(ख) आवश्यकतानुसार अध्यायों में ***मानचित्र*** दिए गए हैं।

स्रोत

(ग) स्रोत अलग तरह के बॉक्स में दिए गए हैं। तरह-तरह की लिखित सामग्री एवं अभिलेखों से अंश इनके अंतर्गत दिए गए हैं। लिखित साक्ष्यों के साथ ही चित्रों के साक्ष्य उन सुरागों से परिचित कराएँगे जिनका इतिहासकार इस्तेमाल करते हैं। आप यह भी देखेंगे कि इतिहासकार इनका विश्लेषण कैसे करते हैं। **अंतिम परीक्षा में समान/मिलती-जुलती सामग्री के अंश या फिर चित्र दिए जा सकते हैं। इस तरह आपको ऐसी सामग्री के प्रयोग का अवसर मिलेगा।**

☑ पाठ के अंतर्गत दो तरह के प्रश्न दिए गए हैं।

(क) पीले रंग के बॉक्स में वे प्रश्न दिए गए हैं जिनका ***मूल्यांकन हेतु अभ्यास*** किया जा सकता है।

(ख) ➲ चर्चा कीजिए... के अंतर्गत वे प्रश्न दिए गए हैं जो ***मूल्यांकन के लिए नहीं हैं।***

☑ प्रत्येक अध्याय के अंत में ***चार तरह*** के अभ्यास कार्य दिए गए हैं :

लघु प्रश्न

लघु निबंध

मानचित्र कार्य

परियोजना कार्य

ये अंतिम परीक्षा व मूल्यांकन हेतु अभ्यास के लिए दिए गए हैं।

आशा है आपको इस पुस्तक का प्रयोग दिलचस्प लगेगा।

अध्याय
दस

उपनिवेशवाद और देहात

सरकारी अभिलेखों का अध्ययन

इस अध्याय में आप यह देखेंगे कि औपनिवेशिक शासन का अर्थ उन लोगों के लिए क्या था जो देहात में रहते थे। इस अध्याय के माध्यम से आप बंगाल के ज़मींदारों से मिलेंगे, उन राजमहल की पहाड़ियों की यात्रा करेंगे जहाँ पहाड़िया और संथाल लोग रहते थे और फिर वहाँ से दक्कन की ओर आगे बढ़ेंगे। आप यह देखेंगे कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने देहात में अपना राज कैसे स्थापित किया था, अपनी राजस्व नीतियों को कैसे कार्यान्वित किया था, भिन्न-भिन्न वर्गों के लोगों के लिए इन नीतियों का क्या मतलब था और उन्होंने रोजमर्रा की ज़िदंगी को कैसे बदल दिया था।

राज्य यानी सरकार द्वारा लागू किए गए क़ानूनों के जनसाधारण के लिए अनेक परिणाम होते हैं : वे कुछ हद तक यह निर्धारित करते हैं कि उन क़ानूनों के परिणामस्वरूप कौन पहले से अधिक धनवान बनते हैं और कौन ग़रीब हो जाते हैं; किसे नयी ज़मीन मिल जाती है और कौन अपनी उस ज़मीन को खो बैठता है जिस पर वह रहता और गुज़र-बसर करता था; किसानों को जब पैसे की ज़रूरत पड़ती है तब वे कहाँ, किसके पास जाते हैं; आप यह भी देखेंगे कि लोग क़ानूनों का पालन करने के लिए मजबूर होते हुए भी ऐसे क़ानून का विरोध करने से भी नहीं हिचकते थे जिसे वे अन्यायपूर्ण समझते थे। ऐसा करते समय लोग यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न करते थे कि क़ानून किस प्रकार लागू किए जाने चाहिए, और इस प्रकार वे उनके परिणामों में कुछ फेर-बदल कर देते थे।

आप उन स्रोतों के बारे में भी जान पाएँगे जो हमें इन इतिहासों के बारे में बताते हैं साथ ही इन समस्याओं के बारे में भी जो इतिहासकारों के सामने इस संबंध में उपस्थित होती हैं। आप राजस्व अभिलेखों और सर्वेक्षणों, पत्र-पत्रिकाओं तथा सर्वेक्षकों एवं यात्रियों द्वारा छोड़े गए विवरणों और जाँच आयोगों द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्टों के बारे में भी पढ़ेंगे।

चित्र 10.1
कपास गाँव से मंडी ले जाई जा रही है। यह चित्र 20 अप्रैल 1861 के 'लंदन न्यूज' में प्रकाशित हुआ था।

1. बंगाल और वहाँ के ज़मींदार

जैसा कि आप जानते हैं, औपनिवेशिक शासन सर्वप्रथम बंगाल में स्थापित किया गया था। यही वह प्रांत था जहाँ पर सबसे पहले ग्रामीण समाज को पुनर्व्यवस्थित करने और भूमि संबंधी अधिकारों की नयी व्यवस्था तथा एक नयी राजस्व प्रणाली स्थापित करने के प्रयत्न किए गए थे। आइए, यह देखें कि कंपनी शासन के प्रारंभिक वर्षों में बंगाल में क्या हुआ।

1.1 बर्दवान में की गई नीलामी की एक घटना

सन् 1797 में बर्दवान (आज के बर्द्धमान) में एक नीलामी की गई। यह एक बड़ी सार्वजनिक घटना थी। बर्दवान के राजा द्वारा धारित अनेक महाल (भूसंपदाएँ) बेचे जा रहे थे। सन् 1793 में इस्तमरारी बंदोबस्त लागू हो गया था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने राजस्व की राशि निश्चित कर दी थी जो प्रत्येक ज़मींदार को अदा करनी होती थी। जो ज़मींदार अपनी निश्चित राशि नहीं चुका पाते थे उनसे राजस्व वसूल करने के लिए उनकी संपदाएँ नीलाम कर दी जाती थीं। चूँकि बर्दवान के राजा पर राजस्व की बड़ी भारी रकम बकाया थी, इसलिए उसकी संपदाएँ नीलाम की जाने वाली थीं।

'राजा' शब्द का प्रयोग अकसर शक्तिशाली ज़मींदारों के लिए किया जाता था।

नीलामी में बोली लगाने के लिए अनेक ख़रीददार आए थे और संपदाएँ (महाल) सबसे ऊँची बोली लगाने वाले को बेच दी गईं। लेकिन कलेक्टर को तुरंत ही इस सारी कहानी में एक अजीब पेंच दिखाई दे गया। उसे जानने में आया कि उनमें से अनेक ख़रीददार, राजा के अपने ही नौकर या एजेंट थे और उन्होंने राजा की ओर से ही ज़मीनों को ख़रीदा था। नीलामी में 95 प्रतिशत से अधिक बिक्री फ़र्जी थी। वैसे तो राजा की ज़मीनें खुलेतौर पर बेच दी गई थीं पर उनकी ज़मींदारी का नियंत्रण उसी के हाथों में रहा था।

राजा कंपनी को राजस्व क्यों नहीं अदा कर पाया था? नीलामी में ख़रीददार कौन थे? यह कहानी उस समय पूर्वी भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में क्या हो रहा था, इसके बारे में हमें क्या बताती है?

चित्र 10.2
बर्दवान के राजा का डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता स्थित राजमहल
19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों तक बंगाल के बहुत से धनी ज़मींदारों ने अपने लिए सुंदर विशाल स्तंभों वाले राजमहल बनवा लिए थे जिनमें नृत्यकक्ष, बड़े-बड़े मैदान, शानदार प्रवेश द्वार थे।

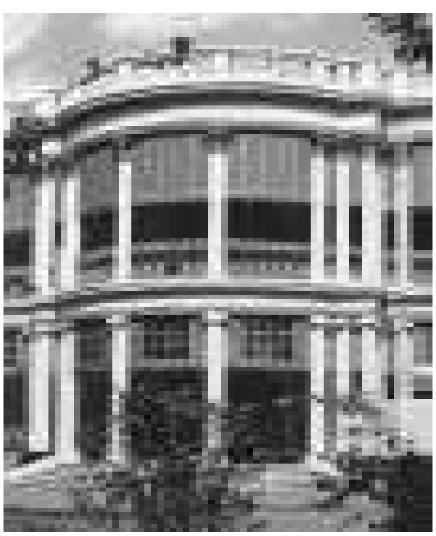

1.2 अदा न किए गए राजस्व की समस्या

अकेले बर्दवान राज की ज़मीनें ही ऐसी संपदाएँ नहीं थीं जो अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में बेची गई थीं। इस्तमरारी बंदोबस्त लागू किए जाने के बाद 75 प्रतिशत से अधिक ज़मींदारियाँ हस्तांतरित कर दी गई थीं।

ब्रिटिश अधिकारी यह आशा करते थे कि इस्तमरारी बंदोबस्त लागू किए जाने से वे सभी समस्याएँ हल हो जाएँगी जो बंगाल की विजय के समय से ही उनके समक्ष उपस्थित हो रही थीं। 1770 के दशक तक आते-आते, बंगाल की ग्रामीण अर्थव्यवस्था संकट के दौर से गुजरने लगी थी क्योंकि बार-बार अकाल पड़ रहे थे और खेती की पैदावार घटती जा रही थी। अधिकारी लोग ऐसा सोचते थे कि खेती, व्यापार और राज्य के राजस्व संसाधन सब तभी विकसित किए जा सकेंगे जब कृषि में निवेश

को प्रोत्साहन दिया जाएगा और ऐसा तभी किया जा सकेगा जब संपत्ति के अधिकार प्राप्त कर लिए जाएँगे और राजस्व माँग की दरों को स्थायी रूप से तय कर दिया जाएगा। यदि राज्य (सरकार) की राजस्व माँग स्थायी रूप से निर्धारित कर दी गई तो कंपनी राजस्व की नियमित प्राप्ति की आशा कर सकेगी और उद्यमकर्ता भी अपने पूँजी-निवेश से एक निश्चित लाभ कमाने की उम्मीद रख सकेंगे, क्योंकि राज्य अपने दावे में वृद्धि करके लाभ की राशि नहीं छीन सकेगा। अधिकारियों को यह आशा थी कि इस प्रक्रिया से छोटे किसानों (योमॅन) और धनी भूस्वामियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो जाएगा जिसके पास कृषि में सुधार करने के लिए पूँजी और उद्यम दोनों होंगे। उन्हें यह भी उम्मीद थी कि ब्रिटिश शासन से पालन-पोषण और प्रोत्साहन पाकर, यह वर्ग कंपनी के प्रति वफ़ादार बना रहेगा।

लेकिन समस्या यह पता लगाने की थी कि वे कौन से व्यक्ति हैं जो कृषि में सुधार करने के साथ-साथ राज्य को निर्धारित राजस्व अदा करने का ठेका ले सकेंगे। कंपनी के अधिकारियों के बीच परस्पर लंबे वाद-विवाद के बाद, बंगाल के राजाओं और ताल्लुकदारों के साथ इस्तमरारी बंदोबस्त लागू किया गया। अब उन्हें ज़मींदारों के रूप में वर्गीकृत किया गया और उन्हें सदा के लिए एक निर्धारित राजस्व माँग को अदा करना था। इस परिभाषा के अनुसार, ज़मींदार गाँव में भू-स्वामी नहीं था, बल्कि वह राज्य का राजस्व समाहर्ता यानी (संग्राहक) मात्र था।

ज़मींदारों के नीचे अनेक (कभी-कभी तो 400 तक) गाँव होते थे। कंपनी के हिसाब से, एक ज़मींदारी के भीतर आने वाले गाँव मिलाकर एक राजस्व संपदा का रूप ले लेते थे। कंपनी समस्त संपदा पर कुल माँग निर्धारित करती थी। तदोपरांत, ज़मींदार यह निर्धारित करता था कि भिन्न-भिन्न गाँवों से राजस्व की कितनी-कितनी माँग पूरी करनी होगी, और फिर ज़मींदार उन गाँवों से निर्धारित राजस्व राशि इकट्ठी करता था। ज़मींदार से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह कंपनी को नियमित रूप से राजस्व राशि अदा करेगा और यदि वह ऐसा नहीं करेगा वो उसकी संपदा नीलाम की जा सकेगी।

1.3 राजस्व राशि के भुगतान में ज़मींदार क्यों चूक करते थे?

कंपनी के अधिकारियों का यह सोचना था कि राजस्व माँग निर्धारित किए जाने से ज़मींदारों में सुरक्षा का भाव उत्पन्न होगा, और वे अपने निवेश पर प्रतिफल प्राप्ति की आशा से प्रेरित होकर अपनी संपदाओं में सुधार करने के लिए प्रोत्साहित होंगे। किंतु इस्तमरारी बंदोबस्त के बाद, कुछ प्रारंभिक दशकों में ज़मींदार अपनी राजस्व माँग को अदा करने में बराबर कोताही करते रहे, जिसके परिणामस्वरूप राजस्व की बकाया रकमें बढ़ती गईं।

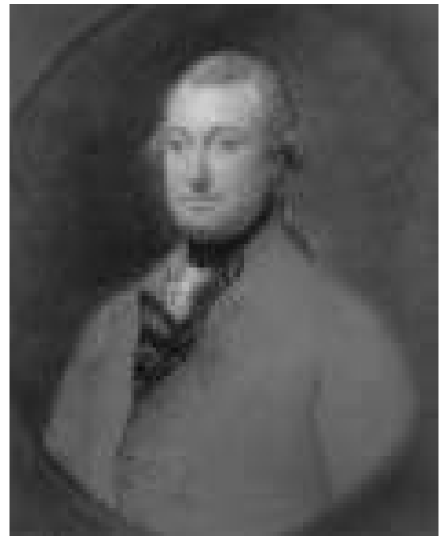

चित्र 10.3
चार्ल्स कार्नवालिस (1738-1805) का 1785 में थॉमस गेन्सबोरो द्वारा चित्रित चित्र।
अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम के दौरान कार्नवालिस ब्रिटिश सेना का कमांडर था। जब 1793 में बंगाल में इस्तमरारी बंदोबस्त लागू किया गया, उस समय कार्नवालिस बंगाल का गवर्नर जनरल था।

'ताल्लुक़दार' का शब्दिक अर्थ है वह व्यक्ति जिसके साथ ताल्लुक़ यानी संबंध हो। आगे चलकर ताल्लुक़ का अर्थ क्षेत्रीय इकाई हो गया।

ज़मींदारों की इस असफलता के कई कारण थे। पहला : प्रारंभिक माँगें बहुत ऊँची थीं, क्योंकि ऐसा महसूस किया गया था कि यदि माँग को आने वाले संपूर्ण समय के लिए निर्धारित किया जा रहा है तो आगे चलकर कीमतों में बढ़ोतरी होने और खेती का विस्तार होने से आय में वृद्धि हो जाने पर भी कंपनी उस वृद्धि में अपने हिस्से का दावा कभी नहीं कर सकेगी। इस प्रत्याशित हानि को कम-से-कम स्तर पर रखने के लिए, कंपनी ने राजस्व माँग को ऊँचे स्तर पर रखा, और इसके लिए दलील दी कि ज्यों-ज्यों कृषि के उत्पादन में वृद्धि होती जाएगी और कीमतें बढ़ती जाएँगी, ज़मींदारों का बोझ शनैः शनैः कम होता जाएगा।

दूसरा : यह ऊँची माँग 1790 के दशक में लागू की गई थी जब कृषि की उपज की कीमतें नीची थीं, जिससे रैयत (किसानों) के लिए, ज़मींदार को उनकी देय राशियाँ चुकाना मुश्किल था। जब ज़मींदार स्वयं किसानों से राजस्व इकट्ठा नहीं कर सकता था तो वह आगे कंपनी को अपनी निर्धारित राजस्व राशि कैसे अदा कर सकता था? तीसरा : राजस्व असमान था, फ़सल अच्छी हो या ख़राब राजस्व का ठीक समय पर भुगतान ज़रूरी था। वस्तुतः सूर्यास्त विधि (कानून) के अनुसार, यदि निश्चित तारीख़ को सूर्य अस्त होने तक भुगतान नहीं आता था तो ज़मींदारी को नीलाम किया जा सकता था। चौथा : इस्तमरारी बंदोबस्त ने प्रारंभ में ज़मींदार की शक्ति को रैयत से राजस्व इकट्ठा करने और अपनी ज़मींदारी का प्रबंध करने तक ही सीमित कर दिया था।

'रैयत' शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ों के विवरणों में किसानों के लिए किया जाता था (अध्याय-8)। बंगाल में रैयत ज़मीन को खुद काश्त नहीं करते थे, बल्कि 'शिकमी-रैयत' को आगे पट्टे पर दे दिया करते थे।

कंपनी ज़मींदारों को पूरा महत्त्व तो देती थी पर वह उन्हें नियंत्रित तथा विनियमित करना, उनकी सत्ता को अपने वश में रखना और उनकी स्वायत्तता को सीमित करना भी चाहती थी। फलस्वरूप ज़मींदारों की सैन्य-टुकड़ियों को भंग कर दिया गया, सीमा शुल्क समाप्त कर दिया गया और उनकी कचहरियों को कंपनी द्वारा नियुक्त कलेक्टर की देखरेख में रख दिया गया। ज़मींदारों से स्थानीय न्याय और स्थानीय पुलिस की व्यवस्था करने की शक्ति छीन ली गई। समय के साथ-साथ, कलेक्टर का कार्यालय सत्ता के एक विकल्पी केंद्र के रूप में उभर आया और ज़मींदार के अधिकार को पूरी तरह सीमित एवं प्रतिबंधित कर दिया गया। एक मामले में तो यहाँ तक हुआ कि जब राजा राजस्व का भुगतान नहीं कर सका तो एक कंपनी अधिकारी को तुरंत इस स्पष्ट अनुदेश के साथ उसकी ज़मींदारी में भेज दिया गया कि "ज़िले का पूरा कार्यभार अपने हाथ में ले लो और राजा तथा उसके अधिकारियों के संपूर्ण प्रभाव और प्राधिकार को ख़त्म कर देने के लिए सर्वाधिक प्रभावशाली क़दम उठाओ।"

राजस्व इकट्ठा करने के समय, ज़मींदार का एक अधिकारी जिसे आमतौर *पर अमला* कहते थे, गाँव में आता था। लेकिन राजस्व संग्रहण एक परिवार्षिक समस्या थी। कभी-कभी तो खराब फ़सल और नीची

कीमतों के कारण किसानों के लिए अपनी देय राशियों का भुगतान करना बहुत कठिन हो जाता था और कभी-कभी ऐसा भी होता था कि रैयत जान बूझकर भुगतान में देरी कर देते थे। धनवान रैयत और गाँव के मुखिया - *जोतदार और मंडल* - ज़मींदार को परेशानी में देखकर बहुत खुश होते थे। क्योंकि ज़मींदार आसानी से उन पर अपनी ताकत का इस्तेमाल नहीं कर सकता था। ज़मींदार बाक़ीदारों पर मुक़दमा तो चला सकता था, मगर न्यायिक प्रक्रिया लंबी होती थी। 1798 में अकेले बर्दवान ज़िले में ही राजस्व भुगतान के बक़ाया से संबंधित 30,000 से अधिक वाद लंबित थे।

1.4 जोतदारों का उदय

अठारहवीं शताब्दी के अंत में जहाँ एक ओर अनेक ज़मींदार संकट की स्थिति से गुजर रहे थे, वहीं दूसरी ओर धनी किसानों के कुछ समूह गाँवों में अपनी स्थिति मज़बूत करते जा रहे थे। फ्रांसिस बुकानन के उत्तरी बंगाल के दिनाजपुर जिले के सर्वेक्षण में हमें धनी किसानों के इस वर्ग का, जिन्हें 'जोतदार' कहा जाता था, विशद विवरण देखने को मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों तक आते-आते, जोतदारों ने ज़मीन के बड़े-बड़े रकबे, जो कभी-कभी तो कई हज़ार एकड़ में फैले थे, अर्जित कर लिए थे। स्थानीय व्यापार और साहूकार के कारोबार पर भी उनका नियंत्रण था और इस प्रकार वे उस क्षेत्र के ग़रीब काश्तकारों पर व्यापक शक्ति का प्रयोग करते थे। उनकी ज़मीन का काफ़ी बड़ा भाग बटाईदारों (अधियारों या बरगादारों) के माध्यम से जोता जाता था, जो खुद अपने हल लाते थे, खेत में मेहनत करते थे और फ़सल के बाद उपज का आधा हिस्सा जोतदारों को दे देते थे।

चित्र 10.4
बंगाल के गाँव का दृश्य; जॉर्ज चिनरी द्वारा 1820 में चित्रित।

चिनरी भारत में 23 वर्ष (1802-25) तक रहा था। उस दौरान उसने अनेक चित्र बनाए थे जिनमें आम लोगों के जनजीवन से संबंधित चित्र, भूदृश्यों के चित्र, विशिष्ट व्यक्तियों तथा विशाल भवनों के चित्र शामिल थे। नीचे दी गई आकृति में ग्रामीण बंगाल के एक घर का चित्र दिया गया है; उन दिनों जोतदार और साहूकार लोग ऐसे ही घरों में रहा करते थे।

गाँवों में, जोतोदारों की शक्ति, ज़मींदारों की ताक़त की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती थी। ज़मींदार के विपरीत जो शहरी इलाक़ों में रहते थे, जोतदार गाँवों में ही रहते थे और ग़रीब ग्रामवासियों के काफ़ी बड़े वर्ग पर सीधे अपने नियंत्रण का प्रयोग करते थे। ज़मींदारों द्वारा गाँव की *जमा* (लगान) को बढ़ाने के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों का वे घोर प्रतिरोध करते थे; ज़मींदारी अधिकारियों को अपने कर्तव्यों का पालन करने से रोकते थे; जो रैयत उन पर निर्भर रहते थे उन्हें वे अपने पक्ष में एकजुट रखते थे और ज़मींदार को राजस्व के भुगतान में जान-बूझकर देरी करा देते थे। सच तो यह है कि जब राजस्व का भुगतान न किए जाने पर ज़मींदार की

स्रोत 1

दिनाजपुर के जोतदार

बुकानन ने बताया है कि उत्तरी बंगाल के दिनाजपुर ज़िले के जोतदार किस प्रकार ज़मींदार के अनुशासन का प्रतिरोध और उसकी शक्ति की अवहेलना किया करते थे :

भूस्वामी इस वर्ग के लोगों को पसंद नहीं करते थे, लेकिन यह स्पष्ट है कि इन लोगों का होना बहुत ज़रूरी था क्योंकि इनके बिना, ज़रूरतमंद काश्तकारों को पैसा उधार कौन देता...

जोतदार, जो बड़ी-बड़ी ज़मीनें जोतते हैं, बहुत ही हठीले और ज़िद्दी हैं और यह जानते हैं कि ज़मींदारों का उन पर कोई वश नहीं चलता। वे तो अपने राजस्व के रूप में कुछ थोड़े से रुपये ही दे देते हैं और लगभग हर किस्त में कुछ-न-कुछ बक़ाया रक़म रह जाती है। उनके पास उनके पट्टे की हकदारी से ज़्यादा ज़मीनें हैं। ज़मींदार की रक़म के कारण, अगर अधिकारी उन्हें कचहरी में बुलाते थे और उन्हें डराने-धमकाने के लिए घंटे-दो-घंटे कचहरी में रोक लेते हैं तो वे तुरंत उनकी शिकायत करने के लिए फ़ौजदारी थाना (पुलिस थाना) या मुन्सिफ़ की कचहरी में पहुँच जाते हैं और कहते हैं कि ज़मींदार के कारिंदों ने उनका अपमान किया है। इस प्रकार राजस्व की बक़ाया रक़मों के मामलें बढ़ते जाते हैं और जोतदार छोटे-छोटे रैयत को राजस्व न देने के लिए भड़काते रहते हैं...

➲ यह बताइए कि *जोतदार* ज़मींदारों की सत्ता का किस प्रकार प्रतिरोध किया करते थे।

ज़मींदारी को नीलाम किया जाता था तो अकसर जोतदार ही उन ज़मीनों को ख़रीद लेते थे।

उत्तरी बंगाल में जोतदार सबसे अधिक शक्तिशाली थे, हालांकि धनी किसान और गाँव के मुखिया लोग भी बंगाल के अन्य भागों के देहाती इलाक़ों में प्रभावशाली बनकर उभर रहे थे। कुछ जगहों पर उन्हें '*हवलदार*' कहा जाता था और कुछ अन्य स्थानों पर वे *गाँटीदार* (Gantidars) या '*मंडल*' कहलाते थे। उनके उदय से ज़मींदारों के अधिकार का कमज़ोर पड़ना अवश्यंभावी था।

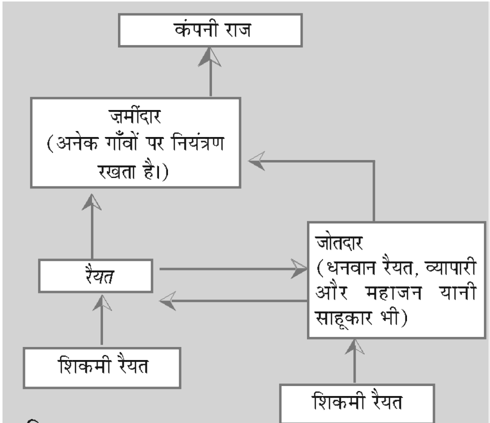

चित्र 10.5
ग्रामीण बंगाल में शक्ति के धारक

- ज़मींदार (क) कंपनी को राजस्व अदा करने के लिए, (ख) गाँवों पर राजस्व संबंधी माँग (जमा) निर्धारित करने के लिए जिम्मेदार थे।
- गाँव का प्रत्येक छोटा या बड़ा रैयत, ज़मींदार को लगान अदा करता था।
- *जोतदार अन्य रैयतों को उधार देते थे और अपनी उपज बेचते थे।*
- *रैयत कुछ ज़मीन खुद जोतते थे और बाकी ज़मीन शिकमी रैयत को लगान पर दे देते थे।*
- शिकमी रैयत, रैयतों को लगान देते थे।

➲ चित्र 10.5 के साथ दिए गए पाठ को सावधानीपूर्वक पढ़िए और तीर के निशानों के साथ-साथ उपयुक्त स्थलों पर ये शब्द भरिए : लगान, राजस्व, ब्याज, उधार (ऋण), उपज।

1.5 ज़मींदारों की ओर से प्रतिरोध

किंतु, ग्रामीण क्षेत्रों में ज़मींदारों की सत्ता समाप्त नहीं हुई। राजस्व की अत्यधिक माँग और अपनी भू-संपदा की संभावित नीलामी की समस्या से निपटने के लिए ज़मींदारों ने इन दबावों से उबरने के रास्ते निकाल लिए। नए संदर्भों में नयी रणनीतियाँ बना ली गईं।

फ़र्ज़ी बिक्री एक ऐसी ही तरक़ीब थी। इसमें कई तरह के हथकंडे अपनाए जाते थे। बर्दवान के राजा ने पहले तो अपनी ज़मींदारी का कुछ हिस्सा अपनी माता को दे दिया क्योंकि कंपनी ने यह निर्णय ले रखा था कि स्त्रियों की संपति को नहीं छीना जाएगा। फिर दूसरे क़दम के तौर पर उसके एजेंटों ने नीलामी की प्रक्रिया में जोड़-तोड़ किया। कंपनी की राजस्व माँग को जान-बूझकर रोक लिया गया और भुगतान न की गई बक़ाया राशि बढ़ती गई। जब भू-संपदा का कुछ हिस्सा नीलाम किया गया तो ज़मींदार के आदमियों ने ही अन्य ख़रीददारों के मुक़ाबले ऊँची-ऊँची बोलियाँ लगाकर संपत्ति को ख़रीद लिया। आगे चलकर उन्होंने ख़रीद की राशि को अदा करने से इनकार कर दिया, इसलिए

उस भूसंपदा को फिर से बेचना पड़ा। एक बार फिर ज़मींदार के एजेंटों ने ही उसे ख़रीद लिया और फिर एक बार ख़रीद की रक़म नहीं अदा की गई और इसलिए एक बार फिर नीलामी करनी पड़ी। यह प्रक्रिया बार-बार दोहराई जाती रही और अंततोगत्वा राज और नीलामी के समय बोली लगाने वाले थक गए। जब किसी ने भी बोली नहीं लगाई तो उस संपदा को नीची क़ीमत पर फिर ज़मींदार को ही बेचना पड़ा। ज़मींदार कभी भी राजस्व की पूरी माँग नहीं अदा करता था; इस प्रकार कंपनी कभी-कभार ही किसी मामले में इकट्ठी हुई बकाया राजस्व की राशियों को वसूल कर पाती थी।

ऐसे सौदे बड़े पैमाने पर हुए। सन् 1793 से 1801 के बीच, बंगाल की चार बड़ी ज़मींदारियों ने, जिनमें बर्दवान की ज़मींदारी भी एक थी, अनेक *बेनामी* ख़रीददारियाँ कीं जिनसे कुल मिलाकर 30 लाख रुपये की प्राप्ति हुई। नीलामियों में की गई कुल बिक्रियों में से 15 प्रतिशत सौदे नक़ली थे।

ज़मींदार लोग और भी कई तरीकों से अपनी ज़मींदारी को छिनने से बचा लेते थे। जब कोई बाहरी व्यक्ति नीलामी में कोई ज़मीन ख़रीद लेते थे तभी उन्हें हर मामले में उसका क़ब्ज़ा नहीं मिलता था। कभी-कभी तो पुराने ज़मींदार के 'लठियाल' नए ख़रीददार के लोगों को मारपीटकर भगा देते थे और कभी-कभी तो ऐसा भी होता था कि पुराने रैयत बाहरी लोगों को यानी नए ख़रीददार के लोगों को ज़मीन में घुसने ही नहीं देते थे। वे अपने आपको पुराने ज़मींदार से जुड़ा हुआ महसूस करते थे और उसी के प्रति वफ़ादार बने रहते थे और यह मानते थे कि पुराना ज़मींदार ही उनका अन्नदाता है और वे उसकी प्रजा हैं। ज़मींदारी की बिक्री से उनके तादात्म्य और गौरव को धक्का पहुँचता था। इसलिए ज़मींदार आसानी से विस्थापित नहीं किए जा सकते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में कीमतों में मंदी की स्थिति समाप्त हो गई। इसलिए, जो ज़मींदार 1790 के दशक की तकलीफ़ों को झेलने में सफल हो गए, उन्होंने अपनी सत्ता को सुदृढ़ बना लिया। राजस्व के भुगतान संबंधी नियमों को भी कुछ लचीला बना दिया गया। फलस्वरूप गाँवों पर ज़मींदार की सत्ता और अधिक मज़बूत हो गई लेकिन आगे चलकर 1930 के दशक की घोर मंदी की हालत में अंततः ज़मींदारों का भट्ठा बैठ गया और *जोतदारों* ने देहात में अपने पाँव मज़बूत कर लिए।

चित्र 10.6
महाराजा मेहताब चंद (1820-79)।
जब इस्तमरारी बंदोबस्त लागू किया गया था, तब तेजचंद, बर्दवान का राजा था। उसके बाद, मेहताबचंद के शासन में बर्दवान की ज़मींदारी काफ़ी फली-फूली। मेहताबचंद ने संथालों के विद्रोह और 1857 के विद्रोह के दौरान अंग्रेजी हुकूमत का साथ दिया था।

1.6 पाँचवीं रिपोर्ट

हम जिन परिवर्तनों पर चर्चा कर रहे हैं उनमें से बहुत से परिवर्तनों का विस्तृत विवरण एक रिपोर्ट में दिया गया है जो सन् 1813 में ब्रिटिश संसद में पेश की गई थी। यह उन रिपोर्टों में से पाँचवीं रिपोर्ट थी जो भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासन तथा क्रियाकलापों के विषय में तैयार की गई थी। अक्सर 'पाँचवीं रिपोर्ट' के नाम से उल्लिखित यह रिपोर्ट 1,002 पृष्ठों में थी। इसके 800 से अधिक पृष्ठ परिशिष्टों के थे जिनमें ज़मींदारों और रैयतों की अर्जियाँ, भिन्न-भिन्न जिलों के

कलेक्टरों की रिपोर्टें, राजस्व विवरणियों से संबंधित सांख्यिकीय तालिकाएँ और अधिकारियों द्वारा बंगाल और मद्रास के राजस्व तथा न्यायिक प्रशासन पर लिखित टिप्पणियाँ शामिल की गई थीं।

कंपनी ने 1760 के दशक के मध्य में जब से बंगाल में अपने आपको स्थापित किया था तभी से इंग्लैण्ड में उसके क्रियाकलापों पर बारीकी से नज़र रखी जाने लगी थी और उन पर चर्चा की जाती थी। ब्रिटेन में बहुत से ऐसे समूह भी थे जो भारत तथा चीन के साथ व्यापार पर ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार का विरोध करते थे। वे चाहते थे कि उस शाही फरमान को रद्द कर दिया जाए जिसके तहत इस कंपनी को यह एकाधिकार दिया गया था। ऐसे निजी व्यापारियों की संख्या बढ़ती जा रही थी जो भारत के साथ होने वाले व्यापार में हिस्सा लेना चाहते थे और ब्रिटेन के उद्योगपति ब्रिटिश विनिर्माताओं के लिए भारत का बाज़ार खुलवाने के लिए उत्सुक थे। कई राजनीतिक समूहों का तो यह कहना था कि बंगाल पर मिली विजय का लाभ केवल ईस्ट इंडिया कंपनी को ही मिल रहा है, संपूर्ण ब्रिटिश राष्ट्र को नहीं। कंपनी के कुशासन और अव्यवस्थित प्रशासन के विषय में प्राप्त सूचना पर ब्रिटेन में गरमागरम बहस छिड़ गई और कंपनी के अधिकारियों के लोभ-लालच और भ्रष्टाचार की घटनाओं को ब्रिटेन के समाचारपत्रों में व्यापक रूप से उछाला गया। ब्रिटिश संसद ने भारत में कंपनी के शासन को विनियमित और नियंत्रित करने के लिए अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में अनेक अधिनियम पारित किए। कंपनी को बाध्य किया गया कि वह भारत के प्रशासन के विषय में नियमित रूप से अपनी रिपोर्ट भेजा करे और कंपनी के कामकाज की जाँच करने के लिए कई समितियाँ नियुक्त

बेनामी का शाब्दिक अर्थ '*गुमनाम*' है, हिंदी तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में इस शब्द का प्रयोग ऐसे सौदों के लिए किया जाता है जो किसी फ़र्जी या अपेक्षाकृत महत्त्वहीन व्यक्ति के नाम से किए जाते हैं और उनमें असली फ़ायदा पाने वाले व्यक्ति का नाम नहीं दिया जाता।

लठियाल, का शाब्दिक अर्थ है वह व्यक्ति जिसके पास लाठी या डंडा हो। ये ज़मींदार के लठैत यानी डंडेबाज पक्षधर होते थे।

चित्र 10.7
अंडुल राजमहल
ऐसे राजमहल एक युगांत को दर्शाने वाले अवशेष हैं। ज़मींदारों के रहन-सहन की पत्तनोन्मुख वैभवशाली जीवन शैली पर बनी सत्यजीत राय की प्रसिद्ध फिल्म '*जलशाघर*' की शूटिंग इसी अंडुल राजमहल में की गई थी।

की गईं। 'पाँचवीं रिपोर्ट' एक ऐसी ही रिपोर्ट है जो एक प्रवर समिति द्वारा तैयार की गई थी। यह रिपोर्ट भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के स्वरूप पर ब्रिटिश संसद में गंभीर वाद-विवाद का आधार बनी।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में ग्रामीण बंगाल में क्या हुआ इसके बारे में हमारी अवधारणा लगभग डेढ़ शताब्दी तक इस पाँचवीं रिपोर्ट के आधार पर ही बनती-सुधरती रही। पाँचवीं रिपोर्ट में उपलब्ध साक्ष्य बहुमूल्य हैं। लेकिन ऐसी की सरकारी रिपोर्टों को सावधानीपूर्वक पढ़ना और समझना चाहिए। हमें यह जानने की ज़रूरत है कि ये रिपोर्ट किसने और किस उद्देश्य से लिखी। वास्तव में आधुनिक शोधों से पता चलता है कि पाँचवीं रिपोर्ट में दिए गए तर्कों और साक्ष्यों को बिना किसी आलोचना के स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शोधकर्ताओं ने ग्रामीण बंगाल में औपनिवेशिक शासन के बारे में लिखने के लिए बंगाल के अनेक ज़मींदारों के अभिलेखागारों तथा ज़िलों के स्थानीय अभिलेखों की सावधानीपूर्वक जाँच की है। उनसे पता चलता है कि पाँचवीं रिपोर्ट लिखने वाले कंपनी के कुप्रशासन की आलोचना करने पर तुले हुए थे इसलिए पाँचवीं रिपोर्ट में परंपरागत ज़मींदारी सत्ता के पतन का वर्णन अतिरंजित है और जिस पैमाने पर ज़मींदार लोग अपनी ज़मीनें खोते जा रहे थे उसके बारे में भी बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है। जैसा कि हमने देखा है, जब जमींदारियाँ नीलाम की जाती थीं, तब भी ज़मींदार नए-नए हथकंडे अपनाकर अपनी ज़मींदारी को बचा लेते थे और बहुत कम मामलों में विस्थापित होते थे।

स्रोत 2

पाँचवीं रिपोर्ट से उद्धृत

ज़मींदारों की हालत और ज़मीनों की नीलामी के बारे में पाँचवीं रिपोर्ट में कहा गया है :

राजस्व समय पर नहीं वसूल किया जाता था और काफ़ी हद तक ज़मीनें समय-समय पर नीलामी पर बेचने के लिए रखी जाती थीं। स्थानीय वर्ष 1203, तदनुसार सन् 1796-97 में बिक्री के लिए विज्ञापित ज़मीन की निर्धारित राशि (जुम्मा) 28,70,061 सिक्का रु. थी और वह वास्तव में 17,90,416 रु. में बेची गई और 14,18,756 रु. की राशि जुम्मा के रूप में प्राप्त हुई। स्थानीय संवत 1204, तदनुसार सन् 1797-98 में 26,66,191 सिक्का रु. के लिए ज़मीन विज्ञापित की गई, 22,74,076 सिक्का रु॰ की ज़मीन बेची गई और क्रय राशि 21,47,580 सिक्का रु. थी। बाकीदारों में कुछ लोग देश के बहुत पुराने परिवारों में से थे। ये थे : नदिया, राजशाही, विशनपुर (सभी बंगाल के ज़िले) आदि के राजा...। साल दर साल उनकी जागीरों के टूटते जाने से उनकी हालत बिगड़ गई। उन्हें ग़रीबी और बरबादी का सामना करना पड़ा और कुछ मामलों में तो सार्वजनिक निर्धारण की राशि को यथावत बनाए रखने के लिए राजस्व अधिकारियों को भी काफ़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं।

➲ जिस लहज़े में साक्ष्य अभिलिखित किया गया है, उससे आप रिपोर्ट में वर्णित तथ्यों के प्रति रिपोर्ट लिखने वाले के रुख़ के बारे में क्या सोचते हैं? आंकड़ों के ज़रिये रिपोर्ट में क्या दर्शाने की कोशिश की गई है? क्या इन दो वर्षों के आंकड़ों से आपके विचार से, किसी भी समस्या के बारे में दीर्घकालीन निष्कर्ष निकालना संभव होगा?

➲ चर्चा कीजिए...

आपने ज़मींदारों के हाल के बारे में अभी जो कुछ पढ़ा है उसकी तुलना अध्याय-8 में दिए गए विवरण से कीजिए।

2. कुदाल और हल

आइए अब हम अपना ध्यान बंगाल की गीली ज़मीनों से हटाकर सूखे अंचलों पर और स्थायी कृषि के क्षेत्र से हटाकर झूम कृषि के क्षेत्र पर केंद्रित करें। आप उन परिवर्तनों को देखेंगे जो कृषक अर्थव्यवस्था की सीमाओं के बाहर की ओर विस्तार होने से आए, जिससे राजमहल की पहाड़ियों के इलाक़े में स्थित जंगल और चरागाह उस अर्थव्यवस्था में समा गए। आप यह भी देखेंगे कि इन परिवर्तनों के कारण इस क्षेत्र के भीतर तरह-तरह के झगड़े-झंझट कैसे उत्पन्न हुए।

2.1 राजमहल की पहाड़ियों में

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में, बुकानन ने राजमहल की पहाड़ियों का दौरा किया था। उसके वर्णन के अनुसार ये पहाड़ियाँ अभेद्य लगती थीं। यह एक ऐसा ख़तरनाक इलाक़ा था जहाँ बहुत कम यात्री जाने की हिम्मत करते थे। बुकानन जहाँ कहीं भी गया, वहाँ उसने निवासियों के व्यवहार को शत्रुतापूर्ण पाया। वे लोग कंपनी के अधिकारियों के प्रति आशंकित थे और उनसे बातचीत करने को तैयार नहीं थे। कई उदाहरणों में तो वे अपने घर-बार और गाँव छोड़कर भाग गए थे।

ये पहाड़ी लोग कौन थे? वे बुकानन के दौरे के प्रति इतने आशंकित क्यों थे? बुकानन की पत्रिका में हमें उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में इन लोगों की जो तरस खाने वाली हालत थी उसकी झलक मिलती है। उन स्थानों के बारे में उसने डायरी लिखी थी, जहाँ-जहाँ उसने भ्रमण किया था, लोगों से मुलाक़ात की थी और उनके रीति-रिवाज़ों को देखा था। यह पत्रिका हमारे मस्तिष्क में अनेक प्रश्न खड़े करती है। किंतु यह हमेशा हमें उत्तर देने में सहायक नहीं होती है। उसकी यह डायरी समय के केवल एक क्षण-विशेष के बारे में ही बतलाती है, लोगों तथा स्थानों के लंबे इतिहास के बारे में नहीं बतलाती। ऐसे लंबे इतिहास के लिए इतिहासकारों को अन्य रिकार्डों की ओर मुड़ना होगा।

यदि हम अठारहवीं शताब्दी के परवर्ती दशकों के राजस्व अभिलेखों पर दृष्टिपात करें तो हम जान लेंगे कि इन पहाड़ी लोगों को पहाड़िया क्यों कहा जाता था। वे राजमहल की पहाड़ियों के इर्द-गिर्द रहा करते थे। वे जंगल की उपज से अपनी गुजर-बसर करते थे और झूम खेती किया करते थे। वे जंगल के छोटे-से हिस्से में झाड़ियों को काटकर और घास-फूँस को जलाकर ज़मीन साफ़ कर लेते थे और राख की पोटाश से उपजाऊ बनी ज़मीन पर ये पहाड़िया लोग अपने खाने के लिए तरह-तरह की दालें और ज्वार-बाजरा उगा लेते थे। वे अपने कुदाल से ज़मीन को थोड़ा खुरच लेते थे, कुछ वर्षों तक उस साफ़ की गई ज़मीन में खेती करते थे और फिर उसे कुछ वर्षों के लिए परती छोड़ कर नए इलाक़े में चले जाते थे जिससे कि उस ज़मीन में खोई हुई उर्वरता फिर से उत्पन्न हो जाती थी।

बुकानन कौन था?

फ़्रांसिस बुकानन एक चिकित्सक था जो भारत आया और बंगाल चिकित्सा सेवा में (1794 से 1815 तक) कार्य किया। कुछ वर्षों तक, वह भारत के गवर्नर जनरल लार्ड बेलेज़्ली का शल्य-चिकित्सक रहा। कलकत्ता (वर्तमान में कोलकत्ता) के अपने प्रवास के दौरान उसने कलकत्ता में एक चिड़ियाघर की स्थापना की, जो कलकत्ता अलीपुर चिड़ियाघर कहलाया। वे थोड़े समय के लिए वानस्पतिक उद्यान के प्रभारी रहे। बंगाल सरकार के अनुरोध पर उन्होंने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार क्षेत्र में आने वाली भूमि का विस्तृत सर्वेक्षण किया। 1815 में वह बीमार हो गए और इंग्लैण्ड चले गए। अपनी माता की मृत्यु के पश्चात् वे उनकी जायदाद के वारिस बने और उन्होंने उनके वंश के नाम 'हैमितटन' को अपना लिया। इसलिए उन्हें अकसर बुकानन-हैमितटन भी कहा जाता है।

उन जंगलों से पहाड़िया लोग खाने के लिए *महुआ* के फूल इकट्ठे करते थे, बेचने के लिए रेशम के कोया और राल और काठकोयला बनाने के लिए लकड़ियाँ इकट्ठी करते थे। पेड़ों के नीचे जो छोटे-छोटे पौधे उग आते थे या परती ज़मीन पर जो घास-फूँस की हरी चादर-सी बिछ जाती थी वह पशुओं के लिए चरागाह बन जाती थी।

चित्र 10.8

राजमहल की पहाड़ियों में स्थित एक पहाड़ी गाँव का चित्र जो 1782 में विलियय होजेज द्वारा चित्रित किया गया था।

विलियम होजेज एक ब्रिटिश कलाकार था जो कैप्टेन कुक के साथ उसकी प्रशांत महासागर की दूसरी समुद्र यात्रा (1772-75) के दौरान प्रशांत क्षेत्र में गया था और वहाँ से भारत आया था। 1781 में वह भागलपुर के कलेक्टर ऑगस्टस क्लीवलैंड का मित्र बन गया था। क्लीवलैंड के निमंत्रण पर होजेज 1782 में उसके साथ जंगल महालों के भ्रमण पर गया था। वहाँ होजेज ने कई एक्वाटिंट तैयार किए थे। उस समय के अनेक चित्रकारों की तरह होजेज ने भी बड़े सुंदर-सुंदर रमणीय दृश्यों की खोज की थी। उस समय के चित्रोपम दृश्यों के खोजी कलाकार स्वच्छंदतावाद की विचारधारा से प्रेरित थे; इस विचारधारा के अंतर्गत प्रकृति की पूजा की जाती थी और उसके सौंदर्य एवं शक्ति की प्रशंसा की जाती थी। रूमानी कलाकार यह महसूस करते थे कि प्रकृति से संलाप संबंध बनाने के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार प्रकृति के निकट संपर्क में आए, अपने ग्राम गीतों में प्रकृति का चित्रण करे, आधुनिक कृत्रिम सभ्यता से दूषित न हो, अज्ञात भूदृश्यों को खोजे और छाया एवं प्रकाश के अलौकिक आनन्द का लाभ उठाए। प्रकृति के इन्हीं रहस्यों की खोज में ही होजेज ने राजमहल की पहाड़ियों का भ्रमण किया था। उसे समतल-सपाट भूखंड नीरस लगे, जबकि विविधतापूर्ण, ऊँची-नीची, उबड़-खाबड़ ज़मीन में सुंदरता के दर्शन हुए। औपनिवशिक अधिकारी जिन भूदृश्यों को भयंकर तथा उजाड़, उपद्रवी जंगली लोगों का निवास स्थल मानते थे, वे दृश्य होजेज की चित्रकारी में मनमोहक और रमणीय दिखाई देते हैं।

➲ ऊपर दिए गए चित्र को देखिए और यह पता लगाइए कि होजेज ने राजमहल की पहाड़ियों को किसलिए रमणीय माना था।

एक्वाटिंट (ताम्रपट्टोत्कीर्णन) एक ऐसी तसवीर होती है जो ताम्रपट्टी में अम्ल की सहायता से चित्र के रूप में कटाई करके छापी जाती है।

शिकारियों, झूम खेती करने वालों, खाद्य बटोरने वालों, काठकोयला बनाने वालों, रेशम के कीड़े पालने वालों के रूप में पहाड़िया लोगों की ज़िंदगी इस प्रकार जंगल से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई थी। वे इमली के पेड़ों के बीच बनी अपनी झोपड़ियों में रहते थे और आम के पेड़ों की छाँह में आराम करते थे। वे पूरे प्रदेश को अपनी निजी भूमि मानते थे और यह भूमि उनकी पहचान और जीवन का आधार थी। वे बाहरी लोगों के प्रवेश का प्रतिरोध करते थे। उनके मुखिया लोग अपने समूह में एकता बनाए रखते थे, आपसी लड़ाई-झगड़े निपटा देते थे और अन्य जनजातियों तथा मैदानी लोगों के साथ लड़ाई छिड़ने पर अपनी जनजाति का नेतृत्व करते थे।

चित्र 10.9
विलियम होजेज द्वारा चित्रित जंगल प्रदेश का एक दृश्य।
यहाँ आप जंगल से ढकी हुई नीची पहाड़ियाँ, और ऊँची चोटियाँ भी देख सकते हैं जो कहीं भी वास्तव में 2000 फुट से ऊँची नहीं हैं। बीच में खड़ी दुरूह पहाड़ियाँ दिखलाकर होजेज उनकी दुर्गमता पर बल देना चाहता है।

इन पहाड़ियों को अपना मूलाधार बनाकर, पहाड़िया लोग बराबर उन मैदानों पर आक्रमण करते रहते थे जहाँ किसान एक स्थान पर बस कर अपनी खेती-बाड़ी किया करते थे। पहाड़ियों द्वारा ये आक्रमण ज़्यादातर अपने आपको विशेष रूप से अभाव या अकाल के वर्षों में जीवित रखने के लिए किए जाते थे। साथ ही, ये हमले मैदानों में बसे हुए समुदायों पर अपनी ताक़त दिखलाने का भी एक तरीक़ा था। इसके अलावा, ऐसे आक्रमण बाहरी लोगों के साथ अपने राजनीतिक संबंध बनाने के लिए भी किए जाते थे। मैदानों में रहने वाले ज़मींदारों को अकसर इन पहाड़ी मुखियाओं को नियमित रूप से ख़िराज देकर उनसे शांति ख़रीदनी पड़ती थी। इसी प्रकार, व्यापारी लोग भी इन पहाड़ियों द्वारा नियंत्रित रास्तों का इस्तेमाल करने की अनुमति प्राप्त करने हेतु उन्हें कुछ पथकर दिया करते थे। जब ऐसा पथकर पहाड़िया मुखियाओं को मिल जाता था तो वे व्यापारियों की रक्षा करते थे और यह भी आश्वासन देते थे कि कोई भी उनके माल को नहीं लूटेगा।

➲ चित्र 10.8 और 10.9 को देखिए। इन चित्रों द्वारा जनजातीय मनुष्य और प्रकृति के बीच के संबंधों को किस प्रकार दर्शाया गया है; वर्णन कीजिए।

इस प्रकार कुछ ले-देकर की गई शांति संधि अधिक लंबे समय तक नहीं चली। यह अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में उस समय भंग हो गई जब स्थिर खेती के क्षेत्र की सीमाएँ आक्रामक रीति से पूर्वी भारत में बढ़ाई जाने लगीं। अंग्रेज़ों ने जंगलों की कटाई-सफ़ाई के काम को प्रोत्साहित किया और ज़मींदारों तथा जोतदारों ने परती भूमि को धान के खेतों में बदल दिया। अंग्रेज़ों के लिए स्थायी कृषि का विस्तार आवश्यक था क्योंकि उससे राजस्व के स्रोतों में वृद्धि हो सकती थी, निर्यात के लिए फ़सल पैदा हो सकती थी और एक स्थायी, सुव्यवस्थित समाज की स्थापना हो सकती थी। वे जंगलों को उजाड़ मानते थे और वनवासियों

को असभ्य, बर्बर, उपद्रवी और क्रूर समझते थे जिन पर शासन करना उनके लिए कठिन था। इसलिए उन्होंने यही महसूस किया कि जंगलों का सफ़ाया करके, वहाँ स्थायी कृषि स्थापित करनी होगी और जंगली लोगों को पालतू व सभ्य बनाना होगा; उनसे शिकार का काम छुड़वाना होगा और खेती का धंधा अपनाने के लिए उन्हें राज़ी करना होगा।

ज्यों-ज्यों स्थायी कृषि का विस्तार होता गया, जंगलों तथा चरागाहों का क्षेत्र संकुचित होता गया। इससे पहाड़ी लोगों तथा स्थायी खेतीहरों के बीच झगड़ा तेज़ हो गया। पहाड़ी लोग पहले से अधिक नियमित रूप से बसे हुए गाँवों पर हमले बोलने लगे और ग्रामवासियों से अनाज और पशु छीन-झपट कर ले जाने लगे। औपनिवेशिक अधिकारियों ने उत्तेजित होकर इन पहाड़ियों पर काबू की भरसक कोशिशें कीं परंतु उनके लिए ऐसा करना आसान नहीं था।

1770 के दशक में ब्रिटिश अधिकारियों ने इन पहाड़ियों को निर्मूल कर देने की क्रूर नीति अपना ली और उनका शिकार और संहार करने लगे। तदोपरांत, 1780 के दशक में भागलपुर के कलेक्टर ऑगस्टस क्लीवलैंड ने शांति स्थापना की नीति प्रस्तावित की जिसके अनुसार पहाड़िया मुखियाओं को एक वार्षिक भत्ता दिया जाना था और बदले में उन्हें अपने आदमियों का चाल-चलन ठीक रखने की जिम्मेदारी लेनी थी। उनसे यह भी आशा की गई थी कि वे अपनी बस्तियों में व्यवस्था बनाए रखेंगे और अपने लोगों को अनुशासन में रखेंगे। लेकिन बहुत से पहाड़िया मुखियाओं ने भत्ता लेने से मना कर दिया। जिन्होंने इसे स्वीकार किया उनमें से अधिकांश अपने समुदाय में अपनी सत्ता खो बैठे। औपनिवेशिक सरकार के वेतनभोगी बन जाने से उन्हें अधीनस्थ कर्मचारी या वैतनिक मुखिया माना जाने लगा।

जब शांति स्थापना के लिए अभियान चल रहे थे तभी पहाड़िया लोग अपने आपको शत्रुतापूर्ण सैन्यबलों से बचाने के लिए और बाहरी लोगों से लड़ाई चालू रखने के लिए पहाड़ों के भीतरी भागों में चले गए। इसलिए जब 1810-11 की सर्दियों में बुकानन ने इस क्षेत्र की यात्रा की थी तो यह स्वाभाविक ही था कि पहाड़िया लोग बुकानन को संदेह और अविश्वास की दृष्टि से देखते। शांति स्थापना के अभियानों के अनुभव और क्रूरतापूर्ण दमन की यादों के कारण उनके मन में यह धारणा बन गई थी कि उनके इलाक़े में ब्रिटिश लोगों की घुसपैठ का क्या असर होने वाला है। उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि प्रत्येक गोरा आदमी एक ऐसी शक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहा है जो उनसे उनके जंगल और ज़मीन छीन कर उनकी जीवन शैली और जीवित रहने के साधनों को नष्ट करने पर उतारू हैं।

वस्तुतः इन्हीं दिनों उन्हें एक नए खतरे की सूचनाएँ मिलने लगी थीं और वह था संथाल लोगों का आगमन। संथाल लोग वहाँ के जंगलों का सफ़ाया करते हुए, इमारती लकड़ी को काटते हुए, ज़मीन जोतते हुए और चावल तथा कपास उगाते हुए उस इलाक़े में बड़ी संख्या में घुसे चले आ रहे थे। चूँकि संथाल बाशिंदों ने निचली पहाड़ियों पर अपना क़ब्ज़ा

जमा लिया था, इसलिए पहाड़ियों को राजमहल की पहाड़ियों में और भीतर की ओर पीछे हटना पड़ा। पहाड़िया लोग अपनी झूम खेती के लिए कुदाल का प्रयोग करते थे; इसलिए यदि कुदाल को पहाड़िया जीवन का प्रतीक माना जाए तो हल को नए बाशिंदों (संथालों) की शक्ति का प्रतिनिधि मानना होगा। हल और कुदाल के बीच की यह लड़ाई बहुत लंबी चली।

2.2 संथाल : अगुआ बाशिंदे

सन् 1810 के अंत में, बुकानन ने गंजुरिया पहाड़, जो कि राजमहल शृंखलाओं का एक भाग था, को पार किया और आगे के चट्टानी प्रदेश के बीच से निकलकर वह एक गाँव में पहुँच गया। वैसे तो यह एक पुराना गाँव था पर उसके आस-पास की ज़मीन खेती करने के लिए अभी-अभी साफ़ की गई थी। वहाँ के भूदृश्य को देखकर उसे पता चला कि 'मानव श्रम के समुचित प्रयोग से' उस क्षेत्र की तो काया ही पलट गई है। उसने लिखा, "गंजुरिया में अभी-अभी काफ़ी जुताई की गई है जिससे यह पता चलता है कि इसे कितने शानदर इलाक़े में बदला जा सकता है। मैं सोचता हूँ, इसकी सुंदरता और समृद्धि विश्व के किसी भी क्षेत्र जैसी विकसित की जा सकती है। यहाँ की ज़मीन अलबत्ता चट्टानी है लेकिन बहुत ही ज़्यादा बढ़िया है और बुकानन ने उतनी बढ़िया तंबाकू और सरसों और कहीं नहीं देखीं। पूछने पर उसे पता चला कि वहाँ संथालों ने कृषि क्षेत्र की सीमाएँ काफ़ी बढ़ा ली थीं। वे इस इलाक़े में 1800 के आस-पास आए थे, उन्होंने वहाँ रहने वाले पहाड़ी लोगों को नीचे के ढालों पर भगा दिया, जंगलों का सफ़ाया किया और फिर वहाँ बस गए।

संथाल लोग राजमहल की पहाड़ियों में कैसे पहुँचे? संथाल 1780 के दशक के आस-पास बंगाल में आने लगे थे। ज़मींदार लोग खेती के लिए नयी भूमि तैयार करने और खेती का विस्तार करने के लिए उन्हें भाड़े पर रखते थे और ब्रिटिश अधिकारियों ने उन्हें जंगल महालों में बसने का

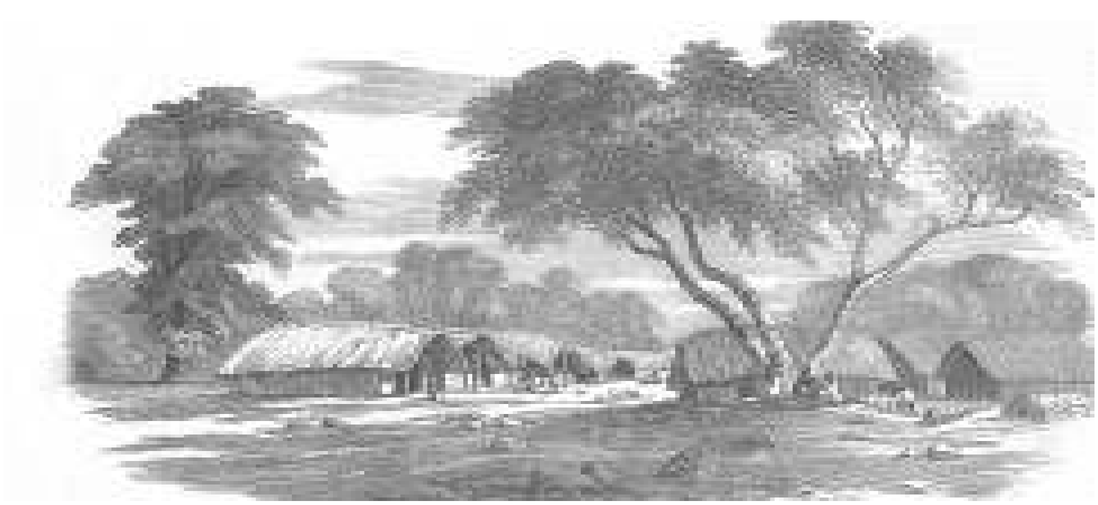

चित्र 10.10
संथाल प्रदेश में स्थित एक पहाड़ी ग्राम,
23 फ़रवरी 1856 के 'लंदन न्यूज़' में प्रकाशित चित्र।
राजमहल की निचली पहाड़ियों में स्थित गाँव का यह चित्र 1850 के दशक के प्रारंभ में वाल्टरशेरबिल द्वारा चित्रित किया गया था। यह गाँव शांतिपूर्ण, नीरव और रमणीय प्रतीत होता है। बाहरी दुनिया का इस पर कोई असर हुआ प्रतीत नहीं होता।

➲ चित्र 10.12 से इस संथाल गाँव के चित्र की तुलना कीजिए।

निमंत्रण दिया। जब ब्रिटिश लोग पहाड़ियों को अपने बस में करके स्थायी कृषि के लिए एक स्थान पर बसाने में असफल रहे तो उनका ध्यान संथालों की ओर गया। पहाड़िया लोग जंगल काटने के लिए हल को हाथ लगाने को तैयार नहीं थे और अब भी उपद्रवी व्यवहार करते थे। जबकि, इसके विपरीत, संथाल आदर्श बाशिंदे प्रतीत हुए, क्योंकि उन्हें जंगलों का सफ़ाया करने में कोई हिचक नहीं थी और वे भूमि को पूरी ताक़त लगाकर जोतते थे।

संथालों को ज़मीनें देकर राजमहल की तलहटी में बसने के लिए तैयार कर लिया गया। 1832 तक, ज़मीन के एक काफ़ी बड़े इलाक़े को दामिन-इ-कोह के रूप में सीमांकित कर दिया गया। इसे संथालों की भूमि घोषित कर दिया गया। उन्हें इस इलाके के भीतर रहना था, हल चलाकर खेती करनी थी और स्थायी किसान बनना था। संथालों को दी जाने वाली भूमि के अनुदान-पत्र में यह शर्त थी कि उनको दी गई भूमि के कम-से-कम दसवें भाग को साफ़ करके पहले दस वर्षों के भीतर जोतना था। इस पूरे क्षेत्र का सर्वेक्षण करके उसका नक्शा तैयार किया गया। इसके चारों ओर खंबे गाड़कर इसकी परिसीमा निर्धारित कर दी गई और इसे मैदानी इलाके के स्थायी कृषकों की दुनिया से और पहाड़िया लोगों की पहाड़ियों से अलग कर दिया गया।

दामिन-इ-कोह के सीमांकन के बाद, संथालों की बस्तियाँ बड़ी तेज़ी से बढ़ीं, संथालों के गाँवों की संख्या जो 1838 में 40 थी, तेज़ी से बढ़कर 1851 तक 1,473 तक पहुँच गई। इसी अवधि में, संथालों की जनसंख्या जो केवल 3,000 थी, बढ़कर 82,000 से भी अधिक हो गई। जैसे-जैसे खेती का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे कंपनी की तिजोरियों में राजस्व राशि में वृद्धि होती गई।

उन्नीसवीं शताब्दी के संथाल गीतों और मिथकों में उनकी यात्रा के लंबे इतिहास का बार-बार उल्लेख किया गया है: उनमें कहा गया है कि संथाल लोग अपने लिए बसने योग्य स्थान की खोज में बराबर बिना थके चलते ही रहते थे। अब यहाँ दामिन-इ-कोह में आकर मानो उनकी इस यात्रा को पूर्ण विराम लग गया।

जब संथाल राजमहल की पहाड़ियों पर बसे तो पहले पहाड़िया लोगों ने इसका प्रतिरोध किया पर अंततोगत्वा वे इन पहाड़ियों में भीतर की ओर चले जाने के लिए मजबूर कर दिए गए। उन्हें निचली पहाड़ियों तथा घाटियों में नीचे की ओर आने से रोक दिया गया और ऊपरी पहाड़ियों के चट्टानी और अधिक बंजर इलाकों तथा भीतरी शुष्क भागों तक सीमित कर दिया गया। इससे उनके रहन-सहन तथा जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ा और आगे चलकर वे गरीब हो गए। झूम खेती नयी-से-नयी ज़मीनें खोजने और भूमि की प्राकृतिक उर्वरता का उपयोग करने की क्षमता पर निर्भर रहती है। अब सर्वाधिक उर्वर ज़मीनें उनके लिए दुर्लभ हो गईं क्योंकि वे अब दामिन का हिस्सा बन

चुकी थीं। इसलिए पहाड़िया लोग खेती के अपने तरीके (झूम खेती) को आगे सफलतापूर्वक नहीं चला सके। जब इस क्षेत्र के जंगल खेती के लिए साफ़ कर दिए गए तो पहाड़िया शिकारियों को भी समस्याओं का सामना करना पड़ा। इसके विपरीत संथाल लोगों ने अपनी पहले वाली खानबदोश ज़िंदगी को छोड़ दिया था। अब वे एक जगह बस गए थे और बाज़ार के लिए कई तरह के वाणिज्यिक फ़सलों की खेती करने लगे थे और व्यापारियों तथा साहूकारों के साथ लेन-देन करने लगे थे।

चित्र 10.11
सिधू मांझी, संथाल विद्रोह का नेता

किंतु, संथालों ने भी जल्दी ही यह समझ लिया कि उन्होंने जिस भूमि पर खेती करनी शुरू की थी वह उनके हाथों से निकलती जा रही है। संथालों ने जिस ज़मीन को साफ़ करके खेती शुरू की थी उस पर सरकार (राज्य) भारी कर लगा रही थी, साहूकार (दिकू) लोग बहुत ऊँची दर पर ब्याज लगा रहे थे और कर्ज़ अदा न किए जाने की सूरत में ज़मीन पर ही कब्ज़ा कर रहे थे, और ज़मींदार लोग दामिन इलाके पर अपने नियंत्रण का दावा कर रहे थे।

1850 के दशक तक, संथाल लोग यह महसूस करने लगे थे कि अपने लिए एक आदर्श संसार का निर्माण करने के लिए, जहाँ उनका अपना शासन हो, ज़मींदारों, साहूकारों और औपनिवेशिक राज के

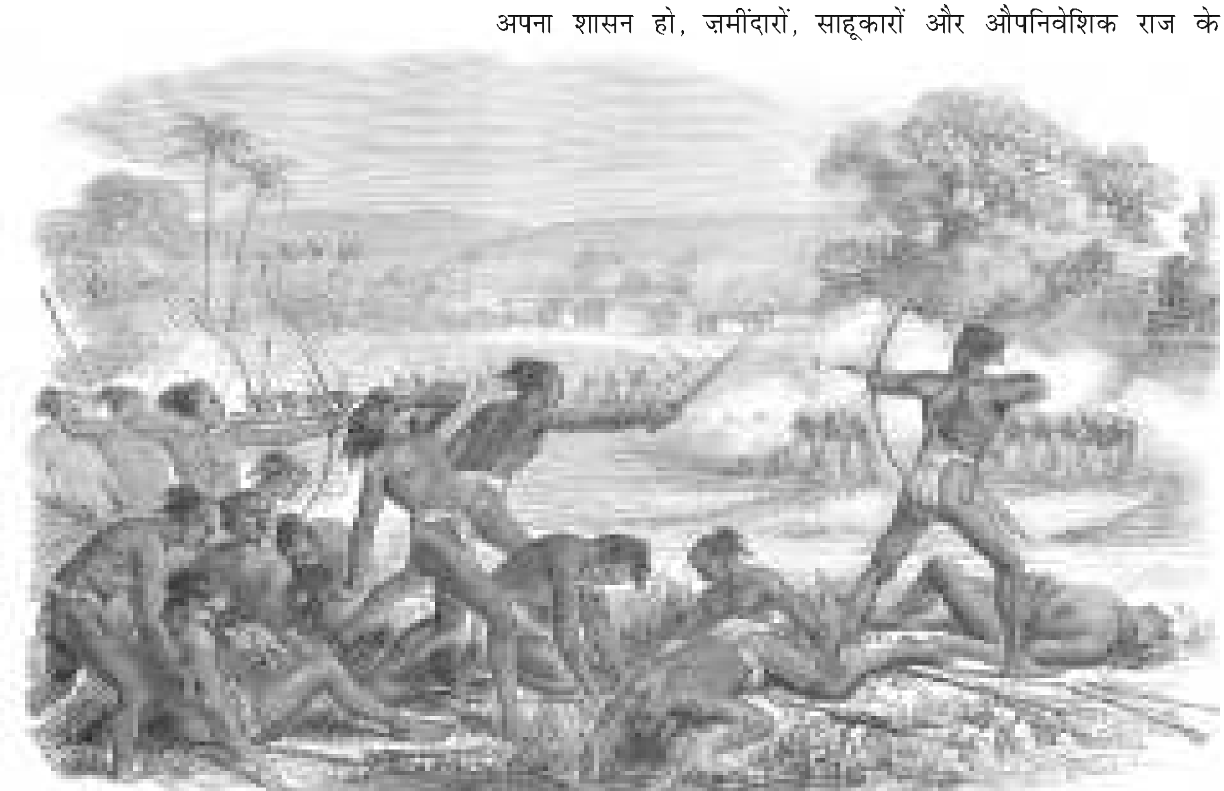

चित्र 10.12
संथाल, ब्रिटिश राज के सिपाहियों से युद्ध करते हुए। 23 फ़रवरी 1856 के *इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज़* में प्रकाशित चित्र। इस विद्रोह ने संथालों के प्रति ब्रिटिश धारणा को बदल दिया। जो गाँव पहले नीरव एवं शांत दिखाई देते थे (चित्र 10.10) अब नृशंस एवं बर्बरतापूर्ण कृत्यों के स्थान बन गए।

➲ कल्पना कीजिए कि आप 'इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज़' के पाठक हैं। चित्र 10.12, 10.13 और 10.14 में चित्रित दृश्यों के प्रति आपकी प्रतिक्रिया क्या होगी? इन चित्रों से आपके मन में संथालों की क्या-क्या छवि बनती है?

चित्र 10.13
संथालों के गाँव जल रहे है। 23 फ़रवरी 1856 के *इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज़* में प्रकाशित चित्र। विद्रोह कुचल दिए जाने के बाद, इलाके की छानबीन की गई, संदिग्ध व्यक्तियों को पकड़ लिया गया और गाँवों को आग लगा दी गई। जलते हुए गाँवों के चित्र ब्रिटेन में आम जनता को दिखाए गए, गर्वपूर्वक यह दर्शाने के लिए कि ब्रिटिश कितने शक्तिशाली हैं और उनमें विद्रोह को कुचल डालने और औपनिवेशिक व्यवस्था को थोपने की कितनी अधिक योग्यता है।

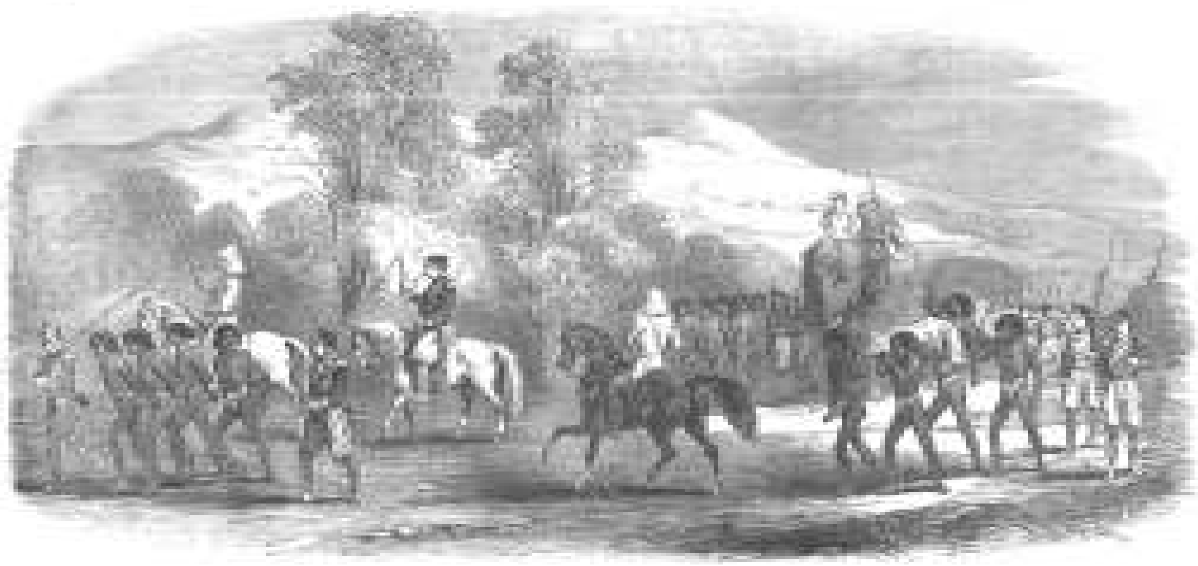

चित्र 10.14
संथाल कैदियों को ले जाया जा रहा है। इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज़, 1856
ध्यान दीजिए कि ऐसे चित्र किस प्रकार के राजनीतिक संदेश देते हैं। आप देख सकते हैं कि चित्र के बीचों-बीच ब्रिटिश अधिकारी विजयगर्वित होकर किस शान से हाथी पर सवार हैं। घोड़े पर बैठा हुआ एक अधिकारी हुक्का गुड़गुड़ा रहा है; यह तसवीर यह दिखलाती है कि परेशानी का समय ख़त्म हो गया है, विद्रोह कुचल दिया गया है। विद्रोही अब जंज़ीरों से बँधे जेल ले जाए जा रहे हैं कंपनी के सिपाही उन्हें चारों ओर से घेरे हुए है। इस तरह की तसवीरें, जिनमें ब्रिटिश हुकूमत को अजेय दर्शाया गया है, ब्रिटिश जनता को अपनी ताक़त के बारे में आश्वस्त करने के लिए पर्याप्त थीं।

स्रोत 3

संथालों के बारे में बुकानन के विचार

नयी ज़मीनें साफ़ करने में वे बहुत होशियार होते हैं लेकिन नीचता से रहते हैं। उनकी झोपड़ियों में कोई बाड़ नहीं होती और दीवारें सीधी खड़ी की गई छोटी-छोटी सटी हुई लकड़ियों की बनी होती हैं जिन पर भीतर की ओर लेप (पलस्तर) लगा होता है। झोपड़ियाँ छोटी और मैली-कुचैली होती हैं; उनकी छत सपाट होती हैं, उनमें उभार बहुत कम होता है।

स्रोत 4

कडुया के पास की चट्टानें

बुकानन की पत्रिका निम्नलिखित ऐसे प्रेक्षणों से भरी पड़ी है:

> आगे लगभग एक मील चलने के बाद में (मैं) चट्टानों के एक शिलाफलक पर आ गया; जिसका कोई यह एक छोटा दानेदार ग्रेनाइट है जिसमें लाल-लाल फेल्डस्पार, क्वार्ट्ज़ और काला अबरक लगा है... वहाँ से आधा मील से अधिक की दूरी पर मैं एक अन्य चट्टान पर आया वह भी स्तरहीन थी और उसमें बारीक दानों वाला ग्रेनाइट था जिसमें पीला-सा फेल्डस्पार, सफ़ेद-सा क्वार्ट्ज और काल, अबरक था।

विरुद्ध विद्रोह करने का समय अब आ गया है। 1855-56 के संथाल विद्रोह के बाद संथाल परगने का निर्माण कर दिया गया, जिसके लिए 5,500 वर्गमील का क्षेत्र भागलपुर और बीरभूम जिलों में से लिया गया। औपनिवेशिक राज को आशा थी कि संथालों के लिए नया परगना बनाने और उसमें कुछ विशेष क़ानून लागू करने से संथाल लोग संतुष्ट हो जाएँगे।

2.3 बुकानन का विवरण

हम बुकानन के विवरण को अपनी जानकारी का आधार मान रहे हैं। लेकिन उसकी रिपोर्टों को पढ़ते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का एक कर्मचारी था। उसकी यात्राएँ केवल भूदृश्यों के प्यार और अज्ञात की खोज से ही प्रेरित नहीं थीं। वह नक्शा नवीसों, सर्वेक्षकों, पालकी उठाने वालों कुलियों आदि के बड़े दल के साथ सर्वत्र यात्रा करता था। उसकी यात्राओं का खर्च ईस्ट इंडिया कंपनी उठाती थी क्योंकि उसे उन सूचनाओं की आवश्यकता थी जो बुकानन प्रत्याशित रूप से इकट्ठी करता था। बुकानन को यह साफ़-साफ़ हिदायत दी जाती थी कि उसे क्या देखना, खोजना और लिखना है। वह जब भी अपने लोगों की फ़ौज के साथ किसी गाँव में आता तो उसे तत्काल सरकार के एक एजेंट के रूप में ही देखा जाता था।

जब कंपनी ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ बना लिया और अपने व्यवसाय का विकास कर लिया तो वह उन प्राकृतिक साधनों की खोज में जुट गई जिन पर कब्जा करके उनका मनचाहा उपयोग कर सकती थी। उसने परिदृश्यों तथा राजस्व स्रोतों का सर्वेक्षण किया, खोज यात्राएँ आयोजित कीं, और जानकारी इकट्ठी करने के लिए अपने भूविज्ञानियों, भूगोलवेत्ताओं, वनस्पति विज्ञानियों और चिकित्सकों को भेजा। निस्संदेह असाधारण प्रेक्षण शक्ति का धनी बुकानन ऐसा ही एक व्यक्ति था। बुकानन जहाँ कहीं भी गया, वहाँ उसने पत्थरों तथा चट्टानों और वहाँ की भूमि के भिन्न-भिन्न स्तरों तथा परतों को ध्यानपूर्वक देखा। उसने वाणिज्यिक दृष्टि से मूल्यवान पत्थरों तथा खनिजों को खोजने की कोशिश की; उसने लौह खनिज और अबरक, ग्रेनाइट तथा साल्टपीटर से संबंधित सभी स्थानों का पता लगाया। उसने सावधानीपूर्वक नमक बनाने और कच्चा लोहा निकालने की स्थानीय पद्धतियों का निरीक्षण किया।

जब बुकानन किसी भूदृश्य के बारे में लिखता था तो वह अकसर इतना ही नहीं लिखता था कि उसने क्या देखा है और भूदृश्य कैसा था, बल्कि वह यह भी लिखता था कि उसमें फेरबदल करके उसे अधिक उत्पादक कैसे बनाया जा सकता है– वहाँ कौन-सी फ़सलें बोई जा सकती हैं, कौन-से पेड़ काटे जा सकते हैं और कौन-से उगाए जा सकते हैं और हमें यह भी याद रखना होगा कि उसकी सूक्ष्म दृष्टि और प्राथमिकताएँ स्थानीय निवासियों से भिन्न होती थीं: क्या आवश्यक है इस बारे में उसका आकलन कंपनी के वाणिज्यिक

सरोकारों से और प्रगति के संबंध में आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा से निर्धारित होता था। वह अनिवार्य रूप से वनवासियों की जीवन-शैली का आलोचक था और यह महसूस करता था कि वनों को कृषि भूमि में बदलना ही होगा।

स्रोत 5

वनों की बटाई और स्थायी कृषि के बारे में

निचली राजमहल की पहाड़ियों में एक गाँव से गुजरते हुए, बुकानन ने लिखा:

इस प्रदेश का दृश्य बहुत ही बढ़िया है; यहाँ की खेती विशेष रूप से, घुमावदार संकरी घाटियों में धान की फ़सल, बिखरे हुए पेड़ों के साथ साफ़ की गई जमीन, और चट्टानी पहाड़ियाँ सभी अपने आप में पूर्ण हैं, कमी है तो बस इस क्षेत्र में कुछ प्रगति की और विस्तृत तथा उन्नत खेती की, जिनके लिए यह प्रदेश अत्यंत संवेदनशील है। यहाँ लकड़ी की जगह टसर और लाख के लिए आवश्यकतानुसार बड़े-बड़े बागान लगाए जा सकते हैं; बाक़ी जंगल को भी साफ़ किया जा सकता है, और जो भाग इस प्रयोजन के लिए उपयुक्त न हो वहाँ पनई ताड़ और महुआ के पेड़ लगाए जा सकते हैं।

➲ **चर्चा कीजिए...**

बुकानन का वर्णन विकास के संबंध में उसके विचारों के बारे में क्या बतलाता है? उद्धरणों से उदाहरण देते हुए अपनी दलील पेश कीजिए। यदि आप एक पहाड़िया वनवासी होते तो उसके इन विचारों के प्रति आपकी प्रतिक्रिया क्या होती?

3. देहात में विद्रोह

बम्बई दक्कन

आप पढ़ चुके हैं कि औपनिवेशिक बंगाल के किसानों और ज़मींदारों और राजमहल की पहाड़ियों के पहाड़िया और संथाल लोगों के जीवन में किस प्रकार परिवर्तन आ रहा था। आइए अब पश्चिम भारत और परवर्ती अवधि पर दृष्टिपात करें और पता लगाएँ कि बम्बई दक्कन के देहाती क्षेत्र में क्या हो रहा था।

ऐसे परिवर्तनों का पता लगाने का एक तरीक़ा है वहाँ के किसान विद्रोह पर ध्यान केंद्रित करना। ऐसे नाजुक दौर में विद्रोही अपना गुस्सा और प्रकोपोन्माद दिखलाते हैं; वे जिसे अन्याय और अपने दु:ख-दर्द का कारण समझते हैं उनके खिलाफ़ आवाज़ बुलंद करते हैं। यदि हम उनकी नाराज़गी के आधारभूत कारणों को जानने का प्रयत्न करते हैं और उनके ग़ुस्से की परतें उधेड़ने लगते हैं तो हम उनके जीवन और अनुभव की झलक देख पाते हैं जो अन्यथा हमसे छिपी रहती है। विद्रोहों के बारे में ऐसे अभिलेख भी उपलब्ध होते हैं, जिनका इतिहासकार अवलोकन कर सकते हैं। विद्रोहियों की करतूतों से उत्तेजित होकर और पुन: व्यवस्था स्थापित करने की उत्कट इच्छा से, राज्य के प्राधिकारी केवल विद्रोह को ही दबाने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि वे उसे जानने-बूझने की कोशिश करते हैं और उसके कारणों की भी जाँचा करते हैं जिससे कि नीतियाँ निर्धारित की जा सकें और शांति की स्थापना हो सके। ऐसी जाँच-पड़ताल से साक्ष्य उत्पन्न होता है जिसके बारे में इतिहासकार शोध कर सकें।

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान, भारत के विभिन्न प्रांतों के किसानों ने साहूकारों और अनाज के व्यापारियों के विरुद्ध अनेक विद्रोह किए। ऐसा ही एक दक्कन में 1875 में हुआ।

3.1 लेखा बहियाँ जला दी गईं

यह आंदोलन पूना (आधुनिक पुणे) जिले के एक बड़े गाँव सूपा में शुरू हुआ। सूपा एक विपणन केंद्र (मंडी) था जहाँ अनेक व्यापारी और साहूकार रहते थे। 12 मई 1875 को, आसपास के ग्रामीण इलाकों के रैयत (किसान) इकट्ठे हो गए, उन्होंने साहूकारों से उनके बही-खातों और ऋणबंधों की माँग करते हुए उन पर हमला बोल दिया। उन्होंने उनके बही-खाते जला दिए, अनाज की दुकानें लूट लीं और कुछ मामलों में तो साहूकारों के घरों को भी आग लगा दी।

पूना से यह विद्रोह अहमदनगर में फैल गया। फिर अगले दो महीनों में यहाँ और भी आग फैल गई और 6,500 वर्ग किलोमीटर का इलाका इनकी चपेट में आ गया। तीस से अधिक गाँव इससे कुप्रभावित हुए। सब जगह विद्रोह का स्वरूप एकसमान ही था: साहूकारों पर हमला किया गया, बही-खाते जला दिए गए और ऋणबंध नष्ट कर दिए गए। किसानों के हमलों से घबराकर साहूकार गाँव छोड़कर भाग गए, अधिकतर मामलों में वे अपनी संपत्ति और धन-दौलत भी वहीं पीछे छोड़ गए।

जब विद्रोह फैला तो ब्रिटिश अधिकारियों की आँखों के सामने 1857 का गदर दृश्य आ गया (अध्याय 11 भी देखिए)। विद्रोही किसानों के गाँवों में पुलिस थाने स्थापित किए गए। जल्दी से सेनाएँ बुला ली गईं। 95 व्यक्तियों को गिरफ़्तार कर लिया गया और उनमें से बहुतों को दंडित दिया गया। लेकिन देहात को काबू करने में कई महीने लग गए।

स्रोत 6

उस दिन सूपा में

16 मई 1875 को, पूना के जिला मजिस्ट्रेट ने पुलिस आयुक्त को लिखा:

शनिवार दिनांक 15 मई को सूपा में आने पर मुझे इस उपद्रव का पता चला। एक साहूकार का घर पूरी तरह जला दिया गया; लगभग एक दर्जन मकानों को तोड़ दिया गया और उनमें घुसकर वहाँ के सारे सामान को आग लगा दी गई। खाते पत्र, बांड, अनाज, देहाती कपड़ा, सड़कों पर लाकर जला दिया गया, जहाँ राख़ के ढेर अब भी देखे जा सकते हैं।

मुख्य कांस्टेबल ने 50 लोगों को गिरफ्तार किया। लगभग 2000 रु. का चोरी का माल छुड़ा लिया गया। अनुमानत: 25,000 रु. से अधिक की हानि हुई। साहूकारों का दावा है कि 1 लाख रु. से ज़्यादा का नुक़सान हुआ है

दक्कन दंगा आयोग

साहूकार ऐसा व्यक्ति होता था जो पैसा उधार देता था और साथ ही व्यापार भी करता था।

स्रोत 7

समाचारपत्र में छपी रिपोर्ट

'रैयत और साहूकार' शीर्षक नामक निम्नलिखित रिपोर्ट 6 जून 1876 के 'नेटिव ओपीनियन' नामक समाचार पत्र में छपी और उसे मुंबई के नेटिव न्यूज़पेपर्स की रिपोर्ट में यथावत उद्धृत किया गया (हिंदी अनुवाद प्रस्तुत है):

"वे (रैयत) सर्वप्रथम अपने गाँवों की सीमाओं पर यह देखने के लिए जासूसी करते हैं कि क्या कोई सरकारी अधिकारी आ रहा है और अपराधियों को समय रहते उनके आने की सूचना दे देते हैं। फिर वे एक झुंड बनाकर अपने ऋणदाताओं के घर जाते हैं और उनसे उनके ऋणपत्र और अन्य दस्तावेज़ माँगते हैं और इनकार करने पर ऋणदाताओं पर हमला करके छीन लेते हैं। यदि ऐसी किसी घटना के समय कोई सरकारी अधिकारी उन गाँवों की ओर आता हुआ दिखाई दे जाता है तो गुप्तचर अपराधियों को इसकी ख़बर पहुँचा देते हैं और अपराधी समय रहते ही तितर-बितर हो जाते हैं"।

➲ लेखक द्वारा प्रयुक्त भाषा या शब्दावली से अकसर उसके पूर्वाग्रहों का पता चल जाता है, स्रोत 7 को सावधानीपूर्वक पढ़िए और उन शब्दों को छाँटिए जिनसे लेखक के पूर्वाग्रहों का पता चलता है। चर्चा कीजिए कि उस इलाके का रैयत उसी स्थिति का किन शब्दों में वर्णन करता होगा।

ऋणपत्र और दस्तावेज़ क्यों जलाए गए थे? यह विद्रोह क्यों हुआ? इससे हमें दक्कन के देहात के बारे में और वहाँ औपनिवेशिक शासन में हुए कृषि या भूमि संबंधी परिवर्तनों के बारे में क्या पता चलता है? आइए उन्नीसवीं शताब्दी में हुए परिवर्तनों के लंबे इतिहास पर दृष्टिपात करें।

3.2 एक नयी राजस्व प्रणाली

जैसे-जैसे ब्रिटिश शासन बंगाल से भारत के अन्य भागों में फैलता गया वहाँ भी राजस्व की नयी प्रणालियाँ लागू कर दी गईं। इस्तमरारी बंदोबस्त को बंगाल से बाहर बिरले ही लागू किया गया।

ऐसा क्यों किया गया? इसका एक कारण तो यह था कि 1810 के बाद खेती की क़ीमतें बढ़ गईं, जिससे उपज के मूल्य में वृद्धि हुई और बंगाल के ज़मींदारों की आमदनी में इज़ाफ़ा हो गया। चूँकि राजस्व की माँग इस्तमरारी बंदोबस्त के तहत तय की गई थी, इसलिए औपनिवेशिक सरकार इस बढ़ी हुई आय में अपने हिस्से का कोई दावा नहीं कर सकती थी। अपने वित्तीय संसाधनों को बढ़ाने की उत्कट इच्छा से, औपनिवेशिक सरकार को अपने भू-राजस्व को अधिक से अधिक बढ़ाने के तरीक़ों पर विचार करना पड़ा। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी में औपनिवेशिक शासन में शामिल किए गए प्रदेशों में राजस्व बंदोबस्त किए गए।

अन्य भी कई कारण थे। जब अधिकारी नीतियाँ निर्धारित करते हैं तो उनकी विचारधारा उन आर्थिक सिद्धांतों से अत्यधिक प्रभावित रहती है जिनसे वे अधिकारी पहले से परिचित होते हैं। 1820 के दशक तक इंग्लैंड में डेविड रिकार्डो एक जाने-माने अर्थशास्त्री के रूप में विख्यात थे। औपनिवेशिक अधिकारियों ने अपने महाविद्यालयी जीवन में रिकार्डो के विचारों का अध्ययन किया था। महाराष्ट्र में जब ब्रिटिश अधिकारियों ने 1820 के दशक में प्रारंभिक बंदोबस्त की शर्तें करने का काम हाथ में लिया तो वे इन्हीं में से कुछ विचारों के अनुसार कार्रवाई करने लगे।

रिकार्डो के विचारों के अनुसार भूस्वामी को उस समय लागू 'औसत लगानों' को प्राप्त करने का ही हक़ होना चाहिए। जब भूमि से 'औसत लगान' से अधिक प्राप्ति होने लगे तो भूस्वामी को अधिशेष आय होगी जिस पर सरकार को कर लगाने की आवश्यकता होगी। यदि कर नहीं लगाया गया तो किसान किरायाजीवी में बदल जाएँगे और उनकी अधिशेष आय का भूमि के सुधार में उत्पादक रीति से निवेश नहीं होगा। भारत में अनेक ब्रिटिश अधिकारियों ने सोचा कि बंगाल के इतिहास ने रिकार्डो के सिद्धांत की पुष्टि कर दी है। वहाँ ज़मींदार लोग किरायाजीवियों के रूप में बदल गए प्रतीत हुए क्योंकि उन्होंने अपनी ज़मीनें पट्टे पर दे दीं और किराये की आमदनी पर निर्भर रहने लगे। इसलिए ब्रिटिश अधिकारियों के विचार से अब यह आवश्यक था कि एक भिन्न राजस्व प्रणाली अपनाई जाए।

> *किरायाजीवी* शब्द ऐसे लोगों का द्योतक है जो अपनी संपत्ति के किराए की आय पर जीवनयापन करते हैं।

जो राजस्व प्रणाली बम्बई दक्कन में लागू की गई उसे रैयतवाड़ी कहा जाता है। बंगाल में लागू की गई प्रणाली के विपरीत, इस प्रणाली के

अंतर्गत राजस्व की राशि सीधे रैयत के साथ तय की जाती थी। भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि से होने वाली औसत आय का अनुमान लगा लिया जाता था। रैयत की राजस्व अदा करने की क्षमता का आकलन कर लिया जाता था और सरकार के हिस्से के रूप में उसका एक अनुपात निर्धारित कर दिया जाता था। हर 30 साल के बाद ज़मीनों का फिर से सर्वेक्षण किया जाता था और राजस्व की दर तदनुसार बढ़ा दी जाती थी। इसलिए राजस्व की माँग अब चिरस्थायी नहीं रही थी।

3.3 राजस्व की माँग और किसान का कर्ज़

बम्बई दक्कन में पहला राजस्व बंदोबस्त 1820 के दशक में किया गया। माँगा गया राजस्व इतना अधिक था कि बहुत से स्थानों पर किसान अपने गाँव छोड़कर नए क्षेत्रों में चले गए। जिन इलाकों की ज़मीन घटिया किस्म की थी और वर्षा भी कम ज्यादा होती थी, खास तौर पर समस्या और भी विकट थी। जब वर्षा नहीं होती थी और फ़सल खराब होती थी तो किसानों के लिए राजस्व अदा करना असंभव हो जाता था। फिर भी, राजस्व इकट्ठा करने वाले प्रभारी कलेक्टर अपनी कार्यकुशलता को प्रदर्शित करने और अपने बड़े अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए अत्यंत उत्कट रहते थे। इसलिए वे अत्यंत कठोरतापूर्वक राजस्व वसूल करने का प्रयत्न करते थे। जब कोई किसान अपना राजस्व नहीं दे पाता था तो उसकी फ़सलें ज़ब्त कर ली जाती थीं और समूचे गाँव पर जुर्माना ठोक दिया जाता था।

1830 के दशक तक आते-आते यह समस्या और भी गंभीर हो गई। सन् 1832 के बाद कृषि उत्पादों की क़ीमतों में तेज़ी से गिरावट आई और लगभग डेढ़ दशक तक इस स्थिति में कोई सुधार नहीं आया। इसके परिणामस्वरूप किसानों की आय में और भी गिरावट आई। इसी दौरान, 1832-34 के वर्षों में देहाती इलाके अकाल की चपेट में आकर बरबाद हो गए। दक्कन का एक-तिहाई पशुधन मौत के मुँह में चला गया और आधी मानव जनसंख्या भी काल का ग्रास बन गई। और जो बचे, उनके पास भी उस संकट का सामना करने के लिए खाद्यान्न नहीं था। राजस्व की बकाया राशियाँ आसमान को छूने लगीं।

ऐसे समय में किसान लोग कैसे जीवित रहे? उन्होंने राजस्व कैसे अदा किया, अपनी जरूरत की चीज़ों को कैसे जुटाया, अपने हल-बैल कैसे खरीदे अथवा बच्चों की शादियाँ कैसे कीं?

यह सब करने के लिए पैसा उधार लेने के अलावा उनके पास और कोई चारा नहीं था। ऋणदाता से पैसा उधार लेकर ही राजस्व चुकाया जा सकता था लेकिन यदि रैयत ने एक बार ऋण ले लिया तो उसे वापस करना उसके लिए कठिन हो गया। कर्ज़ बढ़ता गया, उधार की राशियाँ बकाया रहती गईं और ऋणदाताओं पर किसानों की निर्भरता बढ़ती गई। अब स्थिति यहाँ तक बिगड़ गई थी कि किसानों को अपनी रोज़मर्रा की जरूरतों को खरीदने और अपने उत्पादन के खर्च को पूरा करने के लिए भी कर्ज़े लेने पड़ते थे। 1840 के दशक तक, अधिकारियों को भी इस

बात का साक्ष्य मिलने लगा था कि सभी जगह के किसान कर्ज़ के बोझ के तले भयंकर रूप से दबे जा रहे थे।

1840 के दशक के मध्य में एक विशेष प्रकार के आर्थिक पुनरूत्थान के लक्षण दिखाई देने लगे। तब अनेक ब्रिटिश अधिकारियों ने यह महसूस करना शुरू कर दिया कि 1820 के दशक में किए गए राजस्व संबंधी बंदोबस्त कठोरतापूर्ण थे। माँगा गया राजस्व बहुत ज़्यादा था, व्यवस्था कठोर एवं लचकहीन थी, और किसानों की अर्थव्यवस्था का भट्ठा बैठने वाला था। इसलिए खेती का विस्तार करने के लिए किसानों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से राजस्व संबंधी माँग को कुछ हलका किया गया। 1845 के बाद कृषि उत्पादों की क़ीमतें शनैः शनैः बढ़ती गईं। किसान अपने कृषि क्षेत्र को बढ़ाने लगे थे, इसके लिए वे नए-नए इलाकों में जा रहे थे और गोचर भूमियों को कृषि भूमि में बदल रहे थे। लेकिन किसानों को अपनी खेती का विस्तार करने के लिए अधिक हल-बैल चाहिए थे। उन्हें बीज और ज़मीन खरीदने के लिए पैसे की ज़रूरत थी। इन सब कामों के लिए उन्हें एक बार फिर पैसा उधार लेने के लिए ऋणदाताओं के पास जाना पड़ा।

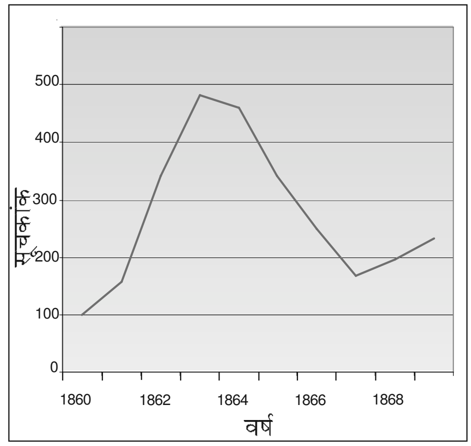

चित्र 10.15
कपास में तेज़ी
इस ग्राफ़ में अंकित रेखा कपास की क़ीमतों में आई तेज़ी और गिरावट को दिखाती है।

3.4 फिर कपास में तेज़ी आई

1860 के दशक से पहले, ब्रिटेन में कच्चे माल के तौर पर आयात की जाने वाली समस्त कपास का तीन-चौथाई भाग अमेरिका से आता था ब्रिटेन के सूती वस्त्रों के विनिर्माता काफ़ी लंबे अरसे से अमेरिकी कपास पर अपनी निर्भरता के कारण बहुत परेशान थे। अगर यह स्रोत बंद हो गया तो हमारा क्या होगा? इस प्रश्न से विचलित होकर, वे बड़ी उत्सुकता से कपास की आपूर्ति के वैकल्पिक स्रोत खोज रहे थे।

1857 में, ब्रिटेन में कपास आपूर्ति संघ की स्थापना हुई और 1859 में मैनचेस्टर कॉटन कंपनी बनाई गई। उनका उद्देश्य "दुनिया के हर भाग में कपास के उत्पादन को प्रोत्साहित करना था जिससे कि उनकी कंपनी

चित्र 10.16
कपास ढोने वाली गाड़ियाँ एक बरगद के पेड़ के नीचे खड़ी हैं।
इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज़ 13 दिसंबर 1862

का विकास हो सके।" भारत को एक ऐसा देश समझा गया जो अमेरिका से कपास की आपूर्ति बंद हो जाने की सूरत में, लंकाशायर को कपास भेज सकेगा। भारत की भूमि और जलवायु दोनों ही कपास की खेती के लिए उपयुक्त थे और यहाँ सस्ता श्रम उपलब्ध था।

जब सन् 1861 में अमेरिकी गृहयुद्ध छिड़ गया तो ब्रिटेन के कपास क्षेत्र (मंडी तथा कारखानों) में तहलका मच गया। अमेरिका से आने वाली कच्ची कपास के आयात में भारी गिरावट आ गई। वह सामान्य मात्रा का 3 प्रतिशत से भी कम हो गया: 1861 में जहाँ 20 लाख गाँठें (हर गाँठ 400 पाउंड की) आई थीं वहीं 1862 में केवल 55 हज़ार गाँठों का आयात हुआ। भारत तथा अन्य देशों को बड़ी व्यग्रता के साथ यह संदेश भेजा गया कि ब्रिटेन को कपास का अधिक मात्रा में निर्यात करें। बम्बई में, कपास के सौदागरों ने कपास की आपूर्ति का आकलन करने और कपास की खेती को अधिकाधिक प्रोत्साहन देने के लिए कपास पैदा करने वाले ज़िलों का दौरा किया। जब कपास की कीमतों में उछाल आया (चित्र 10.15 देखिए) तो बम्बई के कपास निर्यातकों ने ब्रिटेन की माँग को पूरा करने के लिए अधिक से अधिक कपास खरीदने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने शहरी साहूकारों को अधिक से अधिक अग्रिम, राशियाँ दी ताकि वे भी आगे उन ग्रामीण ऋणदाताओं को जिन्होंने उपज को उपलब्ध कराने का वचन दिया था, अधिकाधिक

➲ चित्र 10.17 के तीन भाग हैं जिनमें कपास ढोने के भिन्न-भिन्न साधन दर्शाए गए हैं। चित्र में कपास के बोझ से दबे जा रहे बैलों, सड़क पर पड़े शिलाखंडों और नौका पर लदी गाँठों के विशाल ढेर को देखिए। कलाकार इन तसवीरों के जरिए क्या दर्शाना चाहता है?

चित्र 10.17
रेलों का युग शुरू होने से पहले कपास का परिवहन, इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज़, 20 अप्रैल 1861। जब अमेरिकी गृहयुद्ध के दौरान अमेरिका से कपास की आपूर्ति बहुत कम हो गई तब ब्रिटेन को यह आशा हुई कि भारत ब्रिटिश उद्योगों की कपास संबंधी सारी ज़रूरतों को पूरा कर देगा। इसके लिए आपूर्ति का आकलन किया जाने लगा, कपास की गुणवत्ता की जाँच होने लगी और उत्पादन तथा विपणन के तरीकों का अध्ययन किया जाने लगा। उनकी यह दिलचस्पी 'इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज़' के पृष्ठों में परिलक्षित होती है।

मात्रा में राशि उधार दे सकें। जब बाज़ार में तेज़ी आती है तो ऋण आसानी से दिया जाता है क्योंकि ऋणदाता अपनी उधार दी गई राशियों की वसूली के बारे में अधिक आश्वस्त महसूस करते हैं।

इन बातों का दक्कन के देहाती इलाक़ों में काफ़ी असर हुआ। दक्कन के गाँवों के रैयतों को अचानक असीमित ऋण उपलब्ध होने लगा। उन्हें कपास उगाई जाने वाले प्रत्येक एकड़ के लिए 100 रु. अग्रिम राशि दी जाने लगी। साहूकार भी दीर्घावधिक ऋण देने के लिए एकदम तैयार थे।

जब अमेरिका में संकट की स्थिति बनी रही तो बम्बई दक्कन में कपास का उत्पादन बढ़ता गया। 1860 से 1864 के दौरान कपास उगाने वाले एकड़ों की संख्या दोगुनी हो गई। 1862 तक स्थिति यह आई कि ब्रिटेन में जितना भी कपास का आयात होता था उसका 90 प्रतिशत भाग अकेले भारत से जाता था।

लेकिन इन तेज़ी के वर्षों में सभी कपास उत्पादकों को समृद्धि प्राप्त नहीं हो सकी। कुछ धनी किसानों को तो लाभ अवश्य हुआ। लेकिन अधिकांश किसान कर्ज़ के बोझ से और अधिक दब गए।

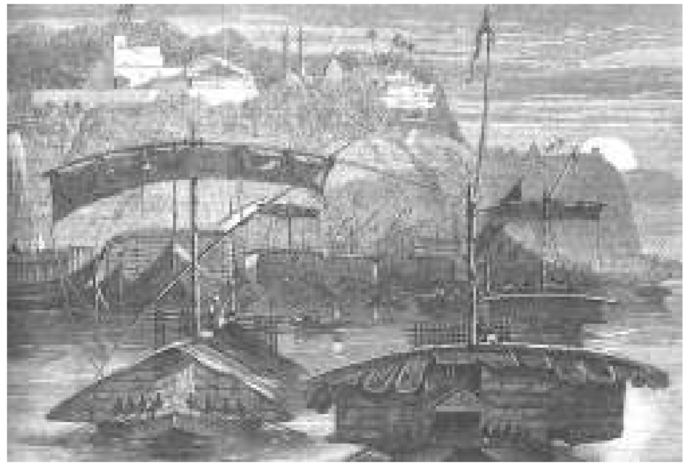

चित्र 10.18
नौकाओं का एक बेड़ा मिर्ज़ापुर से गंगानदी के रास्ते कपास की गांठें ले जा रहा है। इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज़, 13 दिसंबर 1862
रेलों का युग प्रारंभ होने से पहले, मिर्ज़ापुर का कस्बा दक्कन से आने वाली कपास के लिए संग्रह केंद्र था।

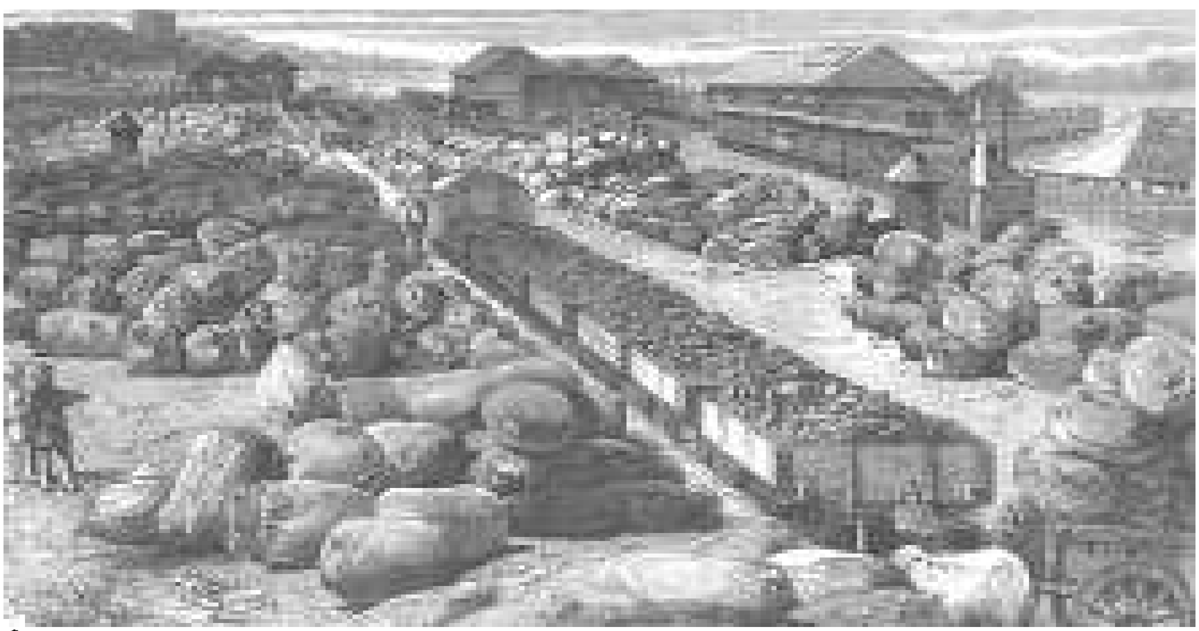

चित्र 10.19
ग्रेट इंडियन पेनिन्सुलर रेलवे के बम्बई टर्मिनस पर कपास की गांठें पड़ी हुई हैं; इन्हें आगे समुद्री जहाज़ से इंग्लैंड भेजा जाएगा। इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज़, 23 अगस्त 1862। जब रेलें चलने लगीं तो कपास की गांठें गाड़ियों और नौकाओं द्वारा ही नहीं, रेलों से भी भेजी जाने लगीं। नदी मार्ग से यातायात धीरे-धीरे कम होता गया परंतु परिवहन के पुराने साधनों का प्रयोग पूरी तरह बंद नहीं हुआ। चित्र में पीछे दाहिनी ओर लदी हुई बैलगाड़ियाँ रेलवे स्टेशन से पत्तन तक कपास की गांठें ले जाने के लिए तैयार खड़ी हैं।

3.5 ऋण का स्रोत सूख गया

जिन दिनों कपास के व्यापार में तेज़ी रही, भारत के कपास व्यापारी, अमेरिका को स्थायी रूप से विस्थापित करके, कच्ची कपास के विश्व बाज़ार को अपने क़ब्ज़े में करने के सपने देखने लगे। 1861 में बॉंबे गजट के संपादक ने पूछा, "दास राज्यों (संयुक्त राज्य अमेरिका) को विस्थापित करके, लंकाशायर को कपास का एकमात्र आपूर्तिकर्ता बनने से भारत को कौन रोक सकता है?" लेकिन 1865 तक ऐसे सपने आने बंद हो गए। जब अमेरिका में गृहयुद्ध समाप्त हो गया तो वहाँ कपास का उत्पादन फिर से चालू हो गया और ब्रिटेन के भारतीय कपास के निर्यात में गिरावट आती चली गई।

महाराष्ट्र में निर्यात व्यापारी और साहूकार अब दीर्घावधिक ऋण देने के लिए उत्सुक नहीं रहे। उन्होंने यह देख लिया था कि भारतीय कपास की माँग घटती जा रही है और कपास की कीमतों में भी गिरावट आ रही है। इसलिए उन्होंने अपना कार्य-व्यवहार बंद करने, किसानों को अग्रिम राशियाँ प्रतिबंधित करने और बकाया ऋणों को वापिस माँगने का निर्णय लिया।

एक ओर तो ऋण का स्रोत सूख गया वहीं दूसरी ओर राजस्व की माँग बढ़ा दी गई। जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, पहला राजस्व बंदोबस्त 1820 और 1830 के दशकों में किया गया था। अब अगला बंदोबस्त करने का समय आ गया था। और इस नए बंदोबस्त में माँग को, नाटकीय ढंग से, 50 से 100 प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया। भला, बेचारे रैयत उस हालत में, जबकि कीमतें गिर रही थीं और कपास के खेत गायब हो रहे थे, इस प्रकार बढ़ी हुई माँग को कैसे पूरा कर सकते थे? इसलिए उन्हें एक बार फिर ऋणदाता की शरण में जाना पड़ा। लेकिन ऋणदाता ने अबकी बार ऋण देने से इनकार कर दिया। उसे अब रैयत द्वारा ऋण वापस अदा किए जाने की उसकी क्षमता में विश्वास नहीं रहा था।

3.6 अन्याय का अनुभव

ऋणदाता द्वारा ऋण देने से इनकार किए जाने पर, रैयत समुदाय को बहुत गुस्सा आया। वे इस बात के लिए ही क्रुद्ध नहीं थे कि वे ऋण के गर्त में गहरे से गहरे डूबे जा रहे हैं अथवा कि वे अपने जीवन को बचाने के लिए ऋणदाता पर पूर्ण रूप से निर्भर हैं, बल्कि वे इस बात से ज़्यादा नाराज थे कि ऋणदाता वर्ग इतना संवेदनहीन हो गया है कि वह उनकी हालत पर कोई तरस नहीं खा रहा है। ऋणदाता लोग देहात के प्रथागत मानकों यानी रूढ़ि रिवाजों का भी उल्लंघन कर रहे थे।

स्रोत 8

रैयत अर्ज़ी

नीचे एक याचिका का उदाहरण दिया गया है जो करजत तालुको के मीरगाँव के एक रैयत द्वारा कलेक्टर अहमदनगर, दक्कन दंगा आयोग को दी गई थी :

> साहूकार लोग काफी दिनों से हम पर अत्याचार कर रहे हैं? चूँकि हम अपना घर खर्च चलाने के लिए काफी मात्रा में पैसा नहीं कमा सकते, इसलिए हम उनसे पैसा, कपड़ा और अनाज़ माँगने के लिए मजबूर हो गए हैं। उनसे हमें ये चीजें मिलती जाती हैं पर बड़ी कठिनाई से और उसके लिए हमें उनके साथ कड़ी शर्तों पर बंधपत्र लिखने के लिए मजबूर होना पड़ता है। इसके अलावा कपड़ा और अनाज भी नकद दरों पर नहीं बेचा जाता। हमसे जो कीमतें माँगी जाती हैं वह नकदी कीमत चुकाने वाले ग्राहकों की अपेक्षा आमतौर पर 25 से 50 प्रतिशत होती हैं।... हमारे खेतों की उपज भी साहूकार ले जाते हैं; उपज ले जाते समय तो वे हमें यह आश्वासन देते हैं कि इसकी कीमत हमारे खाते में जमा कर दी जाएगी लेकिन वे हमारे खातों में ऐसा कोई उल्लेख नही करते। वे जब हमारी उपज ले जाते हैं तो बदले में कोई रसीद भी नहीं देते।

➲ रैयत अपनी अर्जी में क्या शिकायत कर रहा है। ऋणदाता द्वारा किसान से ले जाई जाने वाली फसल उसके खाते में क्यों नहीं चढ़ाई जाती? किसानों को कोई रसीद क्यों नहीं दी जाती? यदि आप ऋणदाता होते तो इन व्यवहारों के लिए आप क्या-क्या कारण देते?

पैसा उधार देने का कारोबार निश्चित रूप से औपनिवेशिक शासन से पहले भी काफ़ी फैला हुआ था और ऋणदाता अकसर ताकतवर हस्तियाँ होते थे। कई प्रकार के प्रथागत मानक ऋणदाता और रैयत के पारस्परिक संबधों पर लागू होते थे और उन्हें विनियमित करते थे। एक सामान्य मानक यह था कि ब्याज मूलधन से अधिक नहीं लिया जा सकता था। इसका प्रयोजन ऋणदाता द्वारा की जाने वाली जबरन वसूली को सीमित करना और यह पारिभाषित करना था कि 'उचित ब्याज' क्या होना चाहिए। औपनिवेशिक शासन में इस नियम की धज्जियाँ उड़ा दी गईं। दक्कन दंगा आयोग द्वारा छानबीन किए गए मामलों में से एक मामले में ऋणदाता ने 100 रु. के मूलधन पर 2,000 रु. से भी अधिक ब्याज लगा रखा था। अनेकानेक याचिकाओं में रैयत लोगों ने इस प्रकार की जबरन वसूलियों और प्रथाओं के उल्लंघन से संबंधित अन्याय के विरुद्ध शिकायत की थी।

स्रोत 8

भाड़ा-पत्र

जब किसान पर ऋण का भार बहुत बढ़ गया तो वह ऋणदाता का ऋण चुकाने में असमर्थ हो गया। अब ऋणदाता के पास अपना सर्वस्व-जमीन, गाड़ियाँ, पशुधन देने के अलावा कोई चारा नहीं था। लेकिन पशुओं के बिना वह आगे खेती कैसे कर सकता था। इसलिए उसने जमीन और पशु भाड़े पर ले लिए। अब उसे उन पशुओं के लिए, जो मूल रूप से उसके अपने ही थे, भाड़ा चुकाना पड़ता था। उसे एक भाड़ा-पत्र (किरायानामा) लिखना पड़ता था जिसमें यह साफतौर पर कहा जाता था कि ये पशु और गाड़ियाँ उसकी अपनी नहीं हैं। विवाद छिड़ने पर, ये दस्तावेज़ न्यायालयों में मान्य होते थे।

नीचे एक ऐसे ही दस्तावेज़ का नमूना दिया गया है जो नवंबर 1873 में एक किसान ने हस्ताक्षरित किया था (यह दक्कन दंगा आयोग के अभिलेखों से उद्धृत है।) :

> मैने आपको देय ऋण के खाते में, आपको अपनी लोहे के धुरों वाली दो गाड़ियाँ, साज-समान और चार बैलों के साथ बेची हैं... मैंने इस दस्तावेज़ के तहत उन्हीं दो गाड़ियों और चार बैलों को आपसे भाड़े पर लिया है। मैं हर माह आपको चार रुपए प्रतिमाह की दर से उनका किराया (भाड़ा) दूँगा और आपसे आपकी अपनी लिखावट में रसीद प्राप्त करुँगा। रसीद न मिलने पर मैं यह दलील नहीं दूँगा कि किराया नहीं चुकाया गया है।

➲ उन सभी वचनबद्धताओं की सूची बनाइए जो किसान इस दस्तावेज़ में दे रहा है। ऐसा कोई दस्तावेज़ हमें किसान और ऋणदाता के बीच के संबंधों के बारे में क्या बताता है। इससे किसान और बैलों (जो पहले उसी के थे) के बीच के संबंधों में क्या अंतर आएगा?

रैयत ऋणदाता को कुटिल और धोखेबाज समझने लगे थे। वे ऋणदाताओं के द्वारा खातों में धोखाधड़ी करने और कानून को धत्ता बताने की शिकायतें करते थे। 1859 में अंग्रेज़ों ने एक परिसीमन क़ानून

पारित किया जिसमें यह कहा गया कि ऋणदाता और रैयत के बीच हस्ताक्षरित ऋणपत्र केवल तीन वर्षों के लिए ही मान्य होंगे। इस कानून का उद्देश्य बहुत समय तक ब्याज को संचित होने से रोकना था। किंतु ऋणदाता ने इस कानून को घुमाकर अपने पक्ष में कर लिया और रैयत से हर तीसरे साल एक नया बंधपत्र भरवाने लगा। जब कोई नया बांड हस्ताक्षरित होता तो न चुकाई गई शेष राशि– अर्थात् मूलधन और उस पर उत्पन्न तथा इकट्ठा हुए संपूर्ण ब्याज को मूलधन के रूप में दर्ज किया जाता और उस पर नए सिरे से ब्याज लगने लगता। दक्कन दंगा आयोग को प्राप्त हुई याचिकाओं में रैयत लोगों ने यह बतलाया कि यह प्रक्रिया कैसे काम कर रही थी (स्रोत 10 देखिए) और किस प्रकार ऋणदता लोग रैयत को ठगने के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाते थे : जब ऋण चुकाए जाते तो वे रैयत को उसकी रसीद देने से इनकार कर देते थे, बंधपत्रों में जाली आंकड़े भर लेते थे, किसानों की फसल नीची कीमतों पर ले लेते थे और आखिरकार किसानों की धन-संपति पर ही कब्जा कर लेते थे।

तरह-तरह के दस्तावेज़ और बंधपत्र इस नयी अत्याचारपूर्ण प्रणाली के प्रतीक बन गए। पहले ऐसे दस्तावेज़ बहुत ही कम हुआ करते थे। किंतु ब्रिटिश अधिकारी अनौपचारिक समझौते के आधार पर पुराने ढंग से किए गए लेन-देन को संदेह की दृष्टि से देखते थे। उनके विचार से लेन-देन की शर्तें, संविदाओं, दस्तावेज़ों और बंधपत्रों में साफ़-साफ़, सुस्पष्ट और सुनिश्चित शब्दों में कही जानी चाहिए और वे विधिसम्मत होनी चाहिए। जब तक कि कोई दस्तावेज़ या संविदा कानून की दृष्टि से प्रवर्तनीय नहीं होगा तब तक उसका कोई मूल्य नहीं होगा।

समय के साथ, किसान यह समझने लगे कि उनके जीवन में जो भी दु:ख तकलीफ है वह सब बंधपत्रों और दस्तावेज़ों की इस नयी

स्रोत 10

कर्ज़ कैसे बढ़ते गए

दक्कन दंगा आयोग को दी गई अपनी याचिका में एक रैयत ने यह स्पष्ट किया कि ऋणों की प्रणाली कैसे काम करती थी :

> एक साहूकार अपने कर्ज़दार को एक बंधपत्र के आधार पर 100 रु. की रकम 3-2 आने प्रतिशत की मासिक दर पर उधार देता है। कर्ज़ लेने वाला इस रकम को बांड पास होने की तारीख से आठ दिन के भीतर वापस अदा करने का करार करता है। रकम वापस अदा करने के लिए निर्धारित समय के तीन साल बाद साहूकार अपने कर्ज़दार से मूलधन तथा ब्याज दोनों को मिला कर बनी राशि (मिश्रधन) के लिए एक अन्य बांड उसी ब्याज दर से लिखवा लेता है और उसे संपूर्ण कर्ज़ा चुकाने के लिए 125 दिन की मोहलत दे देता है। तीन साल ओर 15 दिन बीत जाने पर कर्ज़दार द्वारा एक तीसरा बांड पास किया जाता... (यह प्रक्रिया बार-बार दोहराई जाती है)... 12 वर्ष के अंत में... 1000 रु. की राशि पर उसका कुल ब्याज 2,028 रु. 10 आना 3 पैसे हो जाता है।

➲ ब्याज की उस मद का हिसाब लगाइए जो रैयत इन वर्षों में दे रहा था।

व्यवस्था के कारण ही है। उनसे दस्तावेज़ों पर हस्ताक्षर करवा लिए जाते और अँगूठे के निशान लगवा लिए जाते थे पर उन्हें यह पता नहीं चलता कि वास्तव में वे किस पर हस्ताक्षर कर रहे हैं या अँगूठे के निशान लगा रहे हैं। उन्हें उन खंडों के बारे में कुछ भी पता नहीं होता जो ऋणदाता बंधपत्रों में लिख देते थे। वे तो हर लिखे हुए शब्द से डरने लगे थे। मगर वे लाचार थे क्योंकि जीवित रहने के लिए उन्हें ऋण चाहिए थे और ऋणदाता कानूनी दस्तावेज़ों के बिना ऋण देने को तैयार नहीं थे।

4. दक्कन दंगा आयोग

जब विद्रोह दक्कन में फैला तो प्रारंभ में बम्बई की सरकार उसे गंभीरतापूर्वक लेने को तैयार नहीं थी। लेकिन भारत सरकार ने, जो कि 1857 की याद से चिंतित थी बम्बई की सरकार पर दबाव डाला कि वह दंगों के कारणों की छानबीन करने के लिए एक जाँच आयोग बैठाए। आयोग ने एक रिपोर्ट तैयार की जो 1878 में ब्रिटिश पार्लियामेंट में पेश की गई।

यह रिपोर्ट जिसे दक्कन दंगा रिपोर्ट कहा जाता है, इतिहासकारों को उन दंगों का अध्ययन करने के लिए आधार सामग्री उपलब्ध कराती है। आयोग ने दंगा पीड़ित जिलों में जाँच पड़ताल कराई, रैयत वर्गों, साहूकारों और चश्मदीद गवाहों के बयान लिए, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में राजस्व की दरों, कीमतों और ब्याज के बारे में आंकडे इकट्ठे किए और जिला कलेक्टरों द्वारा भेजी गई रिपोर्टों का संकलन किया।

ऐसे स्रोतों पर दृष्टिपात करते समय, हमें यह फिर याद रखना होगा कि वे सरकारी स्रोत हैं और वे घटनाओं के बारे में सरकारी सरोकार और अर्थ प्रतिबिंबित करते हैं। उदाहरण के लिए, दक्कन दंगा आयोग से विशिष्ट रूप से यह जाँच करने के लिए कहा गया था कि क्या सरकारी राजस्व की माँग का स्तर विद्रोह का कारण था। और संपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करने के बाद आयोग ने यह सूचित किया था कि सरकारी माँग किसानों के गुस्से की वजह नहीं थी। इसमें सारा दोष ऋणदाताओं या साहूकारों का ही था। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि औपनिवेशिक सरकार यह मानने को कदापि तैयार नहीं थी कि जनता में असंतोष या रोष कभी सरकारी कार्रवाही के कारण उत्पन्न हुआ था।

इस प्रकार, सरकारी रिपोर्टें इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए बहुमूल्य स्रोत सिद्ध होती हैं। लेकिन उन्हें हमेशा सावधानीपूर्वक पढ़ा जाना चाहिए और समाचारपत्रों, गैर-सरकारी वृतांतों, वैधिक अभिलेखों और यथासंभव मौखिक स्रोतों से संकलित साक्ष्य के साथ उनका मिलान करके उनकी विश्वसनीयता की जाँच की जानी चाहिए।

➲ चर्चा कीजिए...

आजकल आप जिस क्षेत्र में रहते हैं वहाँ पर ली जाने वाली ब्याज दरों का पता लगाइए। यह भी पता लगाइए कि क्या ये दरें पिछले 50 वर्षों में बदली हैं। क्या भिन्न-भिन्न वर्गों के लोगों द्वारा अदा की जाने वाली दरों में कोई अंतर है? यदि है तो इन अंतरों के क्या कारण हैं?

काल-रेखा

1765	इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल की दीवानी प्राप्त की
1773	ईस्ट इंडिया कंपनी के क्रियाकलापों को विनियमित करने के लिए ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा रेग्यूलेटिंग एक्ट पारित किया गया
1793	बंगाल में इस्तमरारी बंदोबस्त
1800 का दशक	संथाल लोग राजमहल की पहाड़ियों में आने लगे और वहाँ बसने लगे
1818	बम्बई दक्कन में पहला राजस्व बंदोबस्त
1820 का दशक	कृषि कीमतें गिरने लगीं
1840 व 1850 का दशक	बम्बई दक्कन में कृषि विस्तार की धीमी प्रक्रिया
1855-56	संथालों की बगावत
1861	कपास में तेज़ी का समारंभ
1875	दक्कन के गाँवों में रैयतों ने बग़ावत की

चित्र 10.20
एक ग्रामीण दृश्य, विलियम प्रिंसेप द्वारा चित्रित, 1820

उत्तर दीजिए (लगभग 100 से 150 शब्दों में)

1. ग्रामीण बंगाल के बहुत से इलाकों में जोतदार एक ताकतवर हस्ती क्यों था?
2. ज़मींदार लोग अपनी ज़मींदारियों पर किस प्रकार नियंत्रण बनाए रखते थे?
3. पहाड़िया लोगों ने बाहरी लोगों के आगमन पर कैसी प्रतिक्रिया दर्शाई?
4. संथालों ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह क्यों किया?
5. दक्कन के रैयत ऋणदाताओं के प्रति क्रुद्ध क्यों थे?

निम्नलिखित पर एक लघु निबंध लिखिए (लगभग 250 से 300 शब्दों में)

6. इस्तमरारी बंदोबस्त के बाद बहुत-सी ज़मींदारियाँ क्यों नीलाम कर दी गईं?
7. पहाड़िया लोगों की आजीविका संथालों की आजीविका से किस रूप में भिन्न थी?
8. अमेरिकी गृहयुद्ध ने भारत में रैयत समुदाय के जीवन को कैसे प्रभावित किया?
9. किसानों का इतिहास लिखने में सरकारी स्रोतों के उपयोग के बारे में क्या समस्याएँ आती हैं?

मानचित्र कार्य

10. उपमहाद्वीप के बाह्यरेखा मानचित्र (खाके) में इस अध्याय में वर्णित क्षेत्रों को अंकित कीजिए। यह भी पता लगाइए कि क्या ऐसे भी कोई इलाके थे जहाँ इस्तमरारी बंदोबस्त और रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू थी। ऐसे इलाकों को मानचित्र में भी अंकित कीजिए।

परियोजना कार्य (कोई एक)

11. फ्रांसिस बुकानन ने पूर्वी भारत के अनेक जिलों के बारे मे रिपोर्ट प्रकाशित की थीं। उनमें से एक रिपोर्ट पढ़िए और इस अध्याय में चर्चित विषयों पर ध्यान केंद्रित करते हुए उस रिपोर्ट में ग्रामीण समाज के बारे में उपलब्ध जानकारी को संकलित कीजिए। यह भी बताइए कि इतिहासकार लोग ऐसी रिपोर्टों का किस प्रकार उपयोग कर सकते हैं।
12. आप जिस क्षेत्र में रहते हैं, वहाँ के ग्रामीण समुदाय के वृद्धजनों से चर्चा कीजिए और उन खेतों में जाइए जिन्हें वे अब जोतते हैं। यह पता लगाइए कि वे क्या पैदा करते हैं, वे अपनी रोजी-रोटी कैसे कमाते हैं, उनके माता-पिता क्या करते थे, उनके बेटे-बेटियाँ अब क्या करती हैं और पिछले 75 सालों में उनके जीवन में क्या क्या परिवर्तन आए हैं। अपने निष्कर्षों के आधार पर एक रिपोर्ट तैयार कीजिए।

यदि आप और जानकारी चाहते हैं तो इन्हें पढ़िए :

सुगाता बोस, 1986
अग्रेरियन बंगाल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

फ्रांसिस बुकानन, 1930
जरनल ऑफ फ्रांसिस बुकानन केप्ट ड्यूरिंग दि सर्वे ऑफ दि डिस्ट्रिक्ट ऑफ भागलपुर, सुपरिंटेंडेंट, गवर्नमेंट प्रिंटिंग, बिहार और उड़ीसा, पटना

रामचन्द्र गुहा, 1989
दि अनक्वाइट वुड्स : इकोलॉजिकल चेंज एंड पीज़ेंट रेज़ीस्टेंट इन दि हिमालयाज़, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली

सुमित गुहा, 1985
दि अग्रेरियन इकोनॉमी ऑफ दि बॉम्बे डेक्कन, 1818-1941, पेंग्विन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली

रविन्द्र कुमार, 1968
वेस्ट्रन इंडिया इन दि नाइनटिंथ सेंचुरी : ए स्टडी इन दि सोशल हिस्ट्री ऑफ महाराष्ट्रा, लंदन : रूटलेज और केगन पॉल

रत्नलेखा राय, 1979
चेंज इन बेंगाल अग्रेरियन सोसाइटी, ई. 1760-1850, मनोहर, नयी दिल्ली

कुमार सुरेश सिंह, 1966
डस्ट-स्ट्रॉम एंड दि हेंगिंग मिस्ट : ए स्टडी ऑफ बिरसा मुंडा एंड हिज़ मूवमेंट इन छोटानागपुर (1874-1901), फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता

अध्याय ग्यारह

विद्रोही और राज
1857 का आंदोलन और उसके व्याख्यान

10 मई 1857 की दोपहर बाद मेरठ छावनी में सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। हलचल की शुरुआत भारतीय सैनिकों से बनी पैदल सेना से हुई थी जो जल्द ही घुड़सवार फ़ौज और फिर शहर तक फैल गई। शहर और आसपास के देहात के लोग सिपाहियों के साथ जुड़ गए। सिपाहियों ने शस्त्रागार पर क़ब्ज़ा कर लिया जहाँ हथियार और गोला-बारूद रखे हुए थे। इसके बाद उन्होंने गोरों पर निशाना साधा और उनके बंगलों, साजो-सामान को तहस-नहस करना और जलाना-फूँकना शुरू कर दिया। रिकॉर्ड दफ़्तर, जेल, अदालत, डाकखाने, सरकारी खजाने, जैसी सरकारी इमारतों को लूटकर तबाह किया जाने लगा। शहर को दिल्ली से जोड़ने वाली टेलीग्राफ़ लाइन काट दी गई। अँधेरा पसरते ही सिपाहियों का एक जत्था घोड़ों पर सवार होकर दिल्ली की तरफ़ चल पड़ा।

चित्र 11.1
बहादुर शाह का चित्र

यह जत्था 11 मई को तड़के लाल क़िले के फाटक पर पहुँचा। रमज़ान का महीना था। मुग़ल सम्राट बहादुर शाह नमाज़ पढ़कर और सहरी (रोज़े के दिनों में सूरज उगने से पहले का भोजन) खाकर उठे थे। उन्हें फाटक पर हो-हल्ला सुनाई दिया। बाहर खड़े सिपाहियों ने जानकारी दी कि "हम मेरठ के सभी अंग्रेज़ पुरुषों को मारकर आए हैं क्योंकि वे हमें गाय और सुअर की चर्बी में लिपटे कारतूस दाँतों से खींचने के लिए मजबूर कर रहे थे। इससे हिंदू और मुसलमान, सबका धर्म भ्रष्ट हो जाएगा।" तब तक सिपाहियों का एक और जत्था दिल्ली में दाखिल हो चुका था और शहर के आम लोग उनके साथ जुड़ने लगे थे। बहुत सारे यूरोपियन लोग मारे गए, दिल्ली के अमीर लोगों पर हमले हुए और लूटपाट हुई। दिल्ली अंग्रेज़ों के नियंत्रण से बाहर जा चुकी थी। कुछ सिपाही लाल क़िले में दाखिल होने के लिए दरबार के शिष्टाचार का पालन किए बिना बेधड़क क़िले में घुस गए थे। उनकी माँग थी कि बादशाह उन्हें अपना आशीर्वाद दें। सिपाहियों से घिरे बहादुर शाह के पास उनकी बात मानने के अलावा और कोई चारा न था। इस तरह इस विद्रोह ने एक वैधता हासिल कर ली क्योंकि अब उसे मुग़ल बादशाह के नाम पर चलाया जा सकता था।

12 और 13 मई को उत्तर भारत में शांति रही। लेकिन जैसे ही यह ख़बर फैली कि दिल्ली पर विद्रोहियों का क़ब्ज़ा हो चुका है और बहादुर शाह ने विद्रोह को अपना समर्थन दे दिया है, हालात तेज़ी से बदलने लगे। गंगा घाटी की छावनियों और दिल्ली के पश्चिम की कुछ छावनियों में विद्रोह के स्वर तेज़ होने लगे।

1. विद्रोह का ढर्रा

यदि इन विद्रोहों को तारीख़ के हिसाब से सिलसिलेवार रखा जाए तो ऐसा लगता है कि जैसे-जैसे विद्रोह की ख़बर एक शहर से दूसरे शहर में पहुँचती गई वैसे-वैसे सिपाही हथियार उठाते गए। हर छावनी में विद्रोह का घटनाक्रम कमोबेश एक जैसा था।

1.1 सैन्य विद्रोह कैसे शुरू हुए

सिपाहियों ने किसी न किसी विशेष संकेत के साथ अपनी कार्रवाई शुरू की। कई जगह शाम के समय तोप का गोला दाग़ा गया तो कहीं बिगुल बजाकर विद्रोह का संकेत दिया गया। सबसे पहले उन्होंने शस्त्रागार पर क़ब्ज़ा किया और सरकारी ख़ज़ाने को लूटा। इसके बाद उन्होंने जेल, सरकारी ख़ज़ाने, टेलीग्राफ़ दफ़्तर, रिकॉर्ड रूम, बंगलों, तमाम सरकारी इमारतों पर हमला किया और सारे रिकॉर्ड जलाते चले गए। गोरों से संबंधित हर चीज़ और हर शख़्स हमले का निशाना था। हिंदुओं और मुसलमानों, तमाम लोगों को एकजुट होने और फ़िरंगियों का सफ़ाया करने के लिए हिंदी, उर्दू और फ़ारसी में अपीलें जारी होने लगीं।

फ़िरंगी, फ़ारसी भाषा का शब्द है जो संभवत: फ़्रैंक (जिससे फ़्रांस का नाम पड़ा है) से निकला है। इसे उर्दू और हिंदी में पश्चिमी लोगों का मज़ाक उड़ाने के लिए कभी-कभी इसका प्रयोग अपमानजनक दृष्टि से भी किया जाता है।

विद्रोह में आम लोगों के भी शामिल हो जाने के साथ-साथ हमलों का दायरा फैल गया। लखनऊ, कानपुर और बरेली जैसे बड़े शहरों में साहूकार और अमीर भी विद्रोहियों के गुस्से का शिकार बनने लगे। किसान इन लोगों को न केवल अपना उत्पीड़क बल्कि अंग्रेज़ों का पिट्ठू मानते थे। ज़्यादातर जगह अमीरों के घर-बार लूटकर तबाह कर दिए गए। सिपाहियों की क़तारों में हुए इन छिटपुट विद्रोहों ने जल्दी ही एक चौतरफ़ा विद्रोह का रूप ले लिया। शासन की सत्ता और सोपानों की सरेआम अवहेलना होने लगी।

चित्र 11.2
लखनऊ में ब्रिटिश लोगों के ख़िलाफ़ हमलें में आम लोग भी सिपाहियों के साथ आ जुटते हैं।

मई-जून के महीनों में अंग्रेज़ों के पास विद्रोहियों की कार्रवाइयों का कोई जवाब नहीं था। अंग्रेज़ अपनी ज़िंदगी और घर-बार बचाने में फँसे हुए थे। जैसा कि एक ब्रिटिश अफ़सर ने लिखा, ब्रिटिश शासन "ताश के क़िले की तरह बिखर गया।"

स्रोत 1

असामान्य समय में सामान्य जीवन

विद्रोह के महीनों में शहरों में क्या हुआ? उथल-पुथल के उन दिनों में लोग अपनी ज़िंदगी कैसे जी रहे थे? सामान्य जीवन किस तरह प्रभावित हुआ? विभिन्न शहरों की रिपोर्टों से पता चलता है कि सामान्य गतिविधियाँ अस्त-व्यस्त हो गईं थीं। *दिल्ली उर्दू अख़बार*, 14 जून 1857 की इन रिपोर्टों को पढ़िए :

> यही हालात सब्ज़ियों और साग (पालक) के भी हैं। लोग इस बात पर शिकायत कर रहे हैं कि बाज़ारों में कद्दू और बैंगन तक नहीं मिलते। आलू और अरबी अगर मिलती भी हैं तो बासी, सड़ी जिसे कुँजड़ों (सब्ज़ी बेचने वाले) ने रोक कर (जमाकर) रखा हुआ था। शहर में स्थित बाग़-बगीचों से कुछ माल चंद इलाकों तक पहुँच जाता है लेकिन ग़रीब और मध्यवर्ग वाले उन्हें देखकर बस होठों पर जीभ फिरा कर रह जाते हैं (क्योंकि वे चीज़ें खास लोगों के लिए ही हैं)।
>
> ... यहाँ एक और चीज़ पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए जिससे लोगों को बड़ा नुकसान हो रहा है। मामला यह है कि पानी भरने वालों ने पानी भरना बंद कर दिया है। ग़रीब शुरफ़ा (कुलीन लोग) ख़ुद घड़ों में पानी भरकर लाते हैं और तब जाकर घर में खाना बनता है। हलालख़ोर हरामख़ोर हो गए हैं। कई दिनों से बहुत सारे मोहल्लों में कोई आमदनी नहीं हुई है और यही हालात बने रहे तो गंदगी, मौत और बीमारियाँ शहर की आबो-हवा ख़राब कर देंगी और शहर महामारी की गिरफ़्त में आ जाएगा, यहाँ तक कि आस-पास के इलाके भी उसकी चपेट में आ जाएँगे।

➲ इन दोनों रिपोर्टों तथा उस दौरान दिल्ली के हालात के बारे में इस अध्याय में दिए गए विवरणों को पढ़ें। याद रखें कि अख़बारों में छपी ख़बरें अकसर पत्रकार के पूर्वाग्रह या सोच से प्रभावित होती हैं। इस आधार पर बताएँ कि *दिल्ली उर्दू अख़बार* लोगों की गतिविधियों को किस नज़र से देखता था?

1.2 संचार के माध्यम

अलग-अलग स्थानों पर विद्रोह के ढर्रे में समानता की वजह आंशिक रूप से उसकी योजना और समन्वय में निहित थी। इसमें कोई शक नहीं कि विभिन्न छावनियों के सिपाहियों के बीच अच्छा संचार बना हुआ था। जब सातवीं अवध इर्रेग्युलर कैवेलरी ने मई की शुरुआत में नए कारतूसों का इस्तेमाल करने से इनकार कर दिया तो उन्होंने 48 नेटिव इन्फेंट्री को लिखा कि "हमने अपने धर्म की रक्षा के लिए यह फ़ैसला लिया है और 48 नेटिव इन्फेंट्री के हुक्म का इंतज़ार कर रहे हैं।" सिपाही या उनके संदेशवाहक एक जगह से दूसरी जगह जा रहे थे। लब्बोलुआब ये कि लोग बस बग़ावत के मंसूबे गढ़ रहे थे और उसी के बारे में बात करते थे।

स्रोत 2

सिस्टन और तहसीलदार

विद्रोह और सैनिक अवज्ञा के संदर्भ में सीतापुर के देसी ईसाई पुलिस इंसपेक्टर फ्रांस्वाँ सिस्टन का अनुभव हमें बहुत कुछ बताता है। वह मजिस्ट्रेट के पास शिष्टाचारवश मिलने सहारनपुर गया हुआ था। सिस्टन हिंदुस्तानी कपड़े पहने था और आलथी-पालथी मारकर बैठा था। इसी बीच बिजनौर का एक मुस्लिम तहसीलदार कमरे में दाखिल हुआ। जब उसे पता चला कि सिस्टन अवध में तैनात है तो उसने पूछा, "क्या ख़बर है अवध की? काम कैसा चल रहा है?" सिस्टन ने कहा, "अगर हमें अवध में काम मिलता है तो जनाब-ए-आली को भी पता चल जाएगा।" इस पर तहसीलदार ने कहा, "भरोसा रखो, इस बार हम कामयाब होंगे। मामला काबिल हाथों में है।" बाद में पता चला कि यह तहसीलदार बिजनौर के विद्रोहियों का सबसे बड़ा नेता था।

➲ विद्रोही अपनी योजनाओं को किस तरह एक-दूसरे तक पहुँचाते थे, इस बारे में इस बातचीत से क्या पता चलता है?
तहसीलदार ने सिस्टन को संभावित विद्रोही क्यों मान लिया था?

विद्रोहों की बनावट और जिन साक्ष्यों के आधार पर ऐसा लगता है कि इन विद्रोहों में एक योजना और समन्वय था, उनको देखकर कुछ अहम सवाल खड़े होते हैं। ये योजनाएँ कैसे बनाई गईं? योजनाकार कौन थे? मौजूदा दस्तावेज़ों के आधार पर इन सवालों के सीधे-सीधे जवाब देना कठिन है। फिर भी, एक घटना इस बारे में कुछ सुराग़ ज़रूर देती है कि ये विद्रोह इतने सुनियोजित कैसे थे। विद्रोह के दौरान अवध मिलिट्री पुलिस के कैप्टेन हियर्से की सुरक्षा का ज़िम्मा भारतीय सिपाहियों पर था। जहाँ कैप्टेन हियर्से तैनात था वहीं 41वीं नेटिव इन्फेंट्री भी तैनात थी। इन्फेंट्री की दलील थी कि क्योंकि वे अपने तमाम गोरे अफ़सरों को ख़त्म कर चुके हैं इसलिए अवध मिलिट्री का फ़र्ज़ बनता है कि या तो वे हियर्से को मौत की नींद सुला दें या उसे गिरफ़्तार करके 41वीं नेटिव इन्फेंट्री के हवाले कर दें। मिलिट्री पुलिस ने दोनों दलीलें ख़ारिज कर दीं। अब यह तय किया गया कि इस मामले को हल करने के लिए हर रेजीमेंट के देशी अफ़सरों की एक पंचायत बुलाई जाए। इस विद्रोह के शुरुआती इतिहासकारों में से एक, चार्ल्स बॉल ने लिखा है कि ये पंचायतें रात को कानपुर सिपाही लाइनों में जुटती थीं। इसका मतलब है कि सामूहिक रूप से कुछ फ़ैसले ज़रूर लिए जा रहे थे। क्योंकि सिपाही लाइनों में रहते थे और सभी की जीवनशैली एक जैसी थी और क्योंकि उनमें बहुत सारे प्राय: एक ही जाति के होते थे इसलिए इस बात का अंदाज़ा लगाना मुश्किल नहीं है कि वे इकट्ठा बैठकर अपने भविष्य के बारे में फ़ैसले ले रहे होंगे। ये सिपाही अपने विद्रोह के कर्ताधर्ता खुद ही थे।

चित्र 11.3
रानी लक्ष्मीबाई, एक प्रचलित चित्र

चित्र 11.4
नाना साहिब
1858 के अंत में जब विद्रोह विफल हो गया तो नाना साहिब भाग कर नेपाल चले गए। उनके भागने की घटना को नाना साहिब के साहस और बहादुरी की कहानी का हिस्सा बताया जाता है।

1.3 नेता और अनुयायी

अंग्रेज़ों से लोहा लेने के लिए नेतृत्व और संगठन ज़रूरी थे। इन लक्ष्यों को हासिल करने के लिए विद्रोहियों ने कई बार ऐसे लोगों की शरण ली जो अंग्रेज़ों से पहले नेताओं की भूमिका निभाते थे। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, मेरठ के सिपाहियों ने सबसे पहले जो काम किए उनमें एक यह था कि वे फ़ौरन दिल्ली गए और उन्होंने बूढ़े हो चुके मुग़ल बादशाह से विद्रोह का नेतृत्व स्वीकार करने की दरख़्वास्त की। लेकिन इस निवेदन पर सहमति हासिल करने में भी वक़्त लगा। बहादुर शाह इस ख़बर पर भयभीत और बैचेन दिखाई दिए। बहादुर शाह ने नाममात्र का नेता बनने की ज़िम्मेदारी भी तब स्वीकार की जब कुछ सिपाही शाही शिष्टाचार की अवहेलना करते हुए जबरन लाल क़िले के मुग़ल दरबार में जा घुसे और बहादुर शाह के पास वाकई कोई चारा नहीं बचा था।

अन्य स्थानों पर भी, छोटे पैमाने पर ही सही, इसी तरह के दृश्य घट चुके थे। कानपुर में सिपाहियों और शहर के लोगों ने पेशवा बाजीराव द्वितीय के उत्तराधिकारी नाना साहिब के सामने बग़ावत की बागडोर संभालने के सिवा और कोई विकल्प ही नहीं छोड़ा था। झाँसी में रानी को आम जनता के दवाब में बग़ावत का नेतृत्व सँभालना पड़ा। कुछ ऐसी ही स्थिति बिहार में आरा के स्थानीय ज़मींदार कुँवर सिंह की थी। अवध में नवाब वाजिद अली शाह जैसे लोकप्रिय शासक को गद्दी से हटा दिए जाने और उनके राज्य पर क़ब्ज़ा कर लेने की यादें लोगों के ज़हन में अभी भी ताज़ा थीं। लखनऊ में ब्रिटिश राज के ढहने की ख़बर पर लोगों ने नवाब के युवा बेटे बिरजिस क़द्र को अपना नेता घोषित कर दिया था।

सभी जगहों पर नेता दरबारों से जुड़े व्यक्ति–रानियाँ, राजा, नवाब, ताल्लुक़दार–नहीं थे। अकसर विद्रोह का संदेश आम पुरुषों एवं महिलाओं के ज़रिए और कुछ स्थानों पर धार्मिक लोगों के ज़रिए भी फैल रहा था। मेरठ से इस आशय की ख़बरें आ रही थीं कि वहाँ हाथी पर सवार एक फ़क़ीर को देखा गया था जिससे सिपाही बार-बार मिलने जाते थे। लखनऊ में अवध पर क़ब्ज़े के बाद बहुत सारे धार्मिक नेता और स्वयंभू पैगम्बर-प्रचारक ब्रिटिश राज को नेस्तनाबूद करने का अलख जगा रहे थे।

अन्य स्थानों पर किसानों, ज़मींदारों और आदिवासियों को विद्रोह के लिए उकसाते हुए कई स्थानीय नेता सामने आ चुके थे। शाह मल ने उत्तर प्रदेश में बड़ौत परगना के गाँव वालों को संगठित किया। छोटा नागपुर स्थित सिंहभूम के एक आदिवासी काश्तकार गोनू ने इलाके के कोल आदिवासियों का नेतृत्व सँभाला हुआ था।

स्रोत 3

1857 के दो विद्रोही

शाह मल

शाह मल उत्तर प्रदेश के बड़ौत परगना के एक बड़े गाँव के रहने वाले थे। वह एक जाट कुटुम्ब से संबंध रखते थे जो चौरासी देस (चौरासी गाँव) में फैला हुआ था। इस इलाके की ज़मीन सिंचाई की सुविधाओं से लैस और उपजाऊ थी। यहाँ कि मिट्टी काली नम थी। बहुत सारे ग्रामीण संपन्न थे और लोग ब्रिटिश भूराजस्व व्यवस्था को दमनकारी मानते थे : लगान की दर ज़्यादा और वसूली सख़्त थी। नतीजा यह था कि किसानों की ज़मीन बाहरी लोगों के हाथ में जा रही थी। इलाक़े में आने वाले व्यापारी और महाजन ज़मीन पर क़ब्ज़ा करते जा रहे थे।

शाह मल ने चौरासी देस के मुखियाओं और काश्तकारों को संगठित किया। इसके लिए उन्होंने रात के साए में गाँव-गाँव जाकर बात की और लोगों को अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह के लिए तैयार किया। बहुत सारे दूसरे स्थानों की तरह यहाँ भी अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ आंदोलन एक व्यापक विद्रोह में तब्दील हो गया। अब विरोध उत्पीड़न और अन्याय के तमाम चिह्नों के ख़िलाफ़ होने लगा। किसान अपने खेत छोड़कर निकल पड़े और महाजनों व व्यापारियों के घर-बार लूटने लगे। बेदख़ल भूस्वामियों ने छिन चुकी ज़मीनों पर दोबारा क़ब्ज़ा कर लिया। शाह मल के आदमियों ने सरकारी इमारतों पर हमला किया, नदी का पुल ध्वस्त कर दिया और पक्की सड़कों को खोद डाला। इसकी एक वजह यह थी कि वे सरकारी फ़ौजों का रास्ता रोकना चाहते थे। दूसरी वजह यह थी कि पुलों और सड़कों को ब्रिटिश शासन का प्रतीक माना जाता था। उन्होंने दिल्ली में विद्रोह करने वाले सिपाहियों को रसद पहुँचाई और ब्रिटिश हेडक्वार्टर व मेरठ के बीच तमाम सरकारी संचार बंद कर दिया। स्थानीय स्तर पर राजा कहलाने वाले शाह मल ने एक अंग्रेज़ अफ़सर के बंगले में डेरा डाला, उसे "न्याय भवन" का नाम दिया और वहीं से झगड़ों और विवादों का फ़ैसला करने लगे। उन्होंने गुप्तचरी का भी हैरतअंगेज़ नेटवर्क स्थापित कर लिया था। कुछ समय के लिए लोगों को लगा कि फ़िरंगी राज ख़त्म हो चुका है और उनका राज आ गया है। जुलाई 1857 में शाह मल को युद्ध में मार दिया गया।

मौलवी अहमदुल्ला शाह

मौलवी अहमदुल्ला शाह 1857 के विद्रोह में अहम भूमिका निभाने वाले बहुत सारे मौलवियों मे से एक थे। हैदराबाद में शिक्षित शाह काफ़ी कम उम्र में ही उपदेशक बन गए थे। 1856 में उन्हें अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ जिहाद का प्रचार करते और लोगों को विद्रोह के लिए तैयार करते हुए गाँव-गाँव जाते देखा गया था। वे एक पालकी में बैठकर चलते थे। पालकी के आगे-आगे ढोल और पीछे उनके समर्थक होते थे। इसीलिए उन्हें लोग-बाग डंका शाह कहने लगे थे। ब्रिटिश अफ़सर इस बात से परेशान थे कि मौलवी के साथ हज़ारों लोग जुट रहे थे और बहुत सारे मुसलमान उन्हें पैगम्बर मानने लगे थे और समझते थे कि वह इस्लाम के आदर्शों से ओतप्रोत हैं। जब 1856 में वे लखनऊ पहुँचे तो पुलिस ने उन्हें शहर में उपदेश देने से रोक दिया। 1857 में उन्हें फ़ैज़ाबाद जेल में बंद कर दिया गया। रिहा होने पर उन्हें 22वीं नेटिव इन्फेंट्री के विद्रोहियों ने अपना नेता चुन लिया। उन्होंने चिनहाट के विख्यात संघर्ष में हिस्सा लिया जिसमें हेनरी लॉरेंस की अगुवाई वाली टुकड़ियों को मुँह की खानी पड़ी। मौलवी साहब को उनकी बहादुरी और ताकत के लिए जाना जाता था। बहुत सारे लोग मानते थे कि उनको कोई नहीं हरा सकता; उनके पास जादुई शक्तियाँ हैं और अंग्रेज़ उनका बाल भी बाँका नहीं कर सकते। काफ़ी हद तक इसी विश्वास के कारण उन्हें लोगों में इतना अधिकार प्राप्त था।

चित्र 11.5
हेनरी हार्डिंग, फ्रांसेस ग्रांट द्वारा बनाया चित्र, 1849
गवर्नर जनरल के तौर पर हार्डिंग ने सैनिक साज़ो-सामान के आधुनिकीकरण का प्रयास किया। उसने जिन एन्फ़ील्ड राइफ़लों का इस्तेमाल शुरू किया उनमें चिकने कारतूसों का इस्तेमाल होता था जिनके ख़िलाफ़ सिपाहियों ने विद्रोह किया था।

1.4 अफ़वाहें और भविष्यवाणियाँ

तरह-तरह की अफ़वाहों और भविष्यवाणियों के ज़रिए लोगों को उठ खड़ा होने के लिए उकसाया जा रहा था। जैसा कि हमने पीछे देखा, मेरठ से दिल्ली आने वाले सिपाहियों ने बहादुर शाह को उन कारतूसों के बारे में बताया था जिन पर गाय और सुअर की चर्बी का लेप लगा था। उनका कहना था कि अगर वे इन कारतूसों को मुँह से लगाएँगे तो उनकी जाति और मज़हब, दोनों भ्रष्ट हो जाएँगे। सिपाहियों का इशारा एन्फ़ील्ड राइफ़ल के उन कारतूसों की तरफ़ था जो हाल ही में उन्हें दिए गए थे। अंग्रेज़ों ने सिपाहियों को लाख समझाया कि ऐसा नहीं है लेकिन यह अफ़वाह उत्तर भारत की छावनियों में जंगल की आग की तरह फैलती चली गई।

इस अफ़वाह का स्रोत ढूँढा जा सकता है। राइफ़ल इंस्ट्रक्शन डिपो के कमांडेंट कैप्टेन राइट ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि दम दम स्थित शस्त्रागार में काम करने वाले "नीची जाति" के एक खलासी ने जनवरी 1857 के तीसरे हफ़्ते में एक ब्राह्मण सिपाही से पानी पिलाने के लिए कहा था। ब्राह्मण सिपाही ने यह कहकर अपने लोटे से पानी पिलाने से इनकार कर दिया कि "नीची जाति" के छूने से लोटा अपवित्र हो जाएगा। रिपोर्ट के मुताबिक, इस पर खलासी ने जवाब दिया कि "(वैसे भी) जल्दी ही तुम्हारी जाति भ्रष्ट होने वाली है क्योंकि अब तुम्हें गाय और सुअर की चर्बी लगे कारतूसों को मुँह से खींचना पड़ेगा।" इस रिपोर्ट की विश्वसनीयता के बारे में कहना मुश्किल है लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि जब एक बार यह अफ़वाह फैलना शुरू हुई तो अंग्रेज़ अफ़सरों के तमाम आश्वासनों के बावजूद इसे ख़त्म नहीं किया जा सका और इसने सिपाहियों में एक गहरा ग़ुस्सा पैदा कर दिया।

1857 की शुरुआत तक उत्तर भारत में यही एक अफ़वाह नहीं थी। यह अफ़वाह भी ज़ोरों पर थी कि अंग्रेज़ सरकार ने हिंदुओं और मुसलमानों की जाति और धर्म को नष्ट करने के लिए एक भयानक साज़िश रच ली है। अफ़वाह फैलाने वालों का कहना था कि इसी मकसद को हासिल करने के लिए अंग्रेज़ों ने बाज़ार में मिलने वाले आटे में गाय और सुअर की हड्डियों का चूरा मिलवा दिया है। शहरों और छावनियों में सिपाहियों और आम लोगों ने आटे को छूने से भी इनकार कर दिया। चारों तरफ़ इस आशय का भय और शक बना हुआ था कि अंग्रेज़ हिंदुस्तानियों को ईसाई बनाना चाहते हैं। यह बेचैनी बहुत तेज़ी से फैली। ब्रिटिश अफ़सरों ने लोगों को अपनी बात का यकीन दिलाने का भरसक प्रयास किया लेकिन नाकामयाब रहे। इन्हीं बेचैनियों ने लोगों को अगला कदम उठाने के लिए झिंझोड़ा। किसी बड़ी कार्रवाई के आह्वान को इस भविष्यवाणी से और बल मिला कि प्लासी की जंग के 100 साल पूरा होते ही 23 जून 1857 को अंग्रेज़ी राज ख़त्म हो जाएगा।

बात सिर्फ़ अफ़वाहों तक ही सीमित नहीं थी। उत्तर भारत के विभिन्न भागों से गाँव-गाँव में चपातियाँ बँटने की भी रिपोर्टें आ रही थीं। बताते हैं कि रात में एक आदमी आकर गाँव के चौकीदार को एक चपाती तथा पाँच और चपातियाँ बनाकर अगले गाँवों में पहुँचाने का निर्देश दे जाता था। और यह सिलसिला यूँ ही चलता जाता था। चपातियाँ बाँटने का मतलब और मक़सद न उस समय स्पष्ट था और न आज स्पष्ट है। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि लोग इसे किसी आने वाली उथल-पुथल का संकेत मान रहे थे।

1.5 लोग अफ़वाहों में विश्वास क्यों कर रहे थे?

इतिहास में अफ़वाहों और भविष्यवाणियों की ताकत को सिर्फ़ इस आधार पर नहीं समझा जा सकता कि वे वाकई में सच थीं या नहीं। हमें देखना यह चाहिए कि जो उन पर यकीन कर रहे थे उनकी मानसिकता के बारे में इनसे क्या पता चलता है; ये अफ़वाहें और भविष्यवाणियाँ उनके भय, उनकी आशंकाओं, उनके विश्वासों और प्रतिबद्धताओं के बारे में क्या बताती हैं। अफ़वाह तभी फैलती है जब उसमें लोगों के ज़हन में गहरे दबे डर और संदेह की अनुगूँज सुनाई देती है।

अगर 1857 की इन अफ़वाहों को 1820 के दशक से अंग्रेज़ों द्वारा अपनाई जा रही नीतियों के संदर्भ में देखा जाए तो उनका मतलब ज़्यादा आसानी से समझा जा सकता है। जैसा कि आपको मालूम होगा, गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिंक के नेतृत्व में उसी समय से ब्रिटिश सरकार पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी विचारों और पश्चिमी संस्थानों के ज़रिए भारतीय समाज को "सुधारने" के लिए खास तरह की नीतियाँ लागू कर रही थी। भारतीय समाज के कुछ तबकों की सहायता से उन्होंने अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय स्थापित किए थे जिनमें पश्चिमी विज्ञान और उदार कलाओं (Liberal Arts) के बारे में पढ़ाया जाता था। अंग्रेज़ों ने सती प्रथा को ख़त्म करने (1829) और हिंदू विधवा विवाह को वैधता देने के लिए क़ानून बनाए थे।

शासकीय दुर्बलता और दत्तकता को अवैध घोषित कर देने जैसे बहानों के ज़रिए अंग्रेज़ों ने न केवल अवध बल्कि झाँसी और सतारा जैसी बहुत सारी दूसरी रियासतों को भी क़ब्ज़े में ले लिया था। जैसे ही ऐसी कोई रियासत या इलाका उनके क़ब्ज़े में आता था, वहाँ अंग्रेज़ अपने ढंग की शासन व्यवस्था, अपने क़ानून, भूमि विवादों के निपटारे की अपनी पद्धति और भूराजस्व वसूली की अपनी व्यवस्था लागू कर देते थे। उत्तर भारत के लोगों पर इन सब कार्रवाइयों का गहरा असर हुआ।

लोगों को लगता था कि वे अब तक जिन चीज़ों की क़द्र करते थे, जिनको पवित्र मानते थे – चाहे राजे-रजवाड़े हों, सामाजिक-धार्मिक रीति-रिवाज हों या भूस्वामित्व, लगान अदायगी की प्रणाली हो – उन सबको ख़त्म करके एक ऐसी व्यवस्था लागू की जा रही थी जो ज़्यादा हृदयहीन, परायी और दमनकारी थी।

➲ चर्चा कीजिए...

इस भाग को एक बार और पढ़िए तथा विद्रोह के दौरान नेता कैसे उभरते थे, इस बारे में समानताओं और भिन्नताओं की व्याख्या कीजिए। किन्हीं दो नेताओं के बारे में बताइए कि आम लोग उनकी तरफ़ क्यों आकर्षित हो जाते थे।

इस सोच को ईसाई प्रचारकों की गतिविधियों से भी बल मिल रहा था। ऐसे अनिश्चित हालात में अफ़वाहें रातोंरात फैलने लगती थीं।

सन 1857 के विद्रोह के आधार का विस्तार से पता लगाने के लिए आइए अवध का ज़रा नज़दीकी से अध्ययन कीजिए। अवध 1857 के इस भव्य नाटक का बड़ा केंद्र था।

2. अवध में विद्रोह

2.1 "ये गिलास फल (Cherry) एक दिन हमारे ही मुँह में आकर गिरेगा।"

रेज़ीडेंट गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि को कहा जाता था। उसे ऐसे राज्य में तैनात किया जाता था जो अंग्रेज़ों के प्रत्यक्ष शासन के अंतर्गत नहीं था।

1851 में गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौज़ी ने अवध की रियासत के बारे में कहा था कि "ये गिलास फल एक दिन हमारे ही मुँह में आकर गिरेगा।" पाँच साल बाद, 1856 में इस रियासत को औपचारिक रूप से ब्रिटिश साम्राज्य का अंग घोषित कर दिया गया।

रियासत पर क़ब्ज़े का यह सिलसिला ज़रा लंबा चला। 1801 से अवध में सहायक संधि थोप दी गई थी। इस संधि में शर्त थी कि नवाब अपनी सेना ख़त्म कर दे, रियासत में अंग्रेज़ टुकड़ियों की तैनाती की इजाज़त दे और दरबार में मौजूद ब्रिटिश रेज़ीडेंट की सलाह पर काम करे। अपनी सैनिक ताक़त से वंचित हो जाने के बाद नवाब अपनी रियासत में क़ानून-व्यवस्था बनाए रखने के लिए दिनोदिन अंग्रेज़ों पर निर्भर होता जा रहा था। अब विद्रोही मुखियाओं और ताल्लुक़दारों पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था।

अवध पर क़ब्ज़े में अंग्रेज़ों की दिलचस्पी बढ़ती जा रही थी। उन्हें लगता था कि वहाँ की ज़मीन नील और कपास की खेती के लिए मुफ़ीद है और इस इलाक़े को उत्तरी भारत के एक बड़े बाज़ार के रूप में विकसित किया जा सकता है। 1850 के दशक की शुरुआत तक वे देश के ज़्यादातर बड़े हिस्सों पर जीत हासिल कर चुके थे। मराठा भूमि, दोआब, कर्नाटक, पंजाब और बंगाल, सब अंग्रेज़ों की झोली में थे। तक़रीबन एक सदी पहले बंगाल पर जीत के साथ शुरू हुई क्षेत्रीय विस्तार की यह प्रक्रिया 1856 में अवध के अधिग्रहण के साथ मुकम्मल हो जाने वाली थी।

सहायक संधि

सहायक संधि लॉर्ड वेलेज़्ली द्वारा 1798 में तैयार की गई एक व्यवस्था थी। अंग्रेज़ों के साथ यह संधि करने वालों को कुछ शर्तें माननी पड़ती थीं। मसलन :

(क) अंग्रेज़ अपने सहयोगी की बाहरी और आंतरिक चुनौतियों से रक्षा करेंगे;

(ख) सहयोगी पक्ष के भूक्षेत्र में एक ब्रिटिश सैनिक टुकड़ी तैनात रहेगी;

(ग) सहयोगी पक्ष को इस टुकड़ी के रख-रखाव की व्यवस्था करनी होगी; तथा

(घ) सहयोगी पक्ष न तो किसी और शासक के साथ संधि कर सकेगा और न ही अंग्रेज़ों की अनुमति के बिना किसी युद्ध में हिस्सा लेगा।

2.2 "देह से जान जा चुकी थी।"

लॉर्ड डलहौज़ी द्वारा किए गए इस अधिग्रहण से तमाम इलाक़ों और रियासतों में गहरा असंतोष था। लेकिन इतना गुस्सा कहीं नहीं था जैसा उत्तर भारत की शान कहे जाने वाले अवध की रियासत में था। यहाँ के नवाब वाजिद अली शाह को यह कहते हुए गद्दी से हटा कर कलकत्ता निष्कासित कर दिया गया था कि वह अच्छी तरह शासन नहीं चला रहे थे। ब्रिटिश सरकार ने यह निराधार निष्कर्ष भी निकाल लिया कि वाजिद

मानचित्र 1
1857 में भारतीय उपमहाद्वीप।

अली शाह लोकप्रिय नहीं थे। मगर सच यह है कि लोग उन्हें दिल से चाहते थे। जब वे अपने प्यारे लखनऊ से विदा ले रहे थे तो बहुत सारे लोग विलाप करते हुए कानपुर तक उनके पीछे गए थे।

नवाब के निष्कासन से पैदा हुए दुख और अपमान के इस व्यापक अहसास को उस समय के बहुत सारे प्रेक्षकों ने दर्ज किया है। एक ने लिखा था : "देह से जान जा चुकी थी। शहर की काया बेजान थी...। कोई सड़क, कोई बाज़ार और घर ऐसा न था जहाँ से जान-ए-आलम से बिछड़ने पर विलाप का शोर न गूँज रहा हो।" एक लोक गीत में इस बात पर शोक व्यक्त किया गया कि *"अंगरेज बहादुर आइन, मुल्क लई लीन्हों।"*

इस भावनात्मक उथल-पुथल को भौतिक क्षति के अहसास से और बल मिला। नवाब को हटाए जाने से दरबार और उसकी संस्कृति भी ख़त्म हो गई। संगीतकारों, नर्तकों, कवियों, कारीगरों, बावर्चियों, नौकरों, सरकारी कर्मचारियों और बहुत सारे लोगों की रोज़ी-रोटी जाती रही।

स्रोत 3

नवाब साहब जा चुके हैं

एक और गीत में ऐसे शासक की दुर्दशा पर विलाप किया जा रहा है जिसे मजबूरन अपनी मातृभूमि छोड़नी पड़ी :

अभिजात और किसान, सब रो रहे थे।

और सारा आलम रोता-चिल्लाता था।

हाय! जान-ए-आलम देस से विदा लेकर परदेस चले गए हैं।

➲ इस पूरे भाग को पढ़ें और चर्चा करें कि लोग वाजिद अली शाह की विदाई पर इतने दुखी क्यों थे।

चित्र 11.6
अवध का एक ज़मींदार, 1880

2.3 फ़िरंगी राज का आना और एक दुनिया का ख़ात्मा

अवध में विभिन्न प्रकार की पीड़ाओं ने राजकुमारों, ताल्लुक़दारों, किसानों और सिपाहियों को एक-दूसरे से जोड़ दिया था। वे सभी फिरंगी राज के आगमन को विभिन्न अर्थों में एक दुनिया की समाप्ति के रूप में देखने लगे थे। वे चीज़ें बिखर रही थीं जो लोगों के लिए बहुमूल्य थीं, जिनको वे प्यार करते थे। 1857 के विद्रोह में तमाम भावनाएँ और मुद्दे, परंपराएँ और निष्ठाएँ अभिव्यक्त हो रही थीं। बाकी जगहों के मुकाबले अवध में यह विद्रोह एक विदेशी शासन के ख़िलाफ़ लोक-प्रतिरोध की अभिव्यक्ति बन गया था।

अवध के अधिग्रहण से सिर्फ़ नवाब की ही गद्दी नहीं छिनी थी। इसने इलाके के ताल्लुक़दारों को भी लाचार कर दिया था। अवध के समूचे देहात में ताल्लुक़दारों की जागीरें और क़िले बिखरे हुए थे। ये लोग पीढ़ियों से अपने इलाक़े में ज़मीन और सत्ता पर नियंत्रण रखते आए थे। अंग्रेज़ों के आने से पहले ताल्लुक़दारों के पास हथियारबंद सिपाही होते थे। उनके अपने क़िले थे। अगर वे नवाब की संप्रभुता को स्वीकार कर लें और अपने ताल्लुक़दार का राजस्व चुकाते रहें तो उनके पास काफ़ी स्वायत्तता भी होती थी। कुछ बड़े ताल्लुक़दारों के पास तो 12,000 तक पैदल सिपाही होते थे। छोटे-मोटे ताल्लुक़दारों के पास भी 200 सिपाहियों की टुकड़ी तो होती ही थी। अंग्रेज़ इन ताल्लुक़दारों की सत्ता को बरदाश्त करने के लिए कतई तैयार नहीं थे। अधिग्रहण के फौरन बाद ताल्लुक़दारों की सेनाएँ भंग कर दी गईं। उनके दुर्ग ध्वस्त कर दिए गए।

ब्रिटिश भूराजस्व नीति ने ताल्लुक़दारों की हैसियत व सत्ता को और चोट पहुँचाई। अधिग्रहण के बाद 1856 में एकमुश्त बंदोबस्त के नाम से ब्रिटिश भूराजस्व व्यवस्था लागू कर दी गई। यह बंदोबस्त इस मान्यता पर आधारित था कि ताल्लुक़दार बिचौलिए थे जिनके पास ज़मीन का मालिकाना नहीं था। उन्होंने बल और धोखाधड़ी के ज़रिए अपना प्रभुत्व स्थापित किया हुआ था। एकमुश्त बंदोबस्त में ताल्लुक़दारों को उनकी ज़मीनों से बेदखल किया जाने लगा। आंकड़ों से पता चलता है कि अंग्रेज़ों के आने से पहले ताल्लुक़दारों के पास अवध के 67 प्रतिशत गाँव थे। एकमुश्त बंदोबस्त के लागू होने के बाद यह संख्या घटकर 38 प्रतिशत रह गई। दक्षिण अवध के ताल्लुक़दारों को सबसे बुरी मार पड़ी। कुछ के तो आधे से ज़्यादा गाँव हाथ से जाते रहे।

ब्रिटिश भूराजस्व अधिकारियों का मानना था कि ताल्लुक़दारों को हटाकर वे ज़मीन असली मालिकों के हाथ में सौंप देंगे जिससे किसानों के शोषण में कमी आएगी और राजस्व वसूली में इजाफ़ा होगा। वास्तव में ऐसा नहीं हुआ। भूराजस्व वसूली में तो इजाफ़ा हुआ लेकिन किसानों के बोझ में कमी नहीं आई। अधिकारियों को जल्दी ही समझ में आने

लगा कि अवध के बहुत सारे इलाक़े का मूल्य निर्धारण बहुत बढ़ा-चढ़ा कर किया गया था। कुछ स्थानों पर तो राजस्व माँग में 30 से 70 प्रतिशत तक इज़ाफ़ा हो गया था। यानी न तो ताल्लुक़दारों के पास और न ही काश्तकारों के पास इस अधिग्रहण पर ख़ुशी जताने का कोई कारण था।

ताल्लुक़दारों की सत्ता छिनने का नतीजा यह हुआ कि एक पूरी सामाजिक व्यवस्था भंग हो गई। निष्ठा और संरक्षण के जिन बंधनों से किसान ताल्लुक़दारों के साथ बँधे हुए थे वे अस्त-व्यस्त हो गए। अंग्रेज़ों से पहले ताल्लुक़दार ही जनता का उत्पीड़न करते थे लेकिन जनता की नज़र में बहुत सारे ताल्लुक़दार दयालु अभिभावक की छवि भी रखते थे। वे किसानों से तरह-तरह के मद में पैसा तो वसूलते थे लेकिन बुरे वक़्त में किसानों की मदद भी करते थे। अब अंग्रेज़ों के राज में किसान मनमाने राजस्व आकलन और गैर-लचीली राजस्व व्यवस्था के तहत बुरी तरह पिसने लगे थे। अब इस बात की कोई गारंटी नहीं थी कि कठिन वक़्त में या फ़सल खराब हो जाने पर सरकार राजस्व माँग में कोई कमी करेगी या वसूली को कुछ समय के लिए टाल दिया जाएगा। ना ही किसानों को इस बात की उम्मीद थी कि तीज-त्यौहारों पर कोई क़र्जा और मदद मिल पाएगी जो पहले ताल्लुक़दारों से मिल जाती थी।

अवध जैसे जिन इलाकों में 1857 के दौरान प्रतिरोध बेहद सघन और लंबा चला था वहाँ लड़ाई की बागडोर असल में ताल्लुक़दारों और उनके किसानों के ही हाथों में थी। बहुत सारे ताल्लुक़दार अवध के नवाब के प्रति निष्ठा रखते थे इसलिए वे अंग्रेज़ों से लोहा लेने के लिए लखनऊ जाकर बेगम हज़रत महल (नवाब की पत्नी) के खेमे में शामिल हो गए। उनमें से कुछ तो बेगम की पराजय के बाद भी उनके साथ डटे रहे।

किसानों का असंतोष अब फ़ौजी बैरकों में भी पहुँचने लगा था क्योंकि बहुत सारे किसान अवध के गाँवों से ही भर्ती किए गए थे। दशकों से सिपाही कम वेतन और वक़्त पर छुट्टी न मिलने के कारण असंतुष्ट थे। 1850 के दशक तक आते-आते उनके असंतोष के कई नए कारण पैदा हो चुके थे।

1857 के जनविद्रोह से पहले के सालों में सिपाहियों के अपने गोरे अफ़सरों के साथ रिश्ते काफ़ी बदल चुके थे। 1820 के दशक में अंग्रेज़ अफ़सर सिपाहियों के साथ दोस्ताना ताल्लुक़ात रखने पर ख़ासा ज़ोर देते थे। वे उनकी मौजमस्ती में शामिल होते थे, उनके साथ मल्ल-युद्ध करते थे, उनके साथ तलवारबाज़ी करते थे और उनके साथ शिकार पर जाते थे। उनमें से बहुत सारे तो बख़ूबी हिंदुस्तानी बोलना जानते थे और यहाँ के रीति-रिवाजों व संस्कृति से वाकिफ़ थे। उनमें

स्रोत 4

ताल्लुक़दारों की सोच

ताल्लुक़दारों के रवैये को रायबरेली के पास स्थित कालाकंकर के राजा हनवन्त सिंह ने सबसे अच्छी तरह व्यक्त किया था। विद्रोह के दौरान हनवन्त सिंह ने एक अंग्रेज़ अफ़सर को पनाह दी और उसे सुरक्षित स्थान तक पहुँचाया था। उस अफ़सर से आख़िरी मुलाकात में हनवन्त सिंह ने कहा कि –

> साहिब, आपके मुल्क के लोग हमारे देश में आए और उन्होंने हमारे राजाओं को खदेड़ दिया। आप अफ़सरों को भेज कर जिले-जिले में जागीरों के मालिकाने की जाँच करवाते हैं। एक ही झटके में आपने मेरे पुरखों की ज़मीन मुझसे छीन ली। मैं चुप रहा। फिर अचानक आपका बुरा वक़्त शुरू हो गया। यहाँ के लोग आपके ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए। तब आप मेरे पास आए, जिसे आपने बर्बाद किया था। मैंने आप की जान बचाई है। लेकिन अब,– अब मैं अपने सिपाहियों को लेकर लखनऊ जा रहा हूँ ताकि आपको देश से खदेड़ सकूँ।

➲इस अंश से आपको ताल्लुक़दारों के रवैये के बारे में क्या पता चल रहा है? 'यहाँ के लोगों' से हनवन्त सिंह का क्या आशय था? उन्होंने लोगों के ग़ुस्से की क्या वजह बताई?

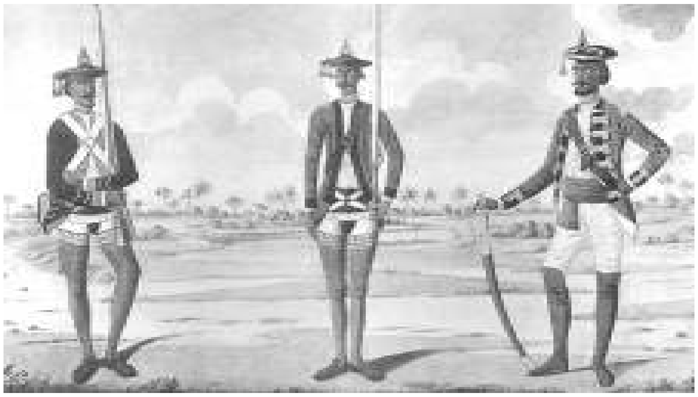

चित्र 11.7
यूरोपीय क़िस्म की वर्दी पहने बंगाल के सिपाही। यहाँ कलाकार सिपाहियों की वर्दी का मज़ाक उड़ा रहा है। इन तस्वीरों के ज़रिए शायद यह जताने का प्रयास किया जा रहा है कि पश्चिमी पोशाक पहन कर भी हिंदुस्तानी सुंदर नहीं दिख सकते।

अफ़सर की कड़क और अभिवावक का स्नेह, दोनों निहित थे।

1840 के दशक में स्थिति बदलने लगी। अफ़सरों में श्रेष्ठता का भाव पैदा होने लगा और वे सिपाहियों को कमतर नस्ल का मानने लगे। वे उनकी भावनाओं की ज़रा-सी भी फ़िक्र नहीं करते थे। गाली-गलौज और शारीरिक हिंसा सामान्य बात बन गई। सिपाहियों व अफ़सरों के बीच फ़ासला बढ़ता गया। भरोसे की जगह संदेह ने ले ली। चिकनाई युक्त कारतूसों की घटना इसका एक बढ़िया उदाहरण थी।

यह भी याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि उत्तर भारत में सिपाहियों और ग्रामीण जगत के बीच गहरे संबंध थे। बंगाल आर्मी के सिपाहियों में से बहुत सारे अवध और पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाँवों से भर्ती होकर आए थे। उनमें से बहुत सारे ब्राह्मण या "ऊँची जाति" के थे। बल्कि अवध को तो "बंगाल आर्मी की पौधशाला" कहा जाता था। सिपाहियों के परिवार अपने इर्द-गिर्द जिन बदलावों को देख रहे थे और उन्हें जो ख़तरे दिखाई दे रहे थे वे जल्दी ही सिपाही लाइनों में भी दिखाई देने लगे। दूसरी ओर, कारतूसों के बारे में सिपाहियों का भय, छुट्टियों के बारे में उनकी शिकायतें, बढ़ते दुर्व्यवहार और नस्ली गाली-गलौज के प्रति बढ़ता असंतोष गाँवों में भी प्रतिबिंबित होने लगा था।

सिपाहियों और ग्रामीण जगत के बीच मौजूद इन संबंधों से जनविद्रोह के रूप-रंग पर गहरा असर पड़ा। जब सिपाही अपने अफ़सरों की अवज्ञा करते थे और हथियार उठाते थे तो फ़ौरन ही गाँवों में उनके भाई-बिरादर भी उनके साथ आ जुटते थे। हर कहीं किसान शहरों में पहुँचकर सिपाहियों और शहर के आम लोगों के साथ जुड़ कर विद्रोह के सामूहिक कृत्य में शामिल हो रहे थे।

➲ चर्चा कीजिए...

पता लगाएँ कि क्या आपके राज्य के लोगों ने 1857 के विद्रोह में हिस्सा लिया था? अगर हाँ, तो उन्होंने ऐसा क्यों किया होगा? अगर नहीं, तो उसकी व्याख्या कीजिए।

3. विद्रोही क्या चाहते थे?

बतौर विजेता कठिनाइयों, चुनौतियों और बहादुरी के बारे में अंग्रेज़ों की अपनी राय थी। वे विद्रोहियों को अहसानफ़रामोश और बर्बर लोगों का झुंड मानते थे। विद्रोहियों को कुचलने का एक मतलब यह भी था कि उनकी आवाज़ को दबा दिया जाए। कुछ विद्रोहियों को ही इस घटनाक्रम के बारे में अपनी बात दर्ज करने का मौका मिला। यूँ भी विद्रोहियों में ज़्यादातर सिपाही और आम लोग थे जो पढ़े-लिखे नहीं थे। इस प्रकार, अपने विचारों का प्रसार करने और लोगों को विद्रोह में शामिल करने के लिए जारी की गई कुछ घोषणाओं व इश्तहारों के सिवाय हमारे पास ऐसी ज़्यादा चीज़ें नहीं हैं जिनकी बिना पर हम विद्रोहियों के नज़रिए को समझ सकें। इसीलिए,

1857 में जो कुछ हुआ, उसे रचने के लिए इतिहासकारों की कोशिशों को बहुत हद तक, और मजबूरन, अंग्रेज़ों के दस्तावेज़ों पर निर्भर रहना पड़ता है। विडंबना यह है कि इन स्रोतों से अंग्रेज़ अफ़सरों की सोच का तो पता चलता है लेकिन इस बारे में ज़्यादा सुराग़ नहीं मिल पाता कि विद्रोही क्या चाहते थे।

3.1 एकता की कल्पना

1857 में विद्रोहियों द्वारा जारी की गई घोषणाओं में, जाति और धर्म का भेद किए बिना, समाज के सभी तबकों का आह्वान किया जाता था। बहुत सारी घोषणाएँ मुस्लिम राजकुमारों या नवाबों की तरफ़ से या उनके नाम पर जारी की गई थीं। परंतु उनमें भी हिंदुओं की भावनाओं का ख़याल रखा जाता था। इस विद्रोह को एक ऐसे युद्ध के रूप में पेश किया जा रहा था जिसमें हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों का नफ़ा-नुकसान बराबर था। इश्तहारों में अंग्रेज़ों से पहले के हिंदू-मुस्लिम अतीत की ओर संकेत किया जाता था और मुग़ल साम्राज्य के तहत विभिन्न समुदायों के सहअस्तित्व का गौरवगान किया जाता था। बहादुर शाह के नाम से जारी की गई घोषणा में मुहम्मद और महावीर, दोनों की दुहाई देते हुए जनता से इस लड़ाई में शामिल होने का आह्वान किया गया। दिलचस्प बात यह है कि आंदोलन

स्रोत 5

आज़मगढ़ घोषणा, 25 अगस्त 1857

विद्रोही क्या चाहते थे, इसके बारे में हमारी जानकारी का यह एक मुख्य स्रोत है :

यह सर्वविदित है कि इस युग में हिंदुस्तान के लोग, हिंदू और मुस्लिम, दोनों ही अधर्मी और षड्यंत्रकारी अंग्रेज़ों की निरकुंशता व उत्पीड़न से त्रस्त हैं। इसलिए देश के सभी धनवान लोगों को, खासतौर से जिनका मुस्लिम शाही परिवारों से ताल्लुक़ रहा है, और जिन्हें लोगों का धर्मरक्षक और स्वामी माना जाता है, अपने जीवन और संपत्ति को जनता की कुशलक्षेम के लिए होम कर देना चाहिए...।

अपने धर्म की रक्षा के लिए अरसा पहले अपने घर-बार छोड़ चुके और भारत से अंग्रेज़ों को उखाड़ फेंकने के लिए पूरा ज़ोर लगा रहे बहुत सारे हिंदू और मुसलमान मुखिया मेरे पास आए और उन्होंने इस भारतीय धर्म युद्ध में हिस्सा लिया। मुझे पूरी उम्मीद है कि जल्दी ही मुझे पश्चिम से भी मदद मिलेगी। इसलिए जनता की जानकारी के लिए कई भागों का यह इश्तहार जारी किया जा रहा है। यह सबका दायित्व है कि इसको ग़ौर से पढ़ें और इसका पालन करें। इस साझा उद्देश्य में जो लोग अपना योगदान देना चाहते हैं, लेकिन जिनके पास अपनी सेवाएँ देने के साधन नहीं हैं, उन्हें मेरी तरफ़ से दैनिक भोजन दिया जाएगा; और सबको मालूम हो कि हिंदू और मुस्लिम, दोनों तरह के प्राचीन ग्रंथों में, चमत्कार करने वालों के लेखन और भविष्यवक्ताओं में, पंडितों की गणनाओं में... सबमें यह सहमति दिखायी देती कि अब भारत में या कहीं भी अंग्रेज़ों के पैर टिक नहीं पाएँगे। इसलिए यह सबका फ़र्ज़ है कि वे अंग्रेज़ों का वर्चस्व बने रहने की सारी उम्मीद छोड़ दें, मेरा साथ दें और साझे हित में काम करते हुए अपने व्यक्तिगत परिश्रम से बादशाही सम्मान के हकदार बनें और अपने-अपने लक्ष्य प्राप्त करें। अन्यथा, अगर यह स्वर्णिम अवसर हमारे हाथ से चला गया तो हमें अपनी इस मूर्खता पर पश्चाताप करना पड़ेगा...।

भाग-1 – ज़मींदारों के बारे में : ज़ाहिर है कि ज़मींदारी बंदोबस्त तय करने में अंग्रेज़ी सरकार ने बेहिसाब *जमा* (भूराजस्व) थोप दिया है और कई ज़मींदारों को बेइज़्ज़त व बरबाद किया है। बकाया लगान की वजह से उनकी जागीरें नीलाम कर दी गई हैं। हद तो ये है कि एक आम रैयत, किसी ज़नाना नौकर या किसी ग़ुलाम की ओर से दाखिल किए गए मुकदमे पर भी बाइज़्ज़त ज़मींदारों को अदालत में घसीटा जा रहा है, गिरफ़्तार किया जा रहा है, कैदखाने में डाला जा रहा है और बेइज़्ज़त किया जा रहा है। ज़मींदारियों के बारे में दायर किए गए मुक़दमों में भारी ख़र्चे की स्टाम्प और दीवानी अदालतों के गैर-ज़रूरी ख़र्चों का मकसद प्रतिवादियों को दरिद्र करना रहा है। ज़मींदारों के ख़ज़ाने को स्कूलों, अस्पतालों, सड़कों आदि के लिए चन्दे के नाम पर हर साल खाली किया जा रहा है। इस तरह की वसूलियों के लिए बादशाही सरकार में कोई जगह नहीं होगी : *जमा* हलका रहेगा, ज़मींदारों के हितों की रक्षा की जाएगी और हर ज़मींदार को अपनी ज़मींदारी में अपने ढंग से शासन करने का अधिकार होगा...

भाग 2 – व्यापारियों के बारें में : इस अधर्मी और षड्यंत्रकारी ब्रिटिश सरकार ने नील, कपड़े, जहाज व्यवसाय जैसी तमाम बेहतरीन और बहुमूल्य चीज़ों के व्यापार पर एकाधिकार स्थापित कर लिया है। अब छोटी-मोटी चीज़ों का व्यापार ही लोगों के लिए रह गया है...। डाक खर्चे, नाका वसूली और स्कूलों के लिए चन्दे के नाम पर व्यापारियों के मुनाफ़े में से सेंध मारी जा रही है। इन तमाम रियायतों के बावजूद व्यापारियों को दो कौड़ी के आदमी की शिकायत पर गिरफ़तार किया जा सकता है, बेइज़्ज़त किया जा सकता है। जब बादशाही सरकार बनेगी तो इन सारे फ़रेबी तौर-तरीकों को ख़त्म कर दिया जाएगा और ज़मीन व पानी, दोनों रास्तों से होने वाला हर चीज़ का व्यापार भारत के देसी व्यापारियों के लिए खोल दिया जाएगा...। इसलिए यह हर व्यापारी की जिम्मेदारी है कि वह इस जंग में हिस्सा ले और बादशाही सरकार की हर इनसानी और माली मदद करे...।

भाग 3-सरकारी कर्मचारियों के बारे में : अब यह राज़ की बात नहीं है कि अंग्रेज़ सरकार के तहत प्रशासनिक और सैनिक सेवाओं में भर्ती होने वाले भारतीय लोगों को इज़्ज़त नहीं मिलती, उनकी तनख़्वाह कम होती है और उनके पास कोई ताकत नहीं होती। दोनों महकमों में प्रतिष्ठा और पैसे वाले सारे पद सिर्फ़ अंग्रेज़ों को मिलते हैं. ..। इसलिए ब्रिटिश सेवा में काम करने वाले तमाम भारतीयों को अपने मज़हब और हित पर ध्यान देना चाहिए और अंग्रेज़ों के प्रति अपनी वफ़ादारी छोड़कर बादशाही सरकार का साथ देना चाहिए। उन्हें फ़िलहाल 200 और 300 रुपये प्रतिमाह की तनख़्वाह मिलेगी और भविष्य में ऊँचे ओहदों की उम्मीद रखें...।

भाग 4- कारीगरों के बारे में : इसमें कोई शक नहीं कि इंग्लैंड में बनी चीज़ों को ला-लाकर यूरोपियों ने हमारे बुनकरों, सूती वस्त्र बनाने वालों, बढ़इयों, लोहारों और मोचियों आदि को बेरोज़गार कर दिया है, उनके काम-धंधों पर इस तरह क़ब्ज़ा जमा लिया है कि देसी कारीगरों की हर श्रेणी भिखमंगों की हालत में पहुँच गई है। बादशाही सरकार में देसी कारीगरों को राजाओं और अमीरों की सेवा में तैनात किया जाएगा। इससे नि:संदेह उनकी उन्नति होगी। इसलिए इन करीगरों को अंग्रेज़ों की सेवा छोड़ देनी चाहिए।

भाग 5 – पंडितों, फ़कीरों और अन्य ज्ञानी व्यक्तियों के बारे में : पंडित और फ़कीर क्रमश: हिंदू और मुस्लिम धर्मों के अभिभावक हैं। यूरोपीय दोनो धर्मों के शत्रु हैं और क्योंकि फिलहाल धर्म के कारण ही अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ एक युद्ध छिड़ा हुआ है इसलिए पंडितों और फ़कीरों का फ़र्ज़ है कि वे ख़ुद को मेरे सामने पेश करें और इस पवित्र युद्ध में अपना हिस्सा निभाएँ...।

➲ इस घोषणा में ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ़ कौन से मुद्दे उठाए गए हैं। प्रत्येक तबके के बारे में दिए गए भाग को ध्यान से पढ़िए। घोषणा की भाषा पर ध्यान दीजिए और देखिए कि उसमें कौन-सी भावनाओं पर ज़ोर दिया जा रहा है।

स्रोत 6

सिपाही क्या सोचते थे

विद्रोही सिपाहियों की एक अर्ज़ी जो बच गई :

एक सदी पहले अंग्रेज़ हिंदुस्तान आए और धीरे-धीरे यहाँ फौजी टुकड़ियाँ बनाने लगे। इसके बाद वे हर राज्य के मालिक बन बैठे। हमारे पुरखों ने सदा उनकी सेवा की है और हम भी उनकी नौकरी में आए...। ईश्वर की कृपा से और हमारी सहायता से अंग्रेज़ों ने जो चाहा वो इलाका जीत लिया। उनके लिए हमारे जैसे हज़ारों हिंदुस्तानी जवानों को अपनी कुर्बानी देनी पड़ी लेकिन न हमने कभी पैर पीछे खींचें और न कोई बहाना बनाया और न ही कभी बग़ावत के रास्ते पर चले...।

लेकिन सन् 1857 में अंग्रेज़ों ने ये हुक्म जारी कर दिया कि अब सिपाहियों को इंग्लैंड से नए कारतूस और बंदूकें दी जाएँगी। नए कारतूसों में गाय और सुअर की चर्बी मिली हुई है और गेहूँ के आटे में हड्डियों का चूरा मिलाकर खिलाया जा रहा है। ये चीज़ें पैदल-सेना, घुड़सवारों और गोलअंदाज़ फौज की हर रेजीमेंट में पहुँचा दी गई हैं...।

उन्होने ये कारतूस थर्ड लाइट केवेलरी के सवारों (घुड़सवार सैनिक) को दिए और उन्हें दाँतो से खींचने के लिए कहा। सिपाहियों ने इस हुक्म का विरोध किया और कहा कि वे ऐसा कभी नहीं करेंगे क्योंकि अगर उन्होंने ऐसा किया तो उनका धर्म भ्रष्ट हो जाएगा...। इस पर अंग्रेज़ अफ़सरों ने तीन रेजीमेंटों के जवानों की परेड करवा दी। 1400 अंग्रेज़ सिपाही, यूरोपीय सैनिकों की दूसरी बटालियनें, और घुड़सवार गोलअंदाज़ फ़ौज को तैयार कर भारतीय सैनिकों को घेर लिया गया। हर पैदल रेजीमेंट के सामने छर्रों से भरी छह-छह तोपें तैनात कर दी गईं और 84 नए सिपाहियों को गिरफ़्तार करके, बेड़ियाँ डालकर, जेल में बंद कर दिया गया। छावनी के सवारों को इसलिए जेल में डाला गया ताकि हम डर कर नए कारतूसों को दाँतों से खींचने लगें। इसी कारण हम और हमारे सारे सहोदर इकट्ठा होकर अपनी आस्था की रक्षा के लिए अंग्रेज़ों से लड़े...। हमें दो साल तक युद्ध जारी रखने पर मजबूर किया गया। धर्म व आस्था के सवाल पर हमारे साथ खड़े राजा और मुखिया अभी भी हमारे साथ हैं और उन्होंने भी सारी मुसीबतें झेली हैं। हम दो साल तक इसलिए लड़े ताकि हमारा अक़ायद (आस्था) और मज़हब दूषित न हों। अगर एक हिंदू या मुसलमान का धर्म ही नष्ट हो गया तो दुनिया में बचेगा क्या?

➲ इस अर्ज़ी में सैनिक विद्रोह के जो कारण बताए गए हैं उनकी तुलना ताल्लुक़दार द्वारा बताए गए कारणों (स्रोत 3) के साथ कीजिए।

में हिंदू और मुसलमानों के बीच खाई पैदा करने की अंग्रेज़ों द्वारा की गई कोशिशों के बावजूद ऐसा कोई फ़र्क़ नहीं दिखाई दिया। अंग्रेज़ शासन ने दिसंबर 1857 में पश्चिमी उत्तर प्रदेश स्थित बरेली के हिंदुओं को मुसलमानों के ख़िलाफ़ भड़काने के लिए 50,000 रुपये खर्च किए। उनकी यह कोशिश नाकामयाब रही।

3.2 उत्पीड़न के प्रतीकों के ख़िलाफ़

इन घोषणाओं में ब्रिटिश राज (जिसे विद्रोही फ़िरंगी राज कहते थे) से संबंधित हर चीज़ को पूरी तरह खारिज किया जा रहा था। देशी रियासतों पर क़ब्ज़े और समझौतों का उल्लंघन करने के लिए अंग्रेज़ों की निंदा की जाती थी। विद्रोही नेताओं का कहना था कि अंग्रेज़ों पर भरोसा नहीं किया जा सकता।

लोगों को इस बात पर गुस्सा था कि ब्रिटिश भूराजस्व व्यवस्था ने बड़े-छोटे भूस्वामियों को ज़मीन से बेदख़ल कर दिया था और विदेशी व्यापार ने दस्तकारों और बुनकरों को तबाह कर डाला था। ब्रिटिश शासन के हर पहलू पर निशाना साधा जाता था। फ़िरंगियों पर स्थापित और सुंदर जीवन-शैली को नष्ट करने का आरोप लगाया जाता था। विद्रोही अपनी उस दुनिया को दोबारा बहाल करना चाहते थे।

विद्रोही उद्घोषणाएँ इस व्यापक डर को व्यक्त करती थीं कि अंग्रेज़, हिंदुओं और मुसलमानों की जाति और धर्म को नष्ट करने पर तुले हैं और वे लोगों को ईसाई बनाना चाहते हैं। इसी डर की वजह से लोग चल रही अफ़वाहों पर भरोसा करने लगे। लोगों को प्रेरित किया गया की वे इकट्ठे मिलकर अपने रोज़गार, धर्म, इज़्ज़त और अस्मिता के लिए लड़ें। यह 'व्यापक सार्वजनिक भलाई' की लड़ाई होगी।

जैसा कि हम देख चुके हैं, बहुत सारे स्थानों पर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह उन तमाम ताकतों के विरुद्ध हमले की शक्ल ले लेता था जिनको अंग्रेज़ों के हिमायती या जनता का उत्पीड़क समझा जाता था। कई दफ़ा विद्रोही शहर के संभ्रांत को जान-बूझकर बेइज़्ज़त करते थे। गाँवों में उन्होंने सूदखोरों के बहीखाते जला दिए और उनके घर तोड़-फोड़ डाले। इससे पता चलता है कि विद्रोही *तमाम* उत्पीड़कों के ख़िलाफ़ थे और परंपरागत सोपानों (ऊँच-नीच) को ख़त्म करना चाहते थे। इसमें हमें एक वैकल्पिक दृष्टि, संभवतः एक ज़्यादा समतापरक समाज की कल्पना दिखाई देती है। पर, यह सोच उनकी घोषणाओं में नहीं दिखाई देती। उनमें तो फ़िरंगी राज के ख़िलाफ़ तमाम सामाजिक समूहों को एकजुट करने का ही आह्वान किया जाता था।

3.3 वैकल्पिक सत्ता की तलाश

ब्रिटिश शासन ध्वस्त हो जाने के बाद दिल्ली, लखनऊ और कानपुर जैसे स्थानों पर विद्रोहियों ने एक प्रकार की सत्ता और शासन संरचना स्थापित करने का प्रयास किया। बेशक यह प्रयोग ज़्यादा समय तक नहीं चला लेकिन इन कोशिशों से पता चलता है कि विद्रोही नेता अठारहवीं सदी की पूर्व-ब्रिटिश दुनिया को पुनर्स्थापित करना चाहते थे। इन नेताओं ने पुरानी दरबारी संस्कृति का सहारा लिया। विभिन्न पदों पर नियुक्तियाँ की गईं। भूराजस्व वसूली और सैनिकों के वेतन के भुगतान का इंतज़ाम किया गया। लूटपाट बंद करने के लिए हुक्मनामे जारी किए गए। इसके साथ-साथ अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ युद्ध जारी रखने की योजनाएँ भी बनाई गईं। सेना की कमान श्रृंखला तय की गई। इन सारे प्रयासों में विद्रोही अठारहवीं सदी के मुग़ल जगत से ही प्रेरणा ले रहे थे – यह जगत उन तमाम चीज़ों का प्रतीक बन गया जो उनसे छिन चुकी थीं।

विद्रोहियों द्वारा स्थापित शासन संरचना का प्राथमिक उद्देश्य युद्ध की ज़रूरतों को पूरा करना था। लेकिन ज़्यादातर मामलों में ये संरचनाएँ

➲ चर्चा कीजिए...

आपकी राय में विद्रोहियों के नज़रिए को पुन:निर्मित करने में इतिहासकारों के सामने कौन-सी मुख्य समस्याएँ आती हैं?

अंग्रेज़ों की मार बरदाश्त नहीं कर पाईं। अवध में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध सबसे लंबा चला। वहाँ लखनऊ दरबार द्वारा जवाबी हमले की योजनाएँ बनाई जा रही थीं और 1857 के आखिर तथा 1858 के शुरुआती महीनों तक हुकुम की श्रेणियाँ वजूद में थीं।

4. दमन

1857 के बारे में हमारे पास जो भी विवरण मौजूद हैं उनसे यह साफ़ हो जाता है कि इस विद्रोह को कुचलना अंग्रेज़ों के लिए बहुत आसान साबित नहीं हुआ।

उत्तर भारत को दोबारा जीतने के लिए टुकड़ियों को रवाना करने से पहले अंग्रेज़ों ने उपद्रव शांत करने के लिए फ़ौजियों की आसानी के लिए कई क़ानून पारित कर दिए थे। मई और जून 1857 में पारित किए गए कई क़ानूनों के ज़रिए न केवल समूचे उत्तर भारत में मार्शल लॉ लागू कर दिया गया बल्कि फ़ौजी अफ़सरों और यहाँ तक कि आम अंग्रेज़ों को भी ऐसे हिंदुस्तानियों पर मुक़दमा चलाने और उनको सज़ा देने का अधिकार दे दिया गया जिन पर विद्रोह में शामिल होने का शक था। कहने का मतलब यह है कि क़ानून और मुकदमें की सामान्य प्रक्रिया रद्द कर दी गई थी और यह स्पष्ट कर दिया गया था कि विद्रोह की केवल एक ही सज़ा हो सकती है – सज़ा-ए-मौत।

स्रोत 7

विद्रोही ग्रामीण

ग्रामीण अवध क्षेत्र से रिपोर्ट भेजने वाले एक अफ़सर ने लिखा :

> अवध के लोग उत्तर से जोड़ने वाली संचार लाइन पर ज़ोर बना रहे हैं...। अवध के लोग गाँव वाले हैं...। ये गाँव वाले यूरोपियों की पकड़ से बिलकुल बाहर हैं। पल में बिखर जाते हैं, पल में फिर जुट जाते हैं। शासकीय अधिकारियों का कहना है कि इन गाँव वालों की संख्या बहुत बड़ी है और उनके पास बाकायदा बंदूकें हैं।

➲ इस विवरण के अनुसार गाँव वालों से निपटने में अंग्रेज़ों को किन मुश्किलों का सामना करना पड़ा?

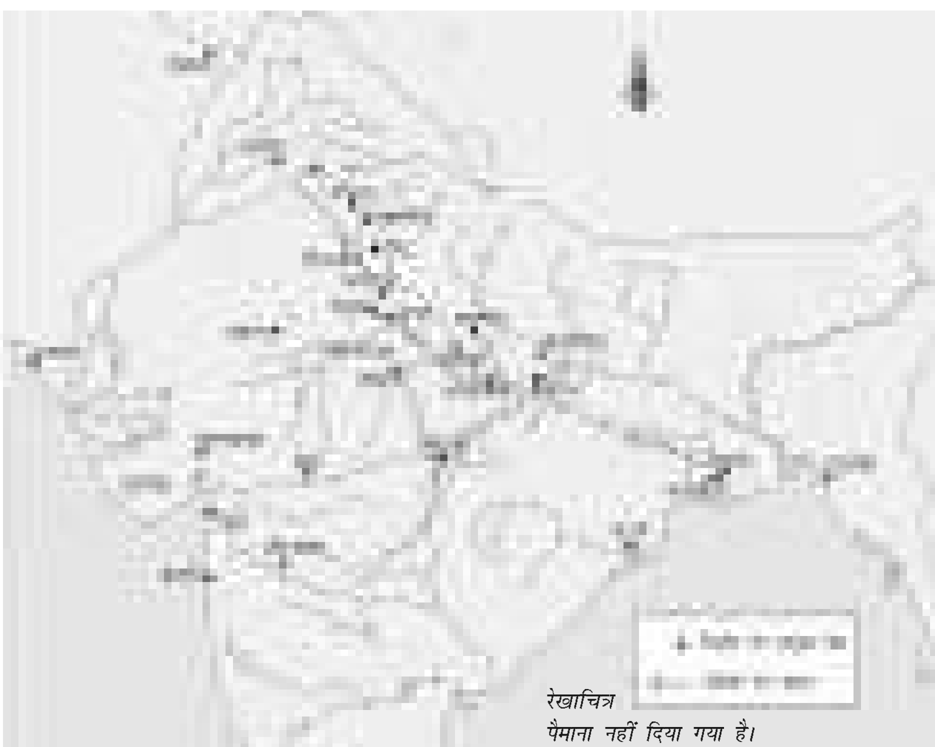

मानचित्र 2
यहाँ विद्रोह के महत्त्वपूर्ण केंद्र दिखाए गए हैं। विद्रोहियों पर ब्रिटिश हमलों के मार्गों को भी दर्शाया गया है।

इन नए विशेष क़ानूनों और ब्रिटेन से मँगाई गई नयी टुकड़ियों से लैस अंग्रेज़ सरकार ने विद्रोह को कुचलने का काम शुरू कर दिया। विद्रोहियों की तरह वे भी दिल्ली के सांकेतिक महत्त्व को बखूबी समझते थे। लिहाज़ा, उन्होंने दोतरफ़ा हमला बोल दिया। एक तरफ़ कलकत्ते से, दूसरी तरफ़ पंजाब से दिल्ली की तरफ़ कूच हुआ हालांकि पंजाब कमोबेश शांत था। दिल्ली को क़ब्ज़े में लेने की अंग्रेज़ों की कोशिश जून 1857 में बड़े पैमाने पर शुरू हुई लेकिन यह मुहिम सितंबर के आखिर में जाकर पूरी हो पाई। दोनों तरफ़ से जमकर हमले किए गए और दोनों पक्षों को भारी नुकसान उठाना पड़ा। इसकी एक वजह ये थी कि पूरे उत्तर भारत के विद्रोही राजधानी को बचाने के लिए दिल्ली में आ जमे थे।

चित्र 11.8
दिल्ली रिज पर स्थित एक मस्जिद, फ़ेलिस बिएतो द्वारा लिया गया चित्र, 1857-58.
1857 के बाद ब्रिटिश फ़ोटोग्राफ़रों ने तबाही और ध्वंस की असंख्य तसवीरें उतारी थीं।

गंगा के मैदान में भी अंग्रेज़ों की बढ़त का सिलसिला धीमा रहा। अंग्रेज़ टुकड़ियों को हर इलाक़ा गाँव-दर-गाँव जीतना था। आम देहाती जनता और आस-पास के लोग उनके ख़िलाफ़ थे। जैसे ही उन्होंने अपनी उपद्रव-विरोधी कार्रवाई शुरू की, अंग्रेज़ों को अहसास हो गया कि उनका सामना सिर्फ़ सैनिक विद्रोह से नहीं है, वे ऐसे आंदोलन से जूझ रहे हैं जिसके पीछे बेहिसाब जन-समर्थन मौजूद है। उदाहरण के लिए, अवध में फॉरसिथ नाम के एक अंग्रेज़ अफ़सर का अनुमान था कि कम से कम तीन-चौथाई वयस्क पुरुष आबादी विद्रोह में शामिल थी। इस इलाक़े को लंबी लड़ाई के बाद मार्च 1858 में जाकर ही अंग्रेज़ दोबारा अपने नियंत्रण में ले पाए।

अंग्रेज़ों ने सैनिक ताकत का भयानक पैमाने पर इस्तेमाल किया। लेकिन यह उनका एकमात्र हथियार नहीं था। वर्तमान उत्तर प्रदेश के एक विशाल भू-भाग में बड़े भूस्वामियों और काश्तकारों ने मिलकर अंग्रेज़ों का विरोध किया था। अंग्रेज़ों ने इस एकता को तोड़ने के लिए

चित्र 11.9
सिंकदरा बाग, चित्रकार फ़ेलिस बिएतो, 1858
यहाँ हमें एक ज़माने में नवाब वाजिद अली शाह द्वारा बनवाए गए रंग बाग (प्लेज़र गार्डन) के खंडहरों में चार आदमी दिखायी दे रहे हैं। 1857 में इसकी रक्षा करने वाले 2000 से ज़्यादा विद्रोही सिपाहियों को कैम्पबेल के नेतृत्व में ब्रिटिश सैनिकों ने मार डाला था। अहाते में पड़े नरकंकाल विद्रोह की निरर्थकता की एक ठंडी चेतावनी देते हैं।

बड़े ज़मींदारों को आश्वासन दिया कि उन्हें उनकी जागीरें लौटा दी जाएँगीं। विद्रोह का रास्ता अपनाने वाले ज़मींदारों को ज़मीन से बेदख़ल कर दिया गया और जो वफ़ादार थे उन्हें ईनाम दिए गए। बहुत सारे ज़मींदार या तो अंग्रेज़ों से लड़ते-लड़ते मारे गए या भागकर नेपाल चले गए जहाँ उन्होंने बीमारी व भूख से दम तोड़ दिया।

5. विद्रोह की छवियाँ

हम इस विद्रोह, विद्रोहियों की गतिविधियों और उन पर किए गए दमन के तरीकों के बारे में किस तरह जान सकते हैं?

जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, विद्रोहियों की सोच के बारे में हमारे पास बहुत कम दस्तावेज़ मौजूद हैं। हमारे पास विद्रोहियों की कुछ घोषणाएँ, अधिसूचनाएँ तथा नेताओं के पत्र हैं। लेकिन अब तक ज़्यादातर इतिहासकार अंग्रेज़ों द्वारा लिखे गए दस्तावेज़ों की रोशनी में ही विद्रोहियों की कार्रवाइयों पर चर्चा करते आ रहे हैं।

यह तो है ही कि इस बारे में सरकारी ब्योरों की कमी नहीं है : औपनिवेशिक प्रशासक और फ़ौजी अपनी चिट्ठियों, डायरियों, आत्मकथाओं और सरकारी इतिहासों में अपने-अपने ब्योरे दर्ज कर गए हैं। असंख्य मेमों और नोट्स, परिस्थितियों के आकलन एवं विभिन्न रिपोर्टों के ज़रिए भी हम सरकारी सोच और अंग्रेज़ों के बदलते रवैये को समझ सकते हैं। आज इनमें से बहुत सारे दस्तावेज़ों को सैनिक विद्रोह रिकॉर्ड्स पर केंद्रित खंडों में संकलित किया जा चुका है। ये दस्तावेज़ हमें अफ़सरों के भीतर मौजूद भय और बैचेनी तथा विद्रोहियों के बारे में उनकी सोच का पता देते हैं। ब्रिटिश अख़बारों और पत्रिकाओं में इस विद्रोह की जो कहानियाँ छपीं उनमें सैनिक विद्रोहियों द्वारा की गई हिंसा को बड़े लोमहर्षक शब्दों में छापा जाता था। ये कहानियाँ जनता की भावनाओं को भड़काती थीं तथा प्रतिशोध और सबक सिखाने की माँगों को हवा देती थीं।

अंग्रेज़ों और भारतीयों द्वारा तैयार की गई तसवीरें सैनिक विद्रोह का एक महत्त्वपूर्ण रिकॉर्ड रही हैं। इस विद्रोह के बारे में कई चित्र, पेंसिल से बने रेखांकन, उत्कीर्ण चित्र, पोस्टर, कार्टून, और बाज़ार-प्रिंट उपलब्ध हैं। आइए, उनमें से कुछ को देखें और जाने कि वे हमें क्या बताते हैं।

5.1 रक्षकों का अभिनंदन

अंग्रेज़ों द्वारा बनाई तसवीरों को देखने पर तरह-तरह की भावनाएँ और प्रतिक्रियाएँ पैदा होती हैं। उनमें से कुछ में अंग्रेज़ों को बचाने और विद्रोहियों को कुचलने वाले अंग्रेज़ नायकों का गुणगान किया गया है। 1859 में टॉमस जोन्स बार्कर द्वारा बनाया गया चित्र 'रिलीफ़ ऑफ़ लखनऊ' (लखनऊ की राहत) इसी श्रेणी का एक उदाहरण है। जब

चित्र 11.10
"द रिलीफ़ ऑफ़ लखनऊ" चित्रकार टॉमस जोन्स बार्कर, 1859

विद्रोही टुकड़ियों ने लखनऊ पर घेरा डाल दिया तो लखनऊ के कमिश्नर हेनरी लॉरेंस ने ईसाइयों को इकट्ठा किया और बेहद सुरक्षित रेज़ीडेंसी में पनाह ले ली। बाद में लॉरेंस तो मारा गया किंतु कर्नल इंगलिस के नेतृत्व में रेज़ीडेंसी सुरक्षित रहा। 25 सितंबर को जेम्स ऑट्रम और हेनरी हेवलॉक वहाँ पहुँचे, उन्होंने विद्रोहियों को तितर-बितर कर दिया और ब्रिटिश टुकड़ियों को नयी मजबूती दी। 20 दिन बाद भारत में ब्रिटिश टुकड़ियों का नया कमांडर कॉलिन कैम्पबेल भारी तादाद में सेना लेकर वहाँ पहुँचा और उसने ब्रिटिश रक्षकसेना को घेरे से छुड़ाया। अंग्रेज़ों के बयानों में लखनऊ की घेरेबंदी उत्तरजीविता, बहादुराना प्रतिरोध और ब्रिटिश सत्ता की निर्विवाद विजय की कहानी बन गई।

बार्कर की पेंटिंग कैम्पबेल के आगमन के क्षण का जश्न मनाती है। कैन्वस के मध्य में कैम्पबेल, ऑट्रम और हेवलॉक, इन तीन ब्रिटिश नायकों की छवियाँ हैं। उनके इर्द-गिर्द खड़े लोगों के हाथों को देखने पर दर्शक की निगाह चित्र के मध्य भाग की तरफ़ चली जाती है। ये नायक एक ऐसे स्थान पर खड़े हैं जहाँ काफ़ी उजाला है, जिनके अगले हिस्से में परछाईं है और पिछली तरफ़ टूटा-फूटा रेज़ीडेंसी दिखाई देता है। चित्र के अगले भाग में पड़े शव और घायल इस घेरेबंदी के दौरान हुई मारकाट की गवाही देते हैं जबकि मध्य भाग में घोड़ों की विजयी तसवीरें इस तथ्य पर ज़ोर देती हैं कि अब ब्रिटिश सत्ता और नियंत्रण बहाल हो चुका है। इस तरह के चित्रों से अंग्रेज़ जनता में अपनी सरकार के प्रति

भरोसा पैदा होता था। इन चित्रों से उन्हें यह लगता था कि संकट की घड़ी जा चुकी है और विद्रोह ख़त्म हो चुका है : अंग्रेज़ जीत चुके हैं।

5.2 अंग्रेज़ औरतें तथा ब्रिटेन की प्रतिष्ठा

अख़बारों में छपी ख़बरों का जनता की कल्पना और मनोदशा पर भारी असर होता है। वे घटनाओं के बारे में लोगों की भावनाओं और सोच को तय करती हैं। भारत में औरतों और बच्चों के साथ हुई हिंसा की कहानियों को पढ़कर ब्रिटेन की जनता प्रतिशोध और सबक सिखाने की माँग करने लगी। अंग्रेज़ अपनी सरकार से मासूम औरतों की इज़्ज़त बचाने और निस्सहाय बच्चों को सुरक्षा प्रदान करने की माँग करने लगे। कलाकारों ने सदमे और पीड़ा की अपनी चित्रात्मक अभिव्यक्तियों के ज़रिये इन भावनाओं को आकार प्रदान किया।

जोज़ेफ़ नोएल पेटन ने सैनिक विद्रोह के दो साल बाद "इन मेमोरियम" ('स्मृति में', चित्र 11.11) बनाई। इस चित्र में अंग्रेज़ औरतें और बच्चे एक घेरे में एक-दूसरे से लिपटे दिखाई देते हैं। वे लाचार और मासूम दिख रहे हैं, मानो एक भयानक घड़ी की आंशका में हैं।

चित्र 11.11
"इन मेमोरियम", चित्रकार जोज़ेफ़ नोएल पेटन, 1859

चित्र 11.12
कानपुर में सिपाहियों से अपनी रक्षा करती मिस व्हीलर।

वे अपनी बेइज़्ज़ती, हिंसा और मृत्यु का इंतज़ार कर रहे हैं। "इन मेमोरियम" में भीषण हिंसा नहीं दिखती : उसकी तरफ़ सिर्फ़ एक इशारा है। यह दर्शक की कल्पना को झिंझोड़ती है और उसमें ग़ुस्से और बेचेनी का भाव पैदा करती है। इसमें विद्रोहियों को हिंसक और बर्बर बताया गया है हलांकि वे चित्र में अदृश्य हैं। पृष्ठभूमि में आप ब्रिटिश टुकड़ियों को रक्षक के तौर पर आगे बढ़ते देख सकते हैं।

कुछ अन्य रेखाचित्रों व पेंटिंग्स में हमें औरतें अलग तेवर में दिखाई देती हैं। इनमें वे विद्रोहियों के हमले से अपना बचाव करती हुईं नज़र आती हैं। उन्हें वीरता की मूर्ति के रूप में दर्शाया गया है। चित्र 11.12 में मिस व्हीलर मध्य में दृढ़तापूर्वक खड़ी है। वह अकेले ही विद्रोहियों को मौत की नींद सुलाते हुए अपनी इज़्ज़त की रक्षा करती है। तमाम ब्रिटिश चित्रों की तरह यहाँ भी विद्रोहियों को दानवों के रूप में दर्शाया गया है। यहाँ चार कद्दावर आदमी हाथों में तलवारें और बंदूक लिये एक अकेली औरत के ऊपर हमला कर रहे हैं। यहाँ इज़्ज़त और ज़िंदगी की रक्षा के लिए औरत के संघर्ष की आड़ में दरअसल एक गहरे धार्मिक विचार को प्रस्तुत किया गया है – यह ईसाइयत की रक्षा का संघर्ष है। चित्र में धरती पर पड़ी किताब बाइबल है।

चित्र 11.13
जस्टिस (न्याय), पन्च, *12 सितंबर 1857*
चित्र के नीचे पट्टी पर लिखा है–"कानपुर में हुए भीषण जनसंहार के समाचार ने समूचे इंग्लैंड में प्रतिशोध की गहरी चाह और भयानक अपमान का भाव पैदा कर दिया है।"

5.3 प्रतिशोध और सबक़

जैसे-जैसे ब्रिटेन में ग़ुस्से और सकते का माहौल बनता गया, बदले की माँग बुलंद होती गई। विद्रोह के बारे में प्रकाशित चित्रों एवं ख़बरों ने ऐसा माहौल रच दिया जिसमें हिंसक दमन और प्रतिशोध को लाज़िमी और वाजिब माना जाने लगा। माहौल ऐसा था मानो न्याय के मूल्यों की रक्षा के लिए ब्रिटिश प्रतिष्ठा और सत्ता को दी जा रही चुनौती को निर्ममता से कुचलना ज़रूरी था। विद्रोह से आतंकित अंग्रेज़ों को लगता था कि उन्हें अपनी अपराजयता का प्रदर्शन करना ही चाहिए। ऐसी ही एक तसवीर (चित्र 11.13) में हमें न्याय की एक रूपकात्मक स्त्री छवि दिखाई देती

चित्र 11.14
चित्र के नीचे पट्टी पर लिखा है– "बंगाल टाइगर से ब्रिटिश शेर का प्रतिशोध", पन्च, *1857*

➲ तसवीर से क्या सोच निकलती है? शेर और चीते की तसवीरों के माध्यम से क्या कहने का प्रयास किया गया है? औरत और बच्चे की तसवीर क्या दर्शाती है?

है जिसके एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में ढाल है। उसकी मुद्रा आक्रामक है : उसके चेहरे पर भयानक ग़ुस्सा और बदला लेने की तड़प दिखाई देती है। वह सिपाहियों को अपने पैरों तले कुचल रही है जबकि भारतीय औरतों और बच्चों की भीड़ भय से काँप रही है।

इनके अलावा भी ब्रिटिश प्रेस में असंख्य दूसरी तसवीरें और कार्टून थे जो निर्मम दमन और हिंसक प्रतिशोध की ज़रूरत पर ज़ोर दे रहे थे।

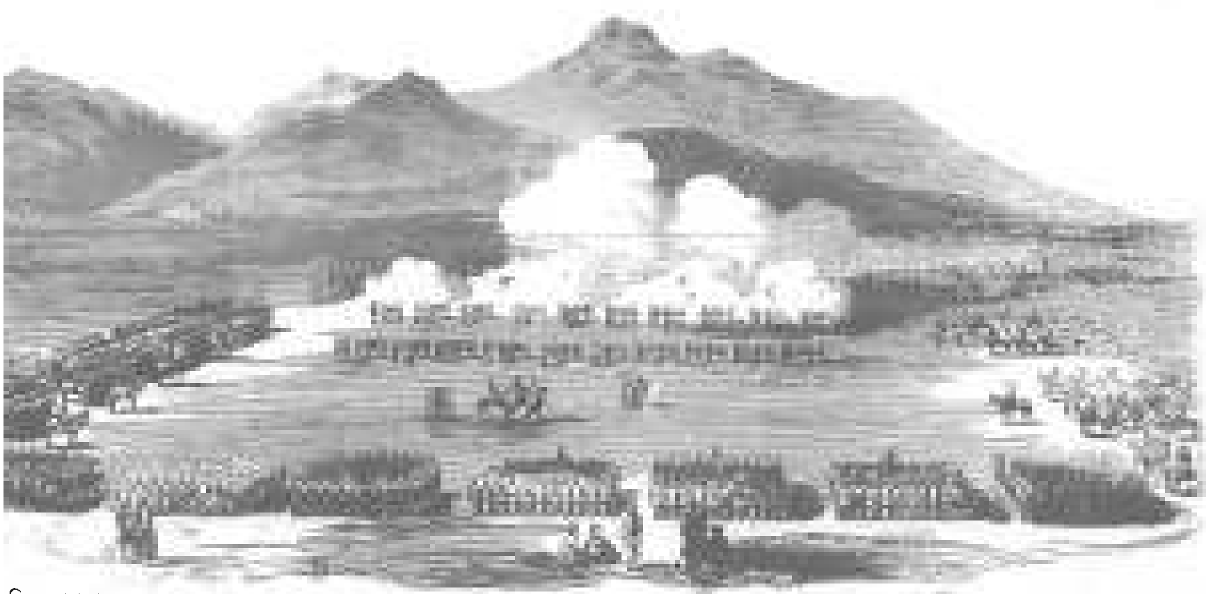

चित्र 11.15
एग्ज़ीक्यूशन ऑफ़ म्यूटिनियर्स ऐट पेशावर : ब्लोइंग फ्रॉम द गन्स (पेशावर में विद्रोहियों को मृत्युदंड : तोप से उड़ाते हुए), इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, *3 अक्टूबर 1857*
यहाँ मृत्युदंड का दृश्य एक नाटक के रंगमंच जैसा दिखाई देता है – निर्मम सत्ता का नाट्य मंचन। पूरे दृश्य पर वर्दियों में सजे घुड़सवार सैनिक और सिपाही हावी दिखाई देते हैं। उन्हें अपने साथी सिपाहियों की मृत्यु का दृश्य देखना है और विद्रोह के भयानक परिणामों को महसूस करना है।

चित्र 11.16
एग्ज़ीक्यूशन ऑफ़ म्यूटिनियर्स ऐट पेशावर (पेशावर में विद्रोहियों को मृत्युदंड), इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, *3 अक्टूबर 1857.*
मृत्युदंड के इस दृश्य में 12 विद्रोही एक क़तार में लटके हुए हैं और चारों तरफ़ तोपें तैनात हैं। यह सामान्य दंड का दृश्य नहीं है, यह दहशत का प्रदर्शन है। लोगों को ये अहसास कराने की कोशिश की जा रही है कि सज़ा किसी बंद जगह पर नहीं बल्कि लोगों के बीच भी दी जा सकती है। उसे खुले में नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करना ज़रूरी था।

5.4 दहशत का प्रदर्शन

प्रतिशोध और सबक़ सिखाने की चाह इस बात में भी प्रतिबिम्बित होती है कि विद्रोहियों को कितने निर्मम ढंग से मौत के घाट उतारा गया। उन्हें तोपों के मुहाने पर बाँधकर उड़ा दिया गया या फ़ाँसी पर लटका दिया। इन सज़ाओं की तसवीरें आम पत्र-पत्रिकाओं के ज़रिये दूर-दूर तक पहुँच रही थीं।

5.5 दया के लिए कोई जगह नहीं

जब प्रतिशोध के लिए ही शोर मच रहा हो, ऐसे समय पर नर्म सुझाव मज़ाक का पात्र बन कर ही रह जाते हैं। जब गवर्नर-जनरल कैनिंग ने ऐलान किया कि नर्मी और दया भाव से सिपाहियों की वफ़ादारी हासिल करने में मदद मिलेगी तो ब्रिटिश प्रेस में उसका मज़ाक उड़ाया गया।

हास्यपरक व्यंग्य की ब्रिटिश पत्रिका *पन्च* के पन्नों में प्रकाशित एक कार्टून में कैनिंग को एक भव्य नेक बुजुर्ग के रूप में दर्शाया गया। उसका

चित्र 11.17
"द क्लिमेंसी ऑफ़ केनिंग" (केनिंग का दयाभाव), पन्च, *24 अक्टूबर 1857*
नीचे की पट्टी : गवर्नर जनरल : "बिलकुल सही, फिर वे उसे घिनौनी बंदूकों से नहीं उड़ाएँगे बशर्ते वो एक अच्छा सिपाही बनने का वादा करे।"

हाथ एक सिपाही के सिर पर है जो अभी भी नंगी तलवार और कटार लिए हुए है और दोनों से ख़ून टपक रहा है (चित्र 11.17)। यह एक ऐसी छवि थी जो उस समय की बहुत सारी ब्रिटिश तसवीरों में बार-बार सामने आती थी।

5.6 राष्ट्रवादी दृश्य कल्पना

बीसवीं सदी में राष्ट्रवादी आंदोलन को 1857 के घटनाक्रम से प्रेरणा मिल रही थी। इस विद्रोह के इर्द-गिर्द राष्ट्रवादी कल्पना का एक विस्तृत दृश्य जगत बुन दिया गया था। इसको प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में याद किया जाता था जिसमें देश के हर तबके के लोगों ने साम्राज्यवादी शासन के ख़िलाफ़ मिलकर लड़ाई लड़ी थी।

इतिहास लेखन की तरह कला और साहित्य ने भी 1857 की स्मृति को जीवित रखने में योगदान दिया। विद्रोह के नेताओं को ऐसे नायकों के रूप में पेश किया जाता था जो देश को रणस्थल की तरफ़ ले जा रहे हैं। उन्हें लोगों को दमनकारी साम्राज्यवादी शासन के ख़िलाफ़ उत्तेजित करते चित्रित किया जाता था। एक हाथ में घोड़े की रास और दूसरे हाथ में तलवार थामे अपनी मातृभूमि की मुक्ति के लिए लड़ाई लड़ने वाली रानी के शौर्य का गौरवगान करते हुए कविताएँ लिखी गईं। रानी झाँसी को एक ऐसी मर्दाना शख़्सियत के रूप में चित्रित किया जाता था जो दुश्मनों का पीछा करते हुए और ब्रिटिश सिपाहियों को मौत की नींद सुलाते हुए आगे बढ़ रही है। देश के विभिन्न भागों में बच्चे सुभद्रा कुमारी चौहान की इन पंक्तियों को पढ़ते हुए बड़े हो रहे थे : *"खूब लड़ी मर्दानी वो तो झाँसी वाली रानी थी।"* लोक छवियों में रानी लक्ष्मीबाई को प्राय: फ़ौजी पोशाक में घोड़े पर सवार और एक हाथ में तलवार लिए दिखाया जाता है – अन्याय और विदेशी शासन के दृढ़ प्रतिरोध का प्रतीक।

इन तसवीरों से पता चलता है कि उन्हें बनाने वाले चित्रकार इन घटनाओं को कैसे देखते थे, उनके अहसास क्या थे और वे क्या कहना चाहते थे। इन चित्रों और कार्टूनों के माध्यम से हम उस जनता के बारे में जान सकते हैं जो उन चित्रों की तारीफ़ या आलोचना करती थी, उनकी नक़लों को ख़रीद कर घरों में सजाती थी।

ये तस्वीरें केवल अपने समय की भावनाओं और अहसासों को ही प्रतिबिंबित नहीं कर रही थीं। उन्होंने संवेदनाओं को भी शक्ल दी। ब्रिटेन में छप रहे चित्रों से उत्तेजित वहाँ की जनता विद्रोहियों को भयानक बर्बरता के साथ कुचल डालने के लिए आवाज़ उठा रही थी। दूसरी तरफ़ भारतीय राष्ट्रवादी चित्र हमारी राष्ट्रवादी कल्पना को निर्धारित करने में मदद कर रहे थे।

चित्र 11.18
फ़िल्मों और पोस्टरों ने रानी लक्ष्मीबाई की छवि को एक मर्दाना योद्धा के रूप में स्थापित करने में मदद की।

➲ चर्चा कीजिए...

इस भाग में दिए गए प्रत्येक चित्र के विभिन्न तत्वों की जाँच कीजिए और चर्चा कीजिए कि उनके ज़रिए आपको कलाकार की सोच को पहचानने में कैसे मदद मिलती है।

काल-रेखा

1801	अवध में वेलेज़ली द्वारा सहायक संधि लागू की गई
1856	नवाब वाजिद अली शाह को गद्दी से हटाया गया, अवध का अधिग्रहण
1856-57	अंग्रेज़ों द्वारा अवध में एकमुश्त लगान बंदोबस्त लागू
1857	
10 मई	मेरठ में "सैनिक विद्रोह"
11-12 मई	दिल्ली रक्षकसेना में विद्रोह : बहादुर शाह सांकेतिक नेतृत्व स्वीकार करते हैं
20-27 मई	अलीगढ़, इटावा, मैनपुरी, एटा में सिपाही विद्रोह
30 मई	लखनऊ में विद्रोह
मई-जून	सैनिक विद्रोह एक व्यापक जन विद्रोह में बदल जाता है
30 जून	चिनहाट के युद्ध में अंग्रेज़ों की हार होती है
25 सितंबर	हेवलॉक और ऑट्रम के नेतृत्व में अंग्रेज़ों की टुकड़ियाँ लखनऊ रेज़ीडेंसी में दाख़िल होती हैं
1858	
जून	युद्ध में रानी झाँसी की मृत्यु
जुलाई	युद्ध में शाह मल की मृत्यु

चित्र 11.19
विद्रोहियों के चेहरे

उत्तर दीजिए (लगभग 100 से 150 शब्दों में)

1. बहुत सारे स्थानों पर विद्रोही सिपाहियों ने नेतृत्व सँभालने के लिए पुराने शासकों से क्या आग्रह किया?
2. उन साक्ष्यों के बारे में चर्चा कीजिए जिनसे पता चलता है कि विद्रोही योजनाबद्ध और समन्वित ढंग से काम कर रहे थे?
3. 1857 के घटनाक्रम को निर्धारित करने में धार्मिक विश्वासों की किस हद तक भूमिका थी?
4. विद्रोहियों के बीच एकता स्थापित करने के लिए क्या तरीके अपनाए गए?
5. अंग्रेज़ों ने विद्रोह को कुचलने के लिए क्या कदम उठाए?

निम्नलिखित पर एक लघु निबंध लिखिए (लगभग 250 से 300 शब्दों में)

6. अवध में विद्रोह इतना व्यापक क्यों था? किसान, ताल्लुक़दार और ज़मींदार उसमें क्यों शामिल हुए?
7. विद्रोही क्या चाहते थे? विभिन्न सामाजिक समूहों की दृष्टि में कितना फ़र्क़ था?
8. 1857 के विद्रोह के बारे में चित्रों से क्या पता चलता है? इतिहासकार इन चित्रों का किस तरह विश्लेषण करते हैं?
9. एक चित्र और एक लिखित पाठ को चुनकर किन्हीं दो स्रोतों की पड़ताल कीजिए और इस बारे में चर्चा कीजिए कि उनसे विजेताओं और पराजितों के दृष्टिकोण के बारे में क्या पता चलता है?

मानचित्र कार्य

10. भारत के मानचित्र पर कलकत्ता (कोलकाता), बम्बई (मुंबई), मद्रास (चेन्नई) को चिह्नित कीजिए जो 1857 में ब्रिटिश सत्ता के तीन मुख्य केंद्र थे। मानचित्र 1 और 2 को देखिए तथा उन इलाकों को चिह्नित कीजिए जहाँ विद्रोह सबसे व्यापक रहा। औपनिवेशिक शहरों से ये इलाक़े कितनी दूर या कितनी पास थे?

परियोजना कार्य (कोई एक)

11. 1857 के विद्रोही नेताओं में से किसी एक की जीवनी पढ़ें। देखिए कि उसे लिखने के लिए जीवनीकार ने किन स्रोतों का उपयोग किया है? क्या उनमें सरकारी रिपोर्टों, अख़बारी ख़बरों, क्षेत्रीय भाषाओं की कहानियों, चित्रों और किसी अन्य चीज़ का इस्तेमाल किया गया है? क्या सभी स्रोत एक ही बात कहते हैं या उनके बीच फ़र्क़ दिखाई देते हैं? अपने निष्कर्षों पर एक रिपोर्ट तैयार कीजिए।
12. 1857 पर बनी कोई फ़िल्म देखिए और लिखिए कि उसमें विद्रोह को किस तरह दर्शाया गया है। उसमें अंग्रेज़ों, विद्रोहियों और अंग्रेज़ों के भारतीय वफ़ादारों को किस तरह दिखाया गया है? फ़िल्म किसानों, नगरवासियों, आदिवासियों, ज़मींदारों और ताल्लुक़दारों के बारे में क्या कहती है? फ़िल्म किस तरह की प्रतिक्रिया को जन्म देना चाहती है?

यदि आप और जानकारी चाहते हैं तो इन्हें पढ़िए :

गौतम भद्रा, 1987
फ़ोर रेबल्स ऑफ़ एटीन फ़िफ़्टी सेवन, सबॉल्टर्न स्टडीज़, खंड 4, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

विलियन डेलरिम्पल, 2006
दि लास्ट मुग़ल : दि फ़ॉल ऑफ़ ए डायनेस्टी, दिल्ली 1857, पेंग्विन, वाइकिंग, नयी दिल्ली

रूद्रांग्शू मुखर्जी, 1984
अवध इन रिवोल्ट 1857-58, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

तापती रॉय, 2006
राज ऑफ़ दि रानी, पेंग्विन, नयी दिल्ली

ऐरिक स्टॉक्स, 1980
पैज़ेन्ट्स एंड दि राज, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस, दिल्ली

अधिक जानकारी के लिए आप निम्नलिखित वेबसाइट देख सकते हैं

http://books.google.com
(1857 पर अंग्रेज़ अधिकारियों के विवरणों के लिए)

www.copsey-family.org/allenc/lakshmibai/links.html
(रानी लक्ष्मीबाई के पत्रों के लिए)

अध्याय
बारह

औपनिवेशिक शहर
नगरीकरण, नगर–योजना, स्थापत्य

इस अध्याय में हम औपनिवेशिक भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया पर चर्चा करेंगे, औपनिवेशिक शहरों की चारित्रिक विशिष्टताओं का अन्वेषण करेंगे और उनमें होने वाले सामाजिक परिवर्तनों को देखेंगे। हम तीन बड़े शहरों – मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई के विकासक्रम को गहनता से देखेंगे।

तीनों शहर मूलत: मत्स्य ग्रहण तथा बुनाई के गाँव थे। वे इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की व्यापारिक गतिविधियों के कारण व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गए। कम्पनी के एजेंट 1639 में मद्रास तथा 1690 में कलकत्ता में बस गए। 1661 में बम्बई को ब्रिटेन के राजा ने कम्पनी को दे दिया गया था, जिसे उसने पुर्तगाल के शासक से अपनी पत्नी के दहेज के रूप में प्राप्त किया था। कम्पनी ने इन तीन बस्तियों में व्यापरिक तथा प्रशासनिक कार्यालय स्थापित किए।

चित्र 12.1
ओरिएंटल सीनरी, 1798 में प्रकाशित डेनियल के एक चित्र पर आधारित टॉमस तथा विलिमय डेनियल द्वारा फोर्ट सेंट जॉर्ज, मद्रास का दक्षिण–पश्चिमी अवलोकन।
माल से लदे यूरोपीय जहाज दूर क्षितिज पर अंकित हैं। अग्रभाग में मछुआरों की देसी नाव देखी जा सकती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ये कस्बे बड़े शहर बन गए थे जहाँ से नए शासक पूरे देश पर नियंत्रण करते थे। आर्थिक गतिविधियों को नियंत्रित करने तथा नए शासकों के प्रभुत्व को दर्शाने के लिए संस्थानों की स्थापना की गई। भारतीयों ने इन शहरों में राजनीतिक प्रभुत्व का नए तरीकों से अनुभव किया। मद्रास, बम्बई और कलकत्ता के नक़्शे अन्य पुराने भारतीय क़स्बों से काफी हद तक अलग थे, और इन शहरों में बनाए गए भवनों पर अपने औपनिवेशिक उद्भव की स्पष्ट छाप थी। इमारतें क्या अभिव्यक्त करती हैं और स्थापत्य क्या ज़ाहिर कर सकता है? इतिहास के छात्र-छात्राओं को इस सवाल पर ज़रूर सोचना चाहिए।

याद रखिए कि स्थापत्य हमारे विचारों को पत्थर, ईंट, लकड़ी या प्लास्टर के माध्यम से आकार देने में सहायक होता है। सरकारी अधिकारी के बंगले और अमीर व्यापारी के महलनुमा आवास से लेकर श्रमिक की साधारण झोपड़ी तक, भवन सामाजिक संबंधों और पहचानों को कई प्रकार से परिलक्षित करते हैं।

1. पूर्व-औपनिवेशिक काल में क़स्बे और शहर

इससे पहले कि हम औपनिवेशिक काल में शहरों के विकास का अन्वेषण करें, हमें ब्रिटिश शासन के पहले की शताब्दियों के शहरों पर नज़र डालनी चाहिए।

1.1 क़स्बों को उनका चरित्र कैसे मिला?

क़स्बों को सामान्यत: ग्रामीण इलाक़ों के विपरीत परिभाषित किया जाता था। वे विशिष्ट प्रकार की आर्थिक गतिविधियों और संस्कृतियों के प्रतिनिधि बन कर उभरे। लोग ग्रामीण अंचलों में खेती, जंगलों में संग्रहण या पशुपालन के द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। इसके विपरीत क़स्बों में शिल्पकार, व्यापारी, प्रशासक तथा शासक रहते थे। क़स्बों का ग्रामीण जनता पर प्रभुत्व होता था और वे खेती से प्राप्त करों और अधिशेष के आधार पर फलते-फूलते थे। अकसर क़स्बों और शहरों की क़िलेबन्दी की जाती थी जो ग्रामीण क्षेत्रों से इनकी पृथकता को चिह्नित करती थी।

फिर भी क़स्बों और गाँवों के बीच की पृथकता अनिश्चित होती थी। किसान तीर्थ करने के लिए लम्बी दूरियाँ तय करते थे और क़स्बों से होकर गुज़रते थे; वे अकाल के समय क़स्बों में जमा भी हो जाते थे। इसके अतिरिक्त लोगों और माल का क़स्बों से गाँवों की ओर विपरीत गमन भी था। जब क़स्बों पर आक्रमण होते थे तो लोग अकसर ग्रामीण क्षेत्रों में शरण लेते थे। व्यापारी और फेरीवाले क़स्बों से माल गाँव ले जाकर बेचते थे, जिसके द्वारा बाज़ारों का फैलाव और उपभोग की नयी शैलियों का सृजन होता था।

स्रोत 1

ग्रामीण क्षेत्रों की ओर पलायन

1857 में ब्रिटिश सेना द्वारा शहर पर अधिकार करने के बाद दिल्ली के लोगों ने क्या किया, इसका वर्णन प्रसिद्ध शायर मिर्ज़ा ग़ालिब इस प्रकार करते हैं:

> दुश्मन को पराजित करने और भगा देने के बाद, विजेताओं (ब्रिटिश) ने सभी दिशाओं से शहर को उजाड़ दिया। जो सड़क पर मिले उन्हें काट दिया गया...। दो से तीन दिनों तक कश्मीरी गेट से चाँदनी चौक तक शहर की हर सड़क युद्धभूमि बनी रही। तीन द्वार – अजमेरी, तुर्कमान तथा दिल्ली – अभी भी विद्रोहियों के क़ब्जे में थे...। इस प्रतिशोधी आक्रोश तथा घृणा के नंगे नाच से लोगों के चेहरों का रंग उड़ गया, और बड़ी संख्या में पुरुष और महिलाएँ.. इन तीनों द्वारों से हड़बड़ा कर पलायन करने लगे। शहर के बाहर छोटे गाँवों और देवस्थलों में शरण ले अपनी वापसी के अनुकूल समय का इंतज़ार करते रहे।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में मुग़लों द्वारा बनाए गए शहर जनसंख्या के केन्द्रीकरण, अपने विशाल भवनों तथा अपनी शाही शोभा व समृद्धि के लिए प्रसिद्ध थे। आगरा, दिल्ली और लाहौर शाही प्रशासन और सत्ता के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। मनसबदार और जागीरदार जिन्हें साम्राज्य के अलग-अलग भागों में क्षेत्र दिये गए थे, सामान्यतः इन शहरों में अपने आवास रखते थे : इन सत्ता केन्द्रों में आवास एक अमीर की स्थिति और प्रतिष्ठा का संकेतक था।

इन केंद्रों में सम्राट और कुलीन वर्ग की उपस्थिति के कारण वहाँ कई प्रकार की सेवाएँ प्रदान करना आवश्यक था। शिल्पकार कुलीन वर्ग के परिवारों के लिए विशिष्ट हस्तशिल्प का उत्पादन करते थे। ग्रामीण अंचलों से शहर के बाज़ारों में निवासियों और सेना के लिए अनाज लाया जाता था। राजकोष भी शाही राजधानी में ही स्थित था। इसलिए राज्य का राजस्व भी नियमित रूप से राजधानी में आता रहता था। सम्राट एक क़िलेबन्द महल में रहता था और नगर एक दीवार से घिरा होता था जिसमें अलग-अलग द्वारों से आने-जाने पर नियंत्रण रखा जाता था। नगरों के भीतर उद्यान, मस्जिदें, मन्दिर, मक़बरे, महाविद्यालय, बाज़ार तथा कारवाँ सराय स्थिति होती थीं। नगर का ध्यान महल और मुख्य मस्जिद की ओर होता था।

दक्षिण भारत के नगरों जैसे मदुरई और काँचीपुरम् में मुख्य केन्द्र मन्दिर होता था। ये नगर महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र भी थे। धार्मिक त्योहार अकसर मेलों के साथ होते थे जिससे तीर्थ और व्यापार जुड़ जाते थे। सामान्यतः शासक धार्मिक संस्थानों का सबसे ऊँचा प्राधिकारी और मुख्य संरक्षक होता था। समाज और शहर में अन्य समूहों और वर्गों का स्थान शासक के साथ उनके संबंधों से तय होता था।

मध्यकालीन शहरों में शासक वर्ग के वर्चस्व वाली सामाजिक व्यवस्था में हरेक से अपेक्षा की जाती थी कि उसे समाज में अपना स्थान पता हो। उत्तर भारत

चित्र 12.2
शाहजहाँनाबाद, 1857
शहर के चारों और बनाई गई दिवारों को 1857 के बाद ढहा दिया गया था। लाल किला नदी के किनारे पर दिखाई दे रहा है। दायीं तरफ फासले पर रिज में आप ब्रिटिश बसावट और छावनी देख सकते हैं।

में इस व्यवस्था को बनाए रखने का कार्य कोतवाल नामक राजकीय अधिकारी का होता था जो नगर में आंतरिक मामलों पर नज़र रखता था और कानून-व्यवस्था बनाए रखता था।

1.2 अठारहवीं शताब्दी में परिवर्तन

यह सब अठारहवीं शताब्दी में बदलने लगा। राजनीतिक तथा व्यापारिक पुनर्गठन के साथ पुराने नगर पतनोन्मुख हुए और नए नगरों का विकास होने लगा। मुग़ल सत्ता के क्रमिक शरण के कारण ही उसके शासन से सम्बद्ध नगरों का अवसान हो गया। मुग़ल राजधानियों, दिल्ली और आगरा ने अपना राजनीतिक प्रभुत्व खो दिया। नयी क्षेत्रीय ताकतों का विकास क्षेत्रीय राजधानियों – लखनऊ, हैदराबाद, सेरिंगपट्म, पूना (आज का पुणे), नागपुर, बड़ौदा तथा तंजौर (आज का तंजावुर) – के बढ़ते महत्त्व में परिलक्षित हुआ। व्यापारी, प्रशासक, शिल्पकार तथा अन्य लोग पुराने मुग़ल केन्द्रों से इन नयी राजधानियों की ओर काम तथा संरक्षण की तलाश में आने लगे। नए राज्यों के बीच निरंतर लड़ाइयों का परिणाम यह था कि भाड़े के सैनिकों को भी यहाँ तैयार रोज़गार मिलता था। कुछ स्थानीय विशिष्ट लोगों तथा उत्तर भारत में मुग़ल साम्राज्य से सम्बद्ध अधिकारियों ने भी इस अवसर का उपयोग 'कस्बे' और 'गंज' जैसी नयी शहरी बस्तियों को बसाने में किया। परंतु राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के प्रभाव सब जगह एक जैसे नहीं थे। कई स्थानों पर नए सिरे से आर्थिक गतिविधियाँ बढ़ीं, कुछ अन्य स्थानों पर युद्ध, लूट-पाट तथा राजनीतिक अनिश्चितता आर्थिक पतन में परिणत हुई।

व्यापार तंत्रों में परिवर्तन शहरी केन्द्रों के इतिहास में परिलक्षित हुए। यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों ने पहले, मुग़ल काल में ही विभिन्न स्थानों पर आधार स्थापित कर लिए थे : पुर्तगालियों ने 1510 में पणजी में, डचों ने 1605 में मछलीपट्नम में, अंग्रेज़ों ने मद्रास में 1639 में तथा फ्रांसीसियों ने 1673 में पांडिचेरी (आज का पुदुचेरी) में। व्यापारिक गतिविधियों में विस्तार के साथ ही इन व्यापारिक केंद्रों के आस-पास नगर विकसित होने लगे। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक स्थल-आधारित साम्राज्यों का स्थान शक्तिशाली जल-आधारित यूरोपीय साम्राज्यों ने ले लिया। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, वाणिज्यवाद तथा पूँजीवाद की शक्तियाँ अब समाज के स्वरूप को परिभाषित करने लगी थीं।

मध्य-अठारहवीं शताब्दी से परिवर्तन का एक नया चरण आरंभ हुआ। जब व्यापारिक गतिविधियाँ अन्य स्थानों पर केंद्रित होने लगीं

दिल्ली का कोतवाल

क्या आप जानते हैं कि हमारे पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के दादा गंगाधर नेहरू 1857 के विद्रोह से पहले दिल्ली के कोतवाल हुआ करते थे? इस बारे में और जानकारी के लिए जवाहरलाल नेहरू की *आत्मकथा* पढ़ें।

क़स्बा ग्रामीण अंचल में एक छोटे नगर को कहा जाता है जो सामान्यतया स्थानीय विशिष्ट व्यक्ति का केन्द्र होता है।
गंज एक छोटे स्थायी बाज़ार को कहा जाता है। क़स्बा और गंज दोनों कपड़ा, फल, सब्जी तथा दूध उत्पादों से संबद्ध थे। विशिष्ट परिवारों तथा सेना के लिए सामग्री उपलब्ध कराते थे।

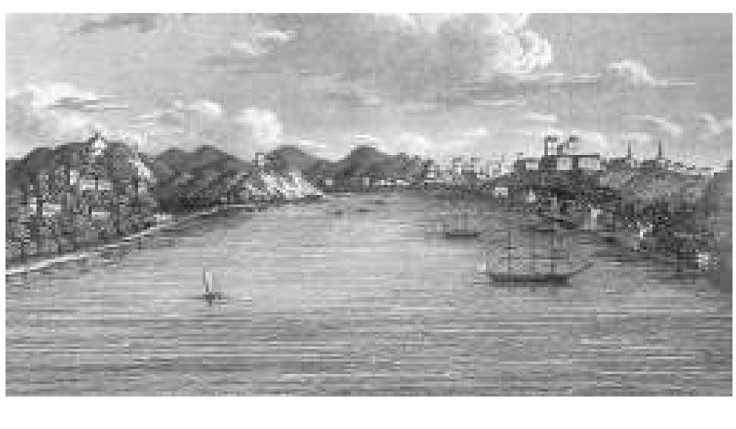

चित्र 12.3
नदी से गोवा शहर का एक दृश्य, जे. ग्रेग द्वारा, 1812

शहरों के नाम

मद्रास, बम्बई और कलकत्ता शब्द उन गाँवों के अंग्रेज़ी प्रभावित नाम हैं जहाँ अंग्रेज़ों ने सबसे पहले अपनी व्यापारिक चौकियाँ बनाई थीं। अब उन्हें चेन्नई, मुम्बई और कोलकाता कहा जाने लगा है।

➲ चर्चा कीजिए...

आप जिस क़स्बे, शहर या गाँव में रहते हैं वहाँ की कौन सी इमारत, संस्थान या स्थान सबसे ज़्यादा फ़ोकस में रहता है। उसके इतिहास की पड़ताल कीजिए, पता लगाइए कि उसका निर्माण कब किया गया, किसने किया, क्यों किया, उस इमारत के क्या उपयोग हैं और क्या उसकी उपयोगिता में कोई बदलाव आया है?

तो सत्रहवीं शताब्दी में विकसित हुए सूरत, मछलीपट्नम तथा ढाका पतनोन्मुख हो गए। 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद जैसे-जैसे अंग्रेज़ों ने राजनीतिक नियंत्रण हासिल किया, और इंग्लिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार फैला, मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई जैसे औपनिवेशिक बंदरगाह शहर तेज़ी से नयी आर्थिक राजधानियों के रूप में उभरे। ये औपनिवेशिक प्रशासन और सत्ता के केन्द्र भी बन गए। नए भवनों और संस्थानों का विकास हुआ, तथा शहरी स्थानों को नए तरीकों से व्यवस्थित किया गया। नए रोज़गार विकसित हुए और लोग इन औपनिवेशिक शहरों की ओर उमड़ने लगे। लगभग 1800 तक ये जनसंख्या के लिहाज़ से भारत के विशालतम शहर बन गए थे।

2. औपनिवेशिक शहरों की पड़ताल

2.1 औपनिवेशिक रिकॉड्र्स और शहरी इतिहास

औपनिवेशिक शासन बेहिसाब आंकड़ों और जानकारियों के संग्रह पर आधारित था। अंग्रेज़ों ने अपने व्यावसायिक मामलों को चलाने के लिए व्यापारिक गतिविधियों का विस्तृत ब्यौरा रखा था। बढ़ते शहरों में जीवन की गति और दिशा पर नज़र रखने के लिए वे नियमित रूप से सर्वेक्षण करते थे। सांख्यिकीय आँकड़े इकट्ठा करते थे और विभिन्न प्रकार की सरकारी रिपोर्टें प्रकाशित करते थे।

प्रारंभिक वर्षों से ही औपनिवेशिक सरकार ने मानचित्र तैयार करने पर ख़ास ध्यान दिया। सरकार का मानना था कि किसी जगह की बनावट और भूदृश्य को समझने के लिए नक्शे ज़रूरी होते हैं। इस जानकारी के सहारे वे इलाके पर ज़्यादा बेहतर नियंत्रण कायम कर सकते थे। जब शहर बढ़ने लगे तो न केवल उनके विकास की योजना तैयार करने के लिए बल्कि व्यवसाय को विकसित करने और अपनी सत्ता मज़बूत करने के लिए भी नक्शे बनाये जाने लगे। शहरों के नक्शों से हमें उस स्थान पर पहाड़ियों, नदियों व हरियाली का पता चलता है। ये सारी चीज़ें रक्षा संबंधी उद्देश्यों के लिए योजना तैयार करने में बहुत काम आती हैं। इसके अलावा घाटों की जगह, मकानों की सघनता और गुणवत्ता तथा सड़कों की स्थिति आदि से इलाके की व्यावसायिक संभावनाओं का पता लगाने और कराधान (टैक्स व्यवस्था) की रणनीति बनाने में मदद मिलती है।

उन्नीसवीं सदी के आख़िर से अंग्रेज़ों ने वार्षिक नगर पालिका कर वसूली के ज़रिए शहरों के रखरखाव के वास्ते पैसा इकट्ठा करने की कोशिशें शुरू कर दी थीं। टकरावों से बचने के लिए उन्होंने कुछ ज़िम्मेदारियाँ निर्वाचित भारतीय प्रतिनिधियों को भी सौंपी हुई थीं। आंशिक लोक-प्रतिनिधित्व से लैस नगर निगम जैसे संस्थानों का उद्देश्य शहरों में जलापूर्ति, निकासी, सड़क निर्माण और स्वास्थ्य व्यवस्था जैसी अत्यावश्यक

सेवाएँ उपलब्ध कराना था। दूसरी तरफ़, नगर निगमों की गतिविधियों से नए तरह के रिकॉड्र्स पैदा हुए जिन्हें नगर पालिका रिकॉर्ड रूम में सँभाल कर रखा जाने लगा।

शहरों के फैलाव पर नज़र रखने के लिए नियमित रूप से लोगों की गिनती की जाती थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक विभिन्न क्षेत्रों में कई जगह स्थानीय स्तर पर जनगणना की जा चुकी थी। अखिल भारतीय जनगणना का पहला प्रयास 1872 में किया गया। इसके बाद, 1881 से दशकीय (हर 10 साल में होने वाली) जनगणना एक नियमित व्यवस्था बन गई। भारत में शहरीकरण का अध्ययन करने के लिए जनगणना से निकले आँकड़े एक बहुमूल्य स्रोत हैं।

जब हम इन रिपोर्टों को देखते हैं तो ऐसा लगता है कि हमारे पास ऐतिहासिक परिवर्तन को मापने के लिए ठोस जानकारी उपलब्ध है। बीमारियों से होने वाली मौतों की सारणियों का अन्तहीन सिलसिला, या उम्र, लिंग, जाति एवं व्यवसाय के अनुसार लोगों को गिनने की व्यवस्था से संख्याओं का एक विशाल भंडार मिलता है जिससे सटीकता का भ्रम पैदा हो जाता है। लेकिन इतिहासकारों ने पाया है कि ये आंकड़े भ्रामक भी हो सकते हैं। इन आंकड़ों का इस्तेमाल करने से पहले हमें इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आंकड़े किसने इकट्ठा किए हैं, और उन्हें क्यों तथा कैसे इकट्ठा किया गया था। हमें यह भी मालूम होना चाहिए कि किस चीज़ को मापा गया था और किस चीज़ को नहीं मापा गया था।

मिसाल के तौर पर, जनगणना एक ऐसा साधन थी जिसके ज़रिए आबादी के बारे में सामाजिक जानकारियों को सुगम्य आंकडों में तब्दील किया जाता था। लेकिन इस प्रक्रिया में कई भ्रम थे। जनगणना आयुक्तों ने आबादी के विभिन्न तबकों का वर्गीकरण करने के लिए अलग-अलग श्रेणियाँ बना दी थीं। कई बार यह वर्गीकरण निहायत अतार्किक होता था और लोगों की परिवर्तनशील व परस्पर काटती पहचानों को पूरी तरह नहीं पकड़ पाता था। भला ऐसे व्यक्ति को किस श्रेणी में रखा जाएगा जो कारीगर भी था और व्यापारी भी। जो आदमी अपनी ज़मीन पर ख़ुद खेती करता है और उपज को ख़ुद शहर ले जाता है, उसको किस श्रेणी में गिना जाएगा। उसे किसान माना जाएगा या व्यापारी?

चित्र 12.4
बम्बई का मानचित्र
"कासल" (दुर्ग) नामक गोले में घिरा हिस्सा किलाबंद आबादी का अंग था। बिंदुकित भाग में वे सात द्वीप दर्शाये गये हैं जिन्हें भूमि विकास परियोजनाओं के जरिए एक दूसरे से जोड़ दिया गया था।

नक्शे क्या बताते हैं और क्या छिपाते हैं

सर्वेक्षण पद्धतियों के विकास, सटीक वैज्ञानिक औज़ारों और ब्रिटिश शाही ज़रूरतों की वजह से मानचित्रों को बड़ी सावधानी के साथ तैयार किया जाता था। सर्वे ऑफ़ इंडिया (भारत सर्वेक्षण) का गठन 1878 में किया गया था। उस समय तैयार किए गए नक्शों से हमें काफ़ी सारी जानकारी तो मिलती है, साथ ही अंग्रेज़ शासकों की सोच में निहित भेदभाव भी उजागर हो जाता है। मसलन, शहर में ग़रीबों की बड़ी-बड़ी बस्तियों को नक्शे पर चिह्नित ही नहीं किया गया क्योंकि शासकों के लिए उनका महत्त्व नहीं था। परिणामस्वरूप यह मान लिया गया कि नक्शे पर मौजूद ये रिक्त स्थान अन्य विकास योजनाओं के लिए उपलब्ध हैं। जब इन योजनाओं को शुरू किया गया तो वहाँ से ग़रीबों को हटा दिया गया।

बहुधा लोग खुद भी इस प्रक्रिया में मदद देने से इनकार कर देते थे या जनगणना आयुक्तों को गलत जवाब दे देते थे। काफ़ी अरसे तक वे जनगणना कार्यों को संदेह की दृष्टि से देखते रहे। लोगों को लगता था कि सरकार नए टैक्स लागू करने के लिए जाँच करवा रही है। ऊँची जाति के लोग अपने घर की औरतों के बारे में जानकारी देने से हिचकिचाते थे; महिलाओं से अपेक्षा की जाती थी कि वे घर के भीतरी हिस्से में दुनिया से कट कर रहें, उनके बारे में सार्वजनिक दृष्टि या सार्वजनिक जाँच को सही नहीं माना जाता था।

जनगणना अधिकारियों ने यह भी पाया कि बहुत सारे लोग ऐसी पहचानों का दावा करते थे जो ऊँची हैसियत की मानी जाती थीं। शहरों में ऐसे लोग भी थे जो फेरी लगाते थे या काम न होने पर मज़दूरी करने लगते थे। इस तरह के बहुत सारे लोग जनगणना कर्मचारियों के सामने खुद को अकसर व्यापारी बताते थे क्योंकि उन्हें मज़दूरी के मुकाबले व्यापार ज़्यादा सम्मानित गतिविधि लगती थी।

मृत्यु दर और बीमारियों से संबंधित आंकड़ों को इकट्ठा करना भी लगभग असंभव था। बीमार पड़ने की जानकारी भी लोग प्राय: नहीं देते थे। बहुत बार इलाज भी गैर-लाइसेंसी डॉक्टरों से करा लिया जाता था। ऐसे में बीमारी या मौत की घटनाओं का सटीक हिसाब लगाना कैसे संभव था?

कहने का मतलब यही है कि इतिहासकारों को जनगणना जैसे स्रोतों का भारी अहतियात से इस्तेमाल करना पड़ता है। उन्हें जनगणना के पीछे निहित संभावित पूर्वाग्रहों को ध्यान में रखते हुए इन संख्याओं की सावधानी से पड़ताल करनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि ये संख्याएँ क्या नहीं बता रही हैं। मगर जनगणना और नगरपालिका जैसे संस्थानों के सर्वेक्षण मानचित्रों और रिकार्डों के सहारे औपनिवेशिक शहरों का पुराने शहरों के मुकाबले ज़्यादा विस्तार से अध्ययन किया जा सकता है।

2.2 बदलाव के रुझान

जनगणनाओं का सावधानी से अध्ययन करने पर कुछ दिलचस्प रुझान सामने आते हैं। सन् 1800 के बाद हमारे देश में शहरीकरण की रफ़्तार धीमी रही। पूरी उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के पहले दो दशकों तक देश की कुल आबादी में शहरी आबादी का हिस्सा बहुत मामूली और स्थिर रहा। इसे चित्र 12.5 से समझा जा सकता है। 1900 से 1940 के बीच 40 सालों के दरमियान शहरी आबादी 10 प्रतिशत से बढ़ कर लगभग 13 प्रतिशत हो गई थी।

अपरिवर्तनशीलता के नीचे विभिन्न क्षेत्रों में शहरी विकास के रुझानों में उल्लेखनीय उतार-चढ़ाव छिपे हुए हैं। छोटे क़स्बों के पास आर्थिक रूप से विकसित होने के ज़्यादा मौके नहीं थे। दूसरी तरफ़ कलकत्ता,

बम्बई और मद्रास तेज़ी से फैले और जल्दी ही विशाल शहर बन गए। कहने का मतलब यह है कि नए व्यावसायिक एवं प्रशासनिक केंद्रों के रूप में इन तीन शहरों के पनपने के साथ-साथ कई दूसरे तत्कालीन शहर कमज़ोर भी पड़ते जा रहे थे।

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का केंद्र होने के नाते ये शहर भारतीय सूती कपड़े जैसे निर्यात उत्पादों के लिए संग्रह डिपो थे। मगर इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रांति के बाद इस प्रवाह की दिशा बदल गई और इन शहरों में ब्रिटेन के कारखानों में बनी चीज़ें उतरने लगीं। भारत से तैयार माल की बजाय कच्चे माल का निर्यात होने लगा।

इस आर्थिक गतिविधि का स्वरूप ऐसा था कि उसने औपनिवेशिक शहरों को देश के परंपरागत शहरों और क़स्बों से बिलकुल अलग ला खड़ा किया।

1853 में रेलवे की शुरुआत हुई। इसने शहरों की कायापलट कर दी। आर्थिक गतिविधियों का केंद्र परंपरागत शहरों से दूर जाने लगा क्योंकि ये शहर पुराने मार्गों और नदियों के समीप थे। हरेक रेलवे स्टेशन कच्चे माल का संग्रह केंद्र और आयातित वस्तुओं का वितरण बिंदु बन गया। उदाहरण के लिए, गंगा के किनारे स्थित मिर्ज़ापुर दक्कन से कपास तथा सूती वस्तुओं के संग्रह का केंद्र था जो बम्बई तक जाने वाली रेलवे लाइन के अस्तित्व में आने के बाद अपनी पहचान खोने लगा था (देखें अध्याय 10, चित्र 10.18)। रेलवे नेटवर्क के विस्तार के बाद रेलवे वर्कशॉप्स और रेलवे कालोनियों की भी स्थापना शुरू हो गई। जमालपुर, वॉल्टेयर और बरेली जैसे रेलवे नगर अस्तित्व में आए।

चित्र 12.5

भारत में शहरीकरण 1881-1942

साल	कुल आबादी में शहरी आबादी का प्रतिशत
1891	9.4
1901	10.0
1911	9.4
1921	10.2
1931	11.1
1941	12.8

➲ चर्चा कीजिए...

जनगणना के अलावा ऐसी दो विधियाँ बताइए जिनके माध्यम से आधुनिक शहरों में आंकड़े इकट्ठा करने और उनको संकलित करने का काम अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन चुका है। सांख्यिकीय आंकड़ों या शहर के नक़्शों में से किसी एक का अध्ययन कीजिए। पता लगाइए कि ये आंकड़े किसने और क्यों इकट्ठा किए? इस तरह के संग्रह में कौन से संभावित भेद-भाव छिपे हो सकते हैं? कौन सी जानकारियाँ थीं जिनको दर्ज नहीं किया गया? यह पता लगाइए कि वे नक़्शे क्यों बनाए गए और क्या उनमें शहर के सभी भागों को समान बारीकी से चिह्नित किया गया है?

चित्र 12.6
फोर्ट एरिया का बोरा बाज़ार, 1885
जैसे-जैसे बम्बई फैली, फोर्ट एरिया में भी भीड़ बढ़ने लगी। व्यापारी, दुकादार और नौकरीपेशा लोग इस इलाके में आने लगे। बहुत सारे नए बाज़ार खुले और बड़ी-बड़ी इमारतें बनने लगीं। इसके भीड़-भड़ाके से चिंतित अंग्रेज़ों ने फोर्ट के उत्तरी इलाके से भारतीयों को खदेड़ने की कोशिशें शुरू कर दीं।

3. नए शहर कैसे थे?

3.1 बंदरगाह, क़िले और सेवाओं के केंद्र

चित्र 12.7
कलकत्ता में ओल्ड .फ़ोर्ट घाट, टॉमस एवं विलियम डेनियल का उत्कीर्ण चित्र, 1787
ओल्ड फ़ोर्ट पानी के किनारे बनाया गया था। कंपनी का माल यहीं उतारा जाता था। स्थानीय लोग यहाँ नहाने-धोने के लिए आते थे।

अठारहवीं सदी तक मद्रास, कलकत्ता और बम्बई महत्वपूर्ण बंदरगाह बन चुके थे। यहाँ जो आबादियाँ बसीं वे चीज़ों के संग्रह के लिए काफ़ी उपयोगी साबित हुईं। ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने कारख़ाने (यानी वाणिज्यिक कार्यालय) इन्हीं बस्तियों में बनाए और यूरोपीय कंपनियों के बीच प्रतिस्पर्धा के कारण सुरक्षा के उद्देश्य से इन बस्तियों की किलेबंदी कर दी। मद्रास में फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज, कलकत्ता में फ़ोर्ट विलियम और बम्बई में फ़ोर्ट, ये इलाके ब्रिटिश आबादी के रूप में जाने जाते थे। यूरोपीय व्यापारियों के साथ लेन-देन चलाने वाले भारतीय व्यापारी, कारीगर और कामगार इन क़िलों के बाहर अलग बस्तियों में रहते थे। यूरोपीयों और भारतीयों के लिए शुरू से ही अलग क्वार्टर बनाए गये थे। उस समय के लेखन में उन्हें "व्हाइट टाउन" (गोरा शहर) और "ब्लैक टाउन" (काला शहर) के नाम से उद्धृत किया जाता था। राजनीतिक सत्ता अंग्रेज़ों के हाथ में आ जाने के बाद यह नस्ली फ़र्क़ और भी तीखा हो गया।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में रेलवे के फैलते नेटवर्क ने इन शहरों को शेष भारत से जोड़ दिया। नतीजा यह हुआ कि जहाँ से कच्चा माल और मज़दूर आते थे, ऐसे देहाती और दूर-दराज़ इलाक़े भी इन बंदरगाह शहरों से गहरे तौर पर जुड़ने लगे। क्योंकि कच्चा माल निर्यात के लिए इन शहरों में आता था और सस्ते श्रम की कोई कमी नहीं थी इसलिए वहाँ कारखानें लगाना आसान था। 1850 के दशक के बाद भारतीय व्यापारियों और उद्यमियों ने बम्बई में सूती कपड़ा मिलें लगाईं। कलकत्ता के बाहरी इलाक़े में यूरोपीयों के स्वामित्व वाली जूट मिलें खोली गईं। यह भारत में आधुनिक औद्योगिक विकास की शुरुआत थी।

हालाँकि कलकत्ता, बम्बई और मद्रास इंग्लिश कारख़ानों के लिए कच्चा माल भेजते थे और पूँजीवाद जैसी आधुनिक आर्थिक ताकतों के बल पर मज़बूती से सामने आ चुके थे लेकिन उनकी अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से फ़ैक्ट्री उत्पादन पर आधारित नहीं थी। इन शहरों की ज़्यादातर कामकाजी आबादी उस श्रेणी में आती थी जिसे अर्थशास्त्री तृतीयक क्षेत्र (Tertiary Sector) या सेवा क्षेत्र कहते हैं। उस समय यहाँ सही मायनों

में केवल दो "औद्योगिक शहर" थे। एक कानपुर और दूसरा जमशेदपुर। कानपुर में चमड़े की चीज़ें, ऊनी और सूती कपड़े बनते थे जबकि जमशेदपुर स्टील उत्पादन के लिए विख्यात था। भारत कभी भी एक आधुनिक औद्योगिक देश नहीं बन पाया क्योंकि पक्षपातपूर्ण औपनिवेशिक नीतियों ने हमारे औद्योगिक विकास को आगे नहीं बढ़ने दिया। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास बड़े शहर तो बने लेकिन इससे औपनिवेशिक भारत की समूची अर्थव्यवस्था में कोई नाटकीय इजाफ़ा नहीं हुआ।

➲ चित्र 12.8 तथा 12.9 को देखिए। सड़कों पर होने वाली उन गतिविधियों पर ध्यान दीजिए जिन्हें डेनियल बंधु चित्र में दर्शाना चाहते हैं। इन गतिविधियों से अठारहवीं सदी के आख़िर में कलकत्ता की सड़कों के सामाजिक जीवन के बारे में क्या पता चलता है?

3.2 एक नया शहरी परिवेश

औपनिवेशिक शहर नए शासकों की वाणिज्यिक संस्कृति को प्रतिबिम्बित करते थे। राजनीतिक सत्ता और संरक्षण भारतीय शासकों के स्थान पर ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों के हाथ में जाने लगा। दुभाषिए, बिचौलिए, व्यापारी और माल आपूर्तिकर्ता के रूप में काम करने वाले भारतीयों का भी इन नए शहरों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। नदी या समुद्र के किनारे आर्थिक गतिविधियों से गोदियों और घाटियों का विकास हुआ। समुद्र किनारे गोदाम, वाणिज्यिक कार्यालय, जहाज़रानी उद्योग के लिए बीमा एजेंसियाँ, यातायात डिपो और बैंकिंग संस्थानों की स्थापना होने लगी। कंपनी के मुख्य प्रशासकीय कार्यालय समुद्र तट से दूर बनाए गए। कलकत्ता में स्थित राइटर्स बिल्डिंग इसी तरह का एक दफ़्तर हुआ करती थी। यहाँ "राइटर्स" का आशय क्लर्कों से था। यह ब्रिटिश शासन में नौकरशाही के बढ़ते कद का संकेत था। क़िले की चारदिवारी के आस-पास यूरोपीय व्यापारियों और एजेंटों ने यूरोपीय शैली के महलनुमा मकान बना लिए थे। कुछ ने शहर की सीमा से सटे उपशहरी (Suburb, मुफ़स्सिल) इलाक़ों में बग़ीचा घर (Garden House) बना लिए थे। शासक वर्ग के लिए नस्ली विभेद पर आधारित क्लब, रेसकोर्स और रंगमंच भी बनाए गए।

चित्र 12.8
दि ओल्ड कोर्ट हाउस और राइटर्स बिल्डिंग, टॉमस एवं विलियम डेनियल, 1786
दाएँ हाथ पर कोर्ट हाउस (न्यायालय परिसर) के खुले तोरणपथ वाले बरामदे और लंबे खम्भों को 1792 में ढहा दिया गया था। इसके बगल में राइटर्स बिल्डिंग खड़ी है जहाँ ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी (जिन्हें भारत में आने पर राइटर्स कहा जाता था) रहते थे। बाद में यह इमारत सरकारी कार्यालय बना दी गई।

चित्र 12.9
चौरंगी में नयी इमारतें, टॉमस एवं विलियम डेनियल, 1787
मैदान के पूर्वी किनारे पर अंग्रेज़ों के निजी मकान अठारहवीं सदी के आखिर में बनने लगे थे। इनमें से ज़्यादातर मकान पल्लड़ियन शैली के थे जिनमें गर्मियों से बचने के लिए खम्भों के सहारे बड़े बरामदे बनाए गए थे।

चित्र 12.10
द मार्बल पैलेस (संगमरमर महल), कलकत्ता
यह नए शहरी संभ्रांत वर्ग के किसी भारतीय परिवार द्वारा बनवाई गई सबसे भव्य इमारतों में से एक थी।

अमीर भारतीय एजेंटों और बिचौलियों ने बाज़ारों के आस-पास ब्लैक टाउन में परंपरागत ढंग के दालानी मकान बनवाए। उन्होंने भविष्य में पैसा लगाने के लिए शहर के भीतर बड़ी-बड़ी ज़मीनें भी ख़रीद ली थीं। अपने अंग्रेज़ स्वामियों को प्रभावित करने के लिए वे त्योहारों के समय रंगीन दावतों का आयोजन करते थे। समाज में अपनी हैसियत साबित करने के लिए उन्होंने मंदिर भी बनवाए। मज़दूर वर्ग के लोग अपने यूरोपीय और भारतीय स्वामियों के लिए ख़ानसामा, पालकीवाहक, गाड़ीवान, चौकीदार, पोर्टर और निर्माण व गोदी मज़दूर के रूप में विभिन्न सेवाएँ उपलब्ध कराते थे। वे शहर के विभिन्न इलाक़ों में कच्ची झोंपड़ियों में रहते थे।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में औपनिवेशिक शहर का स्वरूप और भी बदल गया। 1857 के विद्रोह के बाद भारत में अंग्रेज़ों का रवैया विद्रोह की लगातार आशंका से तय होने लगा था। उनको लगता था कि शहरों की और अच्छी तरह हिफ़ाज़त करना ज़रूरी है और अंग्रेज़ों को "देशियों" (Natives) के ख़तरे से दूर, ज़्यादा सुरक्षित व पृथक बस्तियों में रहना चाहिए। पुराने क़स्बों के इर्द-गिर्द चरागाहों और खेतों को साफ़ कर दिया गया। "सिविल लाइन्स" के नाम से नए शहरी इलाक़े विकसित किए गए। सिविल लाइन्स में केवल गोरों को बसाया गया। छावनियों को भी सुरक्षित स्थानों के रूप में विकसित किया गया। छावनियों में यूरोपीय कमान के अंतर्गत भारतीय सैनिक तैनात किए जाते थे। ये इलाक़े मुख्य शहर से अलग लेकिन जुड़े हुए होते थे। चौड़ी सड़कों, बड़े बगीचों में बने बंगलों, बैरकों, परेड मैदान और चर्च आदि से लैस ये छावनियाँ यूरोपीय लोगों के लिए एक सुरक्षित आश्रय स्थल

चित्र 12.11
चितपुर बाज़ार, चार्ल्स डी. ऑइली द्वारा
चितपुर बाज़ार कलकत्ता में ब्लैक टाउन और व्हाइट टाउन की सीमा पर स्थित था। यहाँ विभिन्न प्रकार के मकानों को देखिए: एक तरफ अमीर ज़मींदार की ईंटों से बनी इमारत है और दूसरी तरफ फूँस से बनी गरीबों की झोंपड़ियाँ हैं। तसवीर में दिखाई दे रहे मंदिर को अंग्रेज़ ब्लैक पगोडा कहते थे जिसका यहाँ रहने वाले गोविन्द राम मित्तर नामक ज़मींदार ने निर्माण कराया था। नस्ल पर आधारित भाषा के चलते नाम भी अकसर स्याही में रँगे होते थे।

तो थीं ही, भारतीय क़स्बों की घनी और बेतरतीब बसावट के विपरीत व्यवस्थित शहरी जीवन का एक नमूना भी थीं। अंग्रेज़ों की नज़र में

काले इलाक़े न केवल अराजकता और हो-हल्ले का केंद्र थे, वे गंदगी और बीमारी का स्रोत भी थे। काफ़ी समय तक अंग्रेज़ों की दिलचस्पी गोरों की आबादी में सफ़ाई और स्वच्छता बनाए रखने तक ही सीमित थी लेकिन जब हैज़ा और प्लेग जैसी महामारियाँ फैलीं और हज़ारों लोग मारे गये तो औपनिवेशिक अफ़सरों को स्वच्छता व सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए ज़्यादा कड़े क़दम उठाने की ज़रूरत महसूस हुई। उनको भय था कि कहीं ये बीमारियाँ ब्लैक टाउन से व्हाइट टाउन में भी न फैल जाएँ। 1860-70 के दशकों से साफ़-सफ़ाई के बारे में कड़े प्रशासकीय उपाय लागू किए गये और भारतीय शहरों में निर्माण गतिविधियों पर अंकुश लगाया गया। लगभग इसी समय भूमिगत पाइप आधारित जलापूर्ति, निकासी और नाली व्यवस्था भी निर्मित की गई। इस प्रकार भारतीय शहरों को नियमित व नियंत्रित करने के लिए स्वच्छता निगरानी भी एक अहम तरीका बन गया।

3.3 पहला हिल स्टेशन

छावनियों की तरह हिल स्टेशन (पर्वतीय सैरगाह) भी औपनिवेशिक शहरी विकास का एक ख़ास पहलू थी। हिल स्टेशनों की स्थापना और बसावट का संबंध सबसे पहले ब्रिटिश सेना की ज़रूरतों से था। सिमला (वर्तमान शिमला) की स्थापना गुरखा युद्ध (1815-1816) के दौरान की गई। अंग्रेज़-मराठा (1818) युद्ध के कारण अंग्रेज़ों की दिलचस्पी माउंट आबू में बनी जबकि दार्जीलिंग को 1835 में सिक्किम के राजाओं से छीना गया था। ये हिल स्टेशन फ़ौजियों को ठहराने, सरहद की चौकसी करने और दुश्मन के ख़िलाफ़ हमला बोलने के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान थे।

चित्र 12.12
शिमला के एक औपनिवेशिक मकान का चित्र
यह सर जॉन मार्शल का आवास था।

भारतीय पहाड़ों की मृदु और ठंडी जलवायु को फायदे की चीज़ माना जाता था, ख़ासतौर से इसलिए कि अंग्रेज़ गर्म मौसम को बीमारियाँ पैदा करने वाला मानते थे। उन्हें गर्मियों के कारण हैज़ा और मलेरिया की सबसे ज़्यादा आंशका रहती थी। वे फ़ौजियों को इन बीमारियों से दूर रखने की पूरी कोशिश करते थे। सेना की भारी-भरकम मौजूदगी के कारण ये स्थान पहाड़ियों में एक नयी तरह की छावनी बन गये। इन हिल स्टेशनों को सेनेटोरियम के रूप में भी विकसित किया गया था। सिपाहियों को यहाँ विश्राम करने और इलाज कराने के लिए भेजा जाता था।

क्योंकि हिल स्टेशनों की जलवायु यूरोप की ठंडी जलवायु से मिलती-जुलती थी इसलिए नये शासकों को वहाँ की आबो-हवा काफ़ी लुभाती थी। वायसराय अपने पूरे अमले के साथ हर साल गर्मियों में हिल स्टेशनों पर ही डेरा डाल लिया करते थे। 1864 में वायसराय जॉन लॉरेंस ने अधिकृत रूप से अपनी काउंसिल शिमला में स्थानांतरित कर दी और इस तरह गर्म मौसम में राजधानियाँ बदलने के सिलसिले पर विराम लगा दिया। शिमला भारतीय सेना के कमांडर इन चीफ़ (प्रधान सेनापति) का भी अधिकृत आवास बन गया।

हिल स्टेशन ऐसे अंग्रेज़ों और यूरोपीयनों के लिए भी आदर्श स्थान थे जो अपने घर जैसी मिलती-जुलती बस्तियाँ बसाना चाहते थे। उनकी इमारतें यूरोपीय शैली की होती थीं। अलग-अलग मकानों के बाद एक-दूसरे से कटे विला और बागों के बीच में स्थित कॉटेज बनाए जाते थे। एंग्लिकन चर्च और शैक्षणिक संस्थान आंग्ल आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते थे। सामाजिक दावत, चाय, बैठक, पिकनिक, रात्रिभोज, मेले, रेस और रंगमंच जैसी घटनाओं के रूप में यूरोपीयों का सामाजिक जीवन भी एक ख़ास क़िस्म का था।

चित्र 12.13
मनाली, हिमाचल प्रदेश का एक गाँव
यद्यपि अंग्रेज़ों ने पहाड़ों में भी औपनिवेशिक स्थापत्य शैलियों का इस्तेमाल किया लेकिन स्थानीय लोग पहले की तरह ही रहते रहे।

रेलवे के आने से ये पर्वतीय सैरगाहें बहुत तरह के लोगों की पहुँच में आ गईं। अब भारतीय भी वहाँ जाने लगे। उच्च और मध्यवर्गीय लोग, महाराजा, वकील और व्यापारी सैर-सपाटे के लिए इन स्थानों पर जाने लगे। वहाँ उन्हें शासक यूरोपीय अभिजन के निकट होने का संतोष मिलता था।

हिल स्टेशन औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के लिए भी महत्त्वपूर्ण थे। पास के हुए इलाक़ों में चाय और कॉफ़ी बगानों की स्थापना से मैदानी इलाक़ों से बड़ी संख्या में मज़दूर वहाँ आने लगे। इसका नतीजा यह हुआ कि अब हिल स्टेशन केवल यूरोपीय लोगों की ही सैरगाह नहीं रह गए थे।

3.4 नए शहरों में सामाजिक जीवन

साधारण भारतीय आबादी के लिए नए शहर दाँतों तले उँगली दबा लेने का अनुभव थे जहाँ ज़िंदगी हमेशा दौड़ती-भागती सी दिखाई देती थी। वहाँ चरम संपन्नता और गहन ग़रीबी, दोनों के दर्शन एक साथ होते थे।

घोड़ागाड़ी जैसे नए यातायात साधन और बाद में ट्रामों और बसों के आने से यह हुआ कि अब लोग शहर के केंद्र से दूर जाकर भी बस सकते थे। समय के साथ काम की जगह और रहने की जगह, दोनों एक-दूसरे से अलग होते गए। घर से दफ़्तर या फ़ैक्ट्री जाना एक नए क़िस्म का अनुभव बन गया।

चित्र 12.14
कलकत्ता में एक सड़क पर चलती ट्राम गाड़ियाँ।

यद्यपि अब पुराने शहरों में मौजूद सामंजस्य और वाकफ़ियत का अहसास ग़ायब था लेकिन टाउन हॉल, सार्वजनिक पार्क, रंगशालाओं और बीसवीं सदी में सिनेमा हॉलों जैसे सार्वजनिक स्थानों के बनने से शहरों में लोगों को मिलने-जुलने की उत्तेजक नयी जगह और अवसर मिलने लगे थे। शहरों में नए सामाजिक समूह बने तथा लोगों की पुरानी पहचानें महत्त्वपूर्ण नहीं रहीं। तमाम वर्गों के लोग बड़े शहरों में आने लगे। क्लर्कों, शिक्षकों, वकीलों, डॉक्टरों, इंजीनियरों, अकाउंटेंट्स की माँग बढ़ती जा रही थी। नतीजा, "मध्यवर्ग" बढ़ता गया। उनके पास स्कूल, कॉलेज और लाइब्रेरी जैसे नए शिक्षा संस्थानों तक अच्छी पहुँच थी। शिक्षित होने के नाते वे समाज और सरकार के बारे में अख़बारों, पत्रिकाओं और सार्वजनिक सभाओं में अपनी राय व्यक्त कर सकते थे। बहस और चर्चा का एक नया सार्वजनिक दायरा पैदा हुआ। सामाजिक रीति-रिवाज, क़ायदे-कानून और तौर-तरीकों पर सवाल उठने लगे।

लेकिन बहुत सारे सामाजिक बदलाव स्वाभाविक रूप से या आसानी से नहीं आ रहे थे। शहरों में औरतों के लिए नए अवसर थे। पत्र-पत्रिकाओं, आत्मकथाओं और पुस्तकों के माध्यम से मध्यवर्गीय औरतें ख़ुद को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही थीं। परंपरागत पितृसत्तात्मक कायदे-कानूनों को बदलने की इन कोशिशों से बहुत सारे लोगों को असंतोष था। रूढ़िवादियों को भय था कि अगर औरतें पढ़-लिख गईं तो वे दुनिया को उलट कर रख देंगी और पूरी सामाजिक व्यवस्था का आधार ख़तरे में पड़ जाएगा। यहाँ तक कि महिलाओं की शिक्षा का समर्थन करने वाले सुधारक भी औरतों को माँ और पत्नी की परंपरागत भूमिकाओं में ही देखते थे और चाहते थे कि वे घर की चारदीवारी के भीतर ही रहें। समय बीतने के साथ सार्वजनिक स्थानों पर महिलाओं की उपस्थिति बढ़ने लगी। वे नौकरानी और फ़ैक्ट्री मज़दूर, शिक्षिका, रंगकर्मी

आमार कथा (मेरी कहानी)

विनोदिनी दासी (1863-1941) बंगाली रंगमच में उन्नीसवीं सदी के आखिर और बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों की जानी-मानी हस्ती थीं। उन्होंने नाटककार और निर्देशक गिरिश चंद्र घोष (1844-1912) के साथ काफ़ी काम किया। स्टार थिएटर, कलकत्ता की स्थापना (1883) के पीछे उनका मुख्य हाथ था। यह थिएटर बाद में कई प्रसिद्ध नाटकों के लिए जाना गया। 1910 से 1913 के बीच उन्होंने *आमार कथा* के नाम से क़िस्तों में अपनी आत्मकथा लिखी। वह एक ज़बरदस्त व्यक्तित्व वाली महिला थीं। उन्होंने समाज में औरतों की समस्याओं पर केंद्रित कई भूमिकाएँ निभाईं। वह अभिनेत्री, संस्था निर्माता और लेखिका, कई भूमिकाएँ एक साथ निभाती थीं लेकिन उस समय के पितृसत्तात्मक समाज ने सार्वजनिक दायरे में उनकी उपस्थिति को कभी पसंद नहीं किया।

चित्र 12.15
उन्नीसवीं सदी के आख़िर की एक कालीघट पेंटिंग।
स्त्री सत्ता के बारे में पुरुषों की बेचैनी को अकसर एक ऐसी तसवीर के ज़रिए दर्शाया जाता था जिसमें औरत एक जादूगरनी के भेष में आदमी को भेड़ बना देती है। जैसे-जैसे औरतें पढ़-लिख कर अपने घर की चारदीवारी से निकलने लगीं, लोकप्रिय तसवीरों में औरतों की ऐसी छवियाँ खूब दिखाई देने लगीं।

और फ़िल्म कलाकार के रूप में शहर के नए व्यवसायों में दाख़िल होने लगीं। लेकिन ऐसी महिलाओं को लंबे समय तक सामाजिक रूप से सम्मानित नहीं माना जाता था जो घर से निकलकर सार्वजनिक स्थानों में जा रही थीं।

शहरों में मेहनतकश ग़रीबों या कामगारों का एक नया वर्ग उभर रहा था। ग्रामीण इलाक़ों के ग़रीब रोज़गार की उम्मीद में शहरों की तरफ़ भाग रहे थे। कुछ लोगों को शहर नए अवसरों का स्रोत दिखाई देते थे। कुछ को एक भिन्न जीवनशैली का आकर्षण खींच रहा था। उनके लिए यह एक ऐसी चीज़ थी जो उन्होंने पहले कभी नहीं देखी थी। शहर में जीने की लागत पर अंकुश रखने के लिए ज़्यादातर पुरुष प्रवासी अपना परिवार गाँव में छोड़कर आते थे। शहर की ज़िंदगी एक संघर्ष थी : नौकरी पक्की नहीं थी, खाना मँहगा था, रिहाइश का ख़र्चा उठाना मुश्किल था। फिर भी ग़रीबों ने वहाँ प्रायः अपनी एक अलग जीवंत शहरी संस्कृति रच ली थी। वे धार्मिक त्योहारों, तमाशों (लोक रंगमंच) और स्वांग आदि में उत्साहपूर्वक हिस्सा लेते थे जिनमें ज़्यादातर उनके भारतीय और यूरोपीय स्वामियों का मज़ाक उड़ाया जाता था।

➲ चर्चा कीजिए...

आपके निवास स्थान से सबसे नज़दीक पड़ने वाला रेलवे स्टेशन कौन सा है? पता लगाइए कि उसका निर्माण कब कराया गया और उसे माल ढुलाई के लिए बनाया गया था या सवारी यातायात के लिए? अन्य लोगों से पूछिए कि वे उस स्टेशन के बारे में क्या जानते हैं? आप स्टेशन पर कितनी बार जाते हैं और क्यों?

स्रोत 2

मछुआरों की नज़र से

यह बीसवीं सदी की शुरुआत में जेलेपाड़ा (मछुआरों के क्वार्टर), कलकत्ता के लोगों में प्रचलित एक स्वांग का हिस्सा है :

दिल-मे एक भावना से कलकत्ता-मे आया
कैसन कैसन मजा हम हिया देखने पाया
अरि-समाज, ब्रह्म-समाज, गिरजा, महजिद
एक लोटा-मे मिलता दूध, पानी, सब चीज
छोटा, बड़ा आदमी सब बाहर करके दात
झापड़ मार के बोलता है अंग्रेज़ी-मे बात।

4. पृथक्करण, नगर नियोजन और भवन निर्माण

यद्यपि मद्रास, कलकत्ता और बम्बई, तीनों औपनिवेशिक शहर पहले के भारतीय क़स्बों और शहरों से अलग थे लेकिन उनमें कुछ साझे तत्त्व थे और उनके भीतर कुछ अनूठी बातें पैदा हो चुकी थीं। इनकी जाँच करने पर औपनिवेशिक शहरों के बारे में हमारी समझ में निश्चय ही इज़ाफ़ा होगा।

4.1 मद्रास में बसावट और पृथक्करण

कंपनी ने अपनी व्यापारिक गतिविधियों का केंद्र सबसे पहले पश्चिमी तट पर सूरत के सुस्थापित बंदरगाह को बनाया था। बाद में वस्त्र उत्पादों की खोज में अंग्रेज़ व्यापारी पूर्वी तट पर जा पहुँचे। 1639 में उन्होंने मद्रासपटम में एक व्यापारिक चौकी बनाई। इस बस्ती को स्थानीय लोग चेनापट्टनम कहते थे। कंपनी ने वहाँ बसने का अधिकार स्थानीय तेलुगू सामंतों, कालाहस्ती के नायकों से ख़रीदा था जो अपने इलाक़े में व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ाना चाहते थे। फ़्रेंच ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ प्रतिद्वंद्विता (1746-63) के कारण अंग्रेज़ों को मद्रास की किलेबंदी करनी पड़ी और अपने प्रतिनिधियों को ज़्यादा राजनीतिक व प्रशासकीय ज़िम्मेदारियाँ सौंप दीं। 1761 में फ़्रांसीसियों की हार के बाद मद्रास और सुरक्षित हो गया। वह एक महत्वपूर्ण व्यावसायिक शहर के रूप में विकसित होने लगा। यहाँ अंग्रेज़ों का वर्चस्व और भारतीय व्यापारियों की कमतर हैसियत साफ़ दिखाई देती थी।

फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज (सेंट जॉर्ज किला) व्हाइट टाउन का केंद्रक बन गया जहाँ ज़्यादातर यूरोपीय रहते थे। दीवारों और बुर्जों ने इसे एक ख़ास क़िस्म की घेरेबंदी का रूप दे दिया था। किले के भीतर रहने का फ़ैसला रंग और धर्म के आधार पर किया जाता था। कंपनी के लोगों को भारतीयों के साथ विवाह करने की इजाज़त नहीं थी। यूरोपीय ईसाई होने के कारण डच और पुर्तगालियों को वहाँ रहने की छूट थी। प्रशासकीय और न्यायिक व्यवस्था की संरचना भी गोरों के पक्ष में थी। संख्या की दृष्टि से कम होते हुए भी यूरोपीय लोग शासक थे और मद्रास का विकास शहर में रहने वाले मुठ्ठी भर गोरों की ज़रूरतों और सुविधाओं के हिसाब से किया जा रहा था।

ब्लैक टाउन क़िले के बाहर विकसित हुआ। इस आबादी को भी सीधी कतारों में बसाया गया था जोकि औपनिवेशिक शहरों की विशिष्टता थी। लेकिन अठारहवीं सदी के पहले दशक के मध्य में उसे ढहा दिया गया ताकि किले के चारों तरफ़ एक सुरक्षा क्षेत्र बनाया जा सके। इसके बाद उत्तर की दिशा में दूर जाकर एक नया ब्लैक टाउन बसाया गया। इस बस्ती में बुनकरों, कारीगरों, बिचौलियों और दुभाषियों को रखा गया था जो कंपनी के व्यापार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।

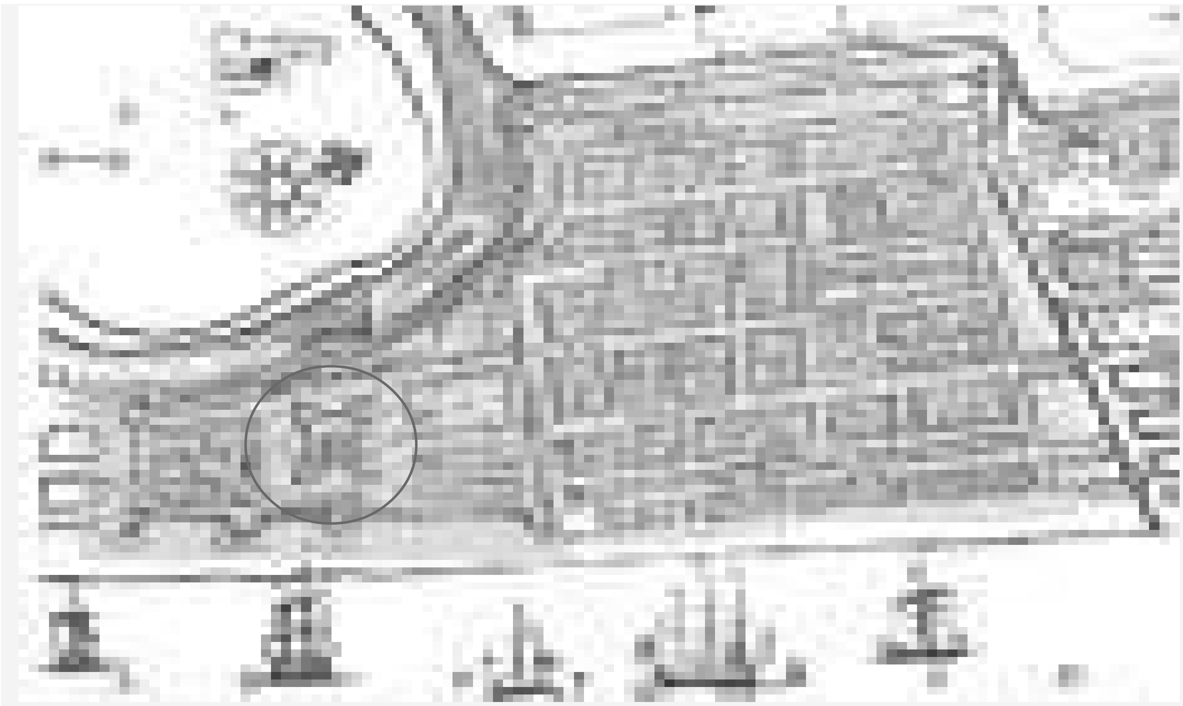

चित्र 12.16
मद्रास का नक़्शा
फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज के इर्द-गिर्द बना व्हाइट टाउन बाएँ सिरे पर तथा पुराना ब्लैक टाउन दाहिने सिरे पर है। फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज घेरे में स्थित है। ध्यान से देखिए कि ब्लैक टाउन को किस तरह बसाया गया था।

चित्र 12.17
ब्लैक टाउन, मद्रास का एक हिस्सा, टॉमस एवं विलियम डेनियल द्वारा चित्रित, ओरिएंटल सीनरी में प्रकाशित डेनियल के एक रेखाचित्र पर आधारित, 1798
पुराने ब्लैक टाउन को ढहाकर यह खुला मैदान तैयार किया गया था। मूल रूप से इसे गोलीबारी में सुविधा के लिए साफ़ किया गया था लेकिन बाद में हरे मैदान के रूप में छोड़ दिया गया। क्षितिज पर आप किले से दूर विकसित हो रहे नए ब्लैक टाउन की झलक देख सकते हैं।

नया ब्लैक टाउन परंपरागत भारतीय शहरों जैसा था। वहाँ मंदिर और बाज़ार के इर्द-गिर्द रिहाइशी मकान बनाए गये थे। शहर के बीच से गुज़रने वाली आड़ी-टेढ़ी संकरी गलियों में अलग-अलग जातियों के मोहल्ले थे। चिन्ताद्रीपेठ इलाक़ा केवल बुनकरों के लिए था। वाशरमेनपेट में रंगसाज़ और धोबी रहते थे। रोयापुरम में ईसाई मल्लाह रहते थे जो कंपनी के लिए काम करते थे।

पेठ एक तमिल शब्द है जिसका मतलब होता है बस्ती, जबकि *पुरम* शब्द गाँव के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

मद्रास को बहुत सारे गाँवों को मिला कर विकसित किया गया था। यहाँ विविध समुदायों के लिए अवसरों और स्थानों का प्रबंध था। नाना प्रकार के आर्थिक कार्य करने वाले कई समुदाय आए और मद्रास में ही बस गए। दु*बाश* ऐसे भारतीय लोग थे जो स्थानीय भाषा और अंग्रेज़ी, दोनों को बोलना जानते थे। वे एजेंट और व्यापारी के रूप में काम करते थे और भारतीय समाज व गोरों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे। वे संपत्ति इकट्ठा करने के लिए सरकार में अपनी पहुँच का इस्तेमाल करते थे। ब्लैक टाउन में परोपकारी कार्यों और मंदिरों को संरक्षण प्रदान करने से समाज में उनकी शक्तिशाली स्थिति स्थापित होती थी।

शुरुआत में कंपनी के तहत नौकरी पाने वालों में लगभग सारे वेल्लालार होते थे। यह एक स्थानीय ग्रामीण जाति थी जिसने ब्रिटिश शासन के कारण मिले नए मौकों का बढ़िया फायदा उठाया। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार से ब्राह्मण भी शासकीय महकमों में इसी तरह के पदों के लिए ज़ोर लगाने लगे। तेलुगू कोमाटी समुदाय एक ताकतवर व्यावसायिक समूह था जिसका शहर के अनाज व्यवसाय पर नियंत्रण था। अठाहरवीं सदी से गुजराती बैंकर भी यहाँ मौजूद थे। पेरियार और वन्नियार गरीब कामगार वर्ग में ज़्यादा थे। आरकोट के नवाब पास ही स्थित ट्रिप्लीकेन में जा बसे थे जो एक अच्छी-ख़ासी मुस्लिम आबादी का केंद्र बन गया। इससे पहले माइलापुर और ट्रिप्लीकेन हिंदू धार्मिक केंद्र थे जहाँ अनेक ब्राह्मणों को भरण-पोषण मिलता था। सान थोम और वहाँ का गिरजा रोमन कैथलिक समुदाय का केंद्र था। ये सभी बस्तियाँ मद्रास शहर का हिस्सा बन गईं। इस प्रकार, बहुत सारे गाँवों को मिला लेने से मद्रास दूर तक फैली अल्प सघन आबादी वाला शहर बन गया। इस बात पर यूरोपीय यात्रियों का भी ध्यान गया और सरकारी अफ़सरों ने भी उस पर टिप्पणी की।

चित्र 12.18
पूनामाली रोड पर बना एक गार्डन हाउस

जैसे-जैसे अंग्रेज़ों की सत्ता मज़बूत होती गई, यूरोपीय निवासी क़िले से बाहर जाने लगे। गार्डन हाउसेज़ (बगीचों वाले मकान) सबसे पहले माउंट रोड और पूनामाली

स्रोत 3

एक देहाती शहर?

मद्रास के बारे में *इम्पीरियल गज़ेटियर, 1908* में छपे इस अंश को पढ़िए :

... बेहतर यूरोपीय आवास परिसरों के बीच बनाए जाते हैं जिससे उनकी छवि लगभग पार्क जैसी बन जाती है : और इनके बीच तकरीबन गाँवों की तर्ज पर चावल के खेत आते-जाते रहते हैं। यहाँ तक कि ब्लैक टाउन और ट्रिप्लीकेन जैसी सबसे घनी आबादी वाली देशी बस्तियों में भी वैसी भीड़-भाड़ नहीं दिखती जैसी बहुत सारी दूसरे शहरों में दिखाई देती है...।

➲ रिपोर्टों में लिखी बातों से अकसर रिपोर्ट लिखने वाले के विचारों का पता चलता है। उपरोक्त वक्तव्य में लिखने वाला व्यक्ति किस तरह के शहरी भूदृश्य को बेहतर मानता है और वह किस तरह की बसावट को हेय दृष्टि से देख रहा है? क्या आप इन विचारों से सहमत हैं?

रोड, इन दो सड़कों पर बनने शुरू हुए। ये क़िले से छावनी तक जाने वाली सड़कें थीं। इस दौरान संपन्न भारतीय भी अंग्रेज़ों की तरह रहने लगे थे। परिणामस्वरूप मद्रास के इर्द-गिर्द स्थित गाँवों की जगह बहुत सारे नए उपशहरी इलाक़ों ने ले ली। यह इसलिए संभव था क्योंकि संपन्न लोग परिवहन सुविधाओं की लागत वहन कर सकते थे। गरीब लोग अपने काम की जगह से नजदीक पड़ने वाले गाँवों में बस गए। मद्रास के बढ़ते शहरीकरण का परिणाम यह था कि इन गाँवों के बीच वाले इलाक़े शहर के भीतर आ गए। इस तरह मद्रास एक अर्धग्रामीण सा शहर दिखने लगा।

4.2 कलकत्ता में नगर नियोजन

आधुनिक नगर नियोजन की शुरुआत औपनिवेशिक शहरों से हुई। इस प्रक्रिया में भूमि उपयोग और भवन निर्माण के नियमन के ज़रिए शहर के स्वरूप को परिभाषित किया गया। इसका एक मतलब यह था कि शहरों में लोगों के जीवन को सरकार ने नियंत्रित करना शुरू कर दिया था। इसके लिए एक योजना तैयार करना और पूरी शहरी परिधि का स्वरूप तैयार करना ज़रूरी था। यह प्रक्रिया अकसर इस सोच से प्रेरित होती थी कि शहर कैसा दिखना चाहिए और उसे कैसे विकसित किया जाएगा। इस बात का भी ध्यान रखा जाता था कि विभिन्न स्थानों को कैसे व्यवस्थित करना चाहिए। इस दृष्टि से "विकास" की सोच और विचारधारा प्रतिबिम्बित होती थी और उसका क्रियान्वयन ज़मीन, उसके बाशिंदों और संसाधनों पर नियंत्रण के ज़रिए किया जाता था।

इसकी कई वजह थीं कि अंग्रेज़ों ने बंगाल में अपने शासन के शुरू से ही नगर नियोजन का कार्यभार अपने हाथों में क्यों ले लिया था। एक फ़ौरी वजह तो रक्षा उद्देश्यों से संबंधित थी। 1756 में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर हमला किया और अंग्रेज़ व्यापारियों द्वारा माल गोदाम के तौर पर बनाए गए छोटे किले पर क़ब्ज़ा कर लिया। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारी नवाब की संप्रभुता पर लगातार सवाल उठा रहे थे। वे न तो कस्टम ड्यूटी चुकाना चाहते थे और न ही नवाब द्वारा तय की गई कारोबार की शर्तों पर काम करना चाहते थे। सिराजुद्दौला अपनी ताकत का लोहा मनवाना चाहता था।

कुछ समय बाद, 1757 में प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला की हार हुई। इसके बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने एक ऐसा नया किला बनाने का फ़ैसला लिया जिस पर आसानी से हमला न किया जा सके। कलकत्ता को सुतानाती, कोलकाता और गोविंदपुर, इन तीन गाँवों को मिला कर बनाया गया था। कंपनी ने इन तीनों में सबसे दक्षिण में पड़ने वाले गोविंदपुर गाँव की ज़मीन को साफ करने के लिए वहाँ के व्यापारियों और बुनकरों को हटने का आदेश जारी कर दिया। नवनिर्मित फ़ोर्ट

विलियम के इर्द–गिर्द एक विशाल जगह खाली छोड़ दी गई जिसे स्थानीय लोग मैदान या *गारेर–मठ* कहने लगे थे। खाली मैदान रखने का मकसद यह था कि अगर दुश्मन की सेना क़िले की तरफ़ बढ़े तो उस पर क़िले से बेरोक–टोक गोलीबारी की जा सके। जब अंग्रेज़ों को कलकत्ता में अपनी उपस्थिति स्थायी दिखाई देने लगी तो वे फ़ोर्ट से बाहर मैदान के किनारे पर भी आवासीय इमारतें बनाने लगे। कलकत्ता में अंग्रेज़ों की बस्तियाँ इसी तरह अस्तित्व में आनी शुरू हुई। फ़ोर्ट के इर्द–गिर्द की विशाल खुली जगह (जो अभी भी मौजूद है) यहाँ की एक पहचान बन गई। यह कलकत्ता में नगर–नियोजन की दृष्टि से पहला उल्लेखनीय काम था।

कलकत्ता में नगर–नियोजन का इतिहास केवल फ़ोर्ट विलियम और मैदान के निर्माण के साथ पूरा होने वाला नहीं था। 1798 में लॉर्ड वेलेज़्ली गवर्नर जनरल बने। उन्होंने कलकत्ता में अपने लिए गवर्नमेंट हाउस के नाम से एक महल बनवाया। यह इमारत अंग्रेज़ों की सत्ता का प्रतीक थी। कलकत्ता में आ जमने के बाद वेलेज़्ली शहर के हिन्दुस्तानी आबादी वाले हिस्से की भीड़–भाड़, ज़रूरत से ज़्यादा हरियाली, गंदे तालाबों, सड़ांध और निकासी की ख़स्ता हालत को देखकर परेशान हो उठा। अंग्रेज़ों को इन चीज़ों से इसलिए परेशानी थी क्योंकि उनका मानना था कि दलदली ज़मीन और ठहरे हुए पानी के तालाबों से ज़हरीली गैसें निकलती हैं जिनसे बीमारियाँ फैलती हैं। उष्णकटिबंधीय जलवायु को वैसे भी स्वास्थ्य के

गोलाबारी के लिए जगह

कलकत्ता के लिए जो पैटर्न तैयार किया गया था उसे बहुत सारे दूसरे शहरों में दोहराया गया। 1857 के विद्रोह के दौरान बहुत सारे शहर विद्रोहियों के गढ़ बन गए थे। विद्रोह के बाद अंग्रेज़ इन स्थानों को अपने लिए सुरक्षित बनाने लगे। उदाहरण के लिए, उन्होंने दिल्ली में लाल क़िले पर कब्ज़ा किया और वहाँ अपनी सैना तैनात कर दी। उन्होंने किले के नज़दीक बनी इमारतों को साफ़ करके भारतीय मोहल्लों और क़िले के बीच काफ़ी फ़ासला बना दिया। इस कारगुज़ारी के पीछे भी दलील वही थी जो 100 साल पहले कलकत्ता में दी गई थी। अगर कभी शहर के लोग दोबारा फ़िरंगी राज के खिलाफ खड़े हो जाएँ तो उन पर गोली चलाने के लिए खुली जगह ज़रूरी थी।

चित्र 12.19
गवर्नमेंट हाउस, कलकत्ता, चार्ल्स डी. ऑइली, 1848
गवर्नर जनरल का निवास गवर्नमेंट हाउस में हुआ करता था जिसे वेलेज़्ली ने ब्रिटिश राज की भव्यता के प्रतीक के रूप में बनवाया था।

चित्र 12.20
कलकत्ता में चितपुर रोड की तरफ़ जाते हुए रास्ते में पड़ने वाला एक बाज़ार
शहर के स्थानीय समुदायों के लिए बाज़ार व्यावसायिक और सामाजिक, दोनों तरह के विनिमय का स्थान था। यूरोप के लोग बाज़ार को देखकर आकर्षित भी होते थे लेकिन उसे भीड़ भरा और गंदा भी मानते थे।

स्रोत 4

"हर तरह की गड़बड़ियों को नियंत्रित करने के लिए"

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में अंग्रेज़ों को यह महसूस होने लगा कि सामाजिक जीवन के सभी आयामों को नियंत्रित करने के लिए स्थायी और सार्वजनिक नियम बनाना जरूरी है। यहाँ तक कि निजी इमारतों और सार्वजनिक सड़कों का निर्माण भी स्पष्ट रूप से संहिताबद्ध मानक नियमों के अनुसार होना आवश्यक था। वेलेज़्ली ने कलकत्ता मिनट्स (1803) में लिखा था :

> यह सरकार की बुनियादी ज़िम्मेदारी है कि वह इस विशाल शहर में सड़कों, नालियों और जलमार्गों में सुधार की एक समग्र व्यवस्था बनाकर तथा मकानों व सार्वजनिक भवनों के निर्माण व प्रसार के बारे में स्थायी नियम बनाकर और हर तरह की गड़बड़ियों को नियंत्रित करने के स्थायी नियम बनाकर यहाँ के निवासियों को स्वास्थ्य, सुरक्षा और सुविधा उपलब्ध कराए।

लिए हानिकारक और शक्ति का क्षय करने वाला माना जाता था। शहर को ज़्यादा स्वास्थ्यपरक बनाने का एक तरीका यह ढूँढ़ा गया कि शहर में खुले स्थान छोड़े जाएँ। वेलेज़्ली ने 1803 में नगर-नियोजन की आवश्यकता पर एक प्रशासकीय आदेश जारी किया और इस विषय में कई कमेटियों का गठन किया। बहुत सारे बाज़ारों, घाटों, कब्रिस्तानों और चर्मशोधन इकाइयों को साफ़ किया गया या हटा दिया गया। इसके बाद "जनस्वास्थ्य" एक ऐसा विचार बन गया जिसकी शहरों की सफ़ाई और नगर-नियोजन परियोजनाओं में बार-बार दुहाई दी जाने लगी।

वेलेज़्ली की विदाई के बाद नगर-नियोजन का काम सरकार की मदद से लॉटरी कमेटी (1817) ने जारी रखा। लॉटरी कमेटी का यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि नगर सुधार के लिए पैसे की व्यवस्था जनता के बीच लॉटरी बेचकर ही की जाती थी। इसका मतलब है कि उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दशकों तक शहर के विकास के लिए पैसे की व्यवस्था करना अभी भी केवल सरकार की नहीं बल्कि संवेदनशील नागरिकों की ज़िम्मेदारी ही माना जाता था। लॉटरी कमेटी ने शहर का एक नया नक़्शा बनवाया जिससे कलकत्ता की एक मुकम्मल तसवीर सामने आ सके। कमेटी की प्रमुख गतिविधियों में शहर के हिंदुस्तानी आबादी वाले हिस्से में सड़क-निर्माण और नदी किनारे से "अवैध क़ब्ज़े" हटाना शामिल था। शहर के भारतीय हिस्से को साफ़-सुथरा बनाने की मुहिम में कमेटी ने बहुत सारी झोंपड़ियों को साफ़ कर दिया और मेहनतकश ग़रीबों को वहाँ से बाहर निकाल दिया। उन्हें कलकत्ता के बाहरी किनारे पर जगह दी गई।

अगले कुछ दशकों में महामारी की आशंका से नगर-नियोजन की अवधारणा को और बल मिला। 1817 में हैजा फैलने लगा और 1896 में प्लेग ने शहर को अपनी चपेट में ले लिया। चिकित्सा विज्ञान अभी इन बीमारियों की वजह स्पष्ट नहीं कर पाया था। सरकार ने उस समय के स्वीकृत

सिद्धांत – जीवन परिस्थितियों और बीमारियों के फैलाव के बीच सीधा संबंध होता है – के अनुसार कार्रवाई की। इस सोच को द्वारकानाथ टैगोर और रूस्तमजी कोवासजी जैसे शहर के जाने-माने हिंदुस्तानियों का समर्थन हासिल था। उन लोगों का मानना था कि कलकत्ता को और ज़्यादा स्वास्थ्यकर बनाना ज़रूरी है। घनी आबादी वाले इलाक़ों को अस्वच्छ माना जाता था क्योंकि वहाँ सूरज की रोशनी सीधे नहीं आ पाती थी और हवा निकासी का इन्तज़ाम नहीं था। इसीलिए कामकाजी लोगों की झोंपड़ियों या "बस्तियों" को निशाना बनाया गया। उन्हें तेज़ी से हटाया जाने लगा। मज़दूर, फेरी वाले, कारीगर और बेरोज़गार, यानी शहर के ग़रीबों को एक बार फिर दूर वाले इलाक़ों में ढकेल दिया गया। बार-बार आग लगने से भी निर्माण नियमन में सख़्ती की ज़रूरत दिखाई दे रही थी। उदाहरण के लिए, 1836 में इसी आशंका के चलते फूँस की झोंपड़ियों को अवैध घोषित कर दिया गया और मकानों में ईंटों की छत को अनिवार्य बना दिया गया।

उन्नीसवीं सदी आते-आते शहर में सरकारी दखलंदाज़ी और ज़्यादा सख़्त हो चुकी थी। वो ज़माना लद चुका था जब नगर-नियोजन को सरकार और निवासियों, दोनों की साझा ज़िम्मेदारी माना जाता था। वित्तपोषण (फंडिग) सहित नगर-नियोजन के सारे आयामों को सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। इस आधार पर और ज़्यादा तेज़ी से झुग्गियों को हटाया जाने लगा और दूसरे इलाक़ों की कीमत पर ब्रिटिश आबादी वाले हिस्सों को तेज़ी से विकसित किया जाने लगा। "स्वाथ्यकर" और "अस्वास्थ्यकर" के नए विभेद के सहारे "व्हाइट" और "ब्लैक" टाउन वाले नस्ली विभाजन को और बल मिला। नगर निगम में मौजूद भारतीय नुमाइंदों ने शहर के यूरोपीय आबादी वाले इलाक़ों के विकास पर ज़रूरत से ज़्यादा ध्यान दिए जाने का विरोध किया। इन सरकारी नीतियों के विरुद्ध जनता के प्रतिरोध ने भारतीयों के भीतर उपनिवेशवाद विरोधी और राष्ट्रवादी भावनाओं को बढ़ावा दिया।

➲ वेलेज़्ली ने सरकार की ज़िम्मेदारी को किस तरह परिभाषित किया है। इस भाग को पढ़िए और चर्चा कीजिए कि इन विचारों को लागू किया जाता तो उनसे शहर में रहने वाले भारतीयों पर क्या असर पड़ता।

बस्ती (बंगला और हिंदी) का मतलब मूल रूप से मोहल्ला या बसावट हुआ करता था। लेकिन अंग्रेज़ों ने इस शब्द का अर्थ संकुचित कर दिया और उसे गरीबों की कच्ची झोंपड़ियों के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा। उन्नीसवीं सदी के आख़िर में ब्रिटिश दस्तावेज़ों में "बस्तियों" को गंदी झोंपड़पट्टियों के रूप में पेश किया जाने लगा।

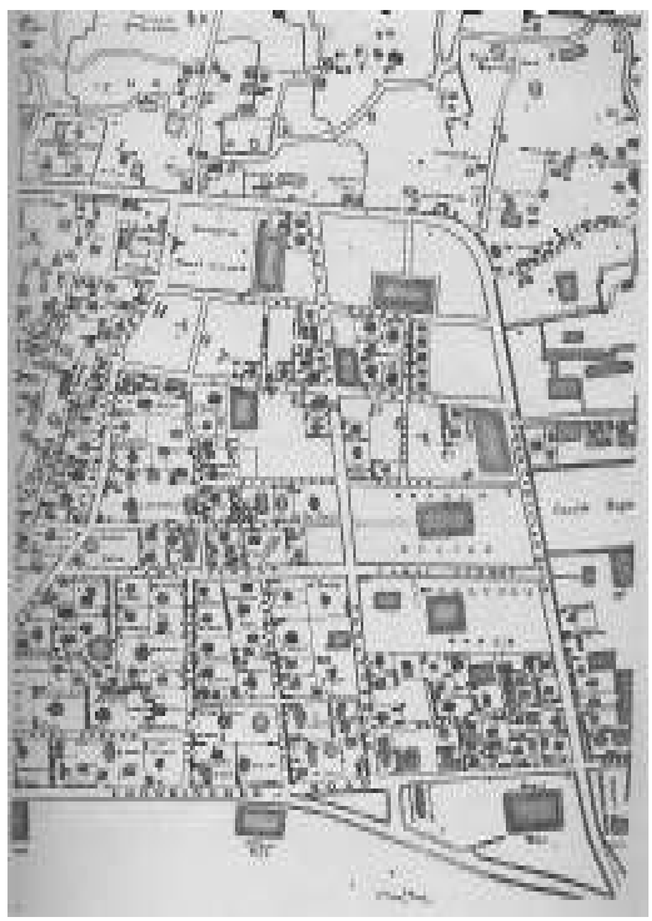

चित्र 12.21
लॉटरी कमेटी सुधारों के बाद कलकत्ता में यूरोपीय टाउन का एक भाग
यहाँ आप विशाल परिसरों में यूरोपीय मकान देख सकते हैं। जे.ए. शाल्च द्वारा बनाई गई योजना से (1825)।

चित्र 12.22
कलकत्ता की एक बस्ती

जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य फैला, अंग्रेज़ कलकत्ता, बम्बई और मद्रास जैसे शहरों को शानदार शाही राजधानियों में तब्दील करने की कोशिश करने लगे। उनकी सोच से ऐसा लगता था मानो शहरों की भव्यता से ही शाही सत्ता की ताकत प्रतिबिंबित होती है। आधुनिक नगर-नियोजन में ऐसी हर चीज़ को शामिल किया गया जिसके प्रति अंग्रेज़ अपनेपन का दावा करते थे : तर्कसंगत क्रम-व्यवस्था, सटीक क्रियान्वयन, पश्चिमी सौंदर्यात्मक आदर्श। शहरों का साफ़ और व्यवस्थित, नियोजित और सुंदर होना ज़रूरी था।

4.3 बम्बई में भवन निर्माण

यदि इस शाही दृष्टि को साकार करने का एक तरीका नगर-नियाजन था तो दूसरा तरीका यह था कि शहरों में भव्य इमारतों के मोती टाँक दिए जाएँ। शहरों में बनने वाली इमारतों में क़िले, सरकारी दफ़्तर, शैक्षणिक संस्थान, धार्मिक इमारतें, स्मारकीय मीनारें, व्यावसायिक डिपो, यहाँ तक कि गोदियाँ और पुल, कुछ भी हो सकता था। बुनियादी तौर पर ये इमारतें रक्षा, प्रशासन और वाणिज्य जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती थीं, लेकिन ये साधारण इमारतें नहीं थीं। अकसर ये इमारतें शाही सत्ता, राष्ट्रवाद और धार्मिक वैभव जैसे विचारों का प्रतिनिधित्व भी करती थीं। आइए देखें कि बम्बई में इस सोच को अमली जामा किस तरह पहनाया गया।

शुरुआत में बम्बई सात टापुओं का इलाका था। जैसे-जैसे आबादी बढ़ी, इन टापुओं को एक-दूसरे से जोड़ दिया गया ताकि ज़्यादा जगह पैदा की जा सके। इस तरह आख़िरकार ये टापू एक-दूसरे से जुड़ गए और एक विशाल शहर अस्तित्व में आया। बम्बई औपनिवेशिक भारत की वाणिज्यिक राजधानी थी। पश्चिमी तट पर एक प्रमुख बंदरगाह होने के नाते यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का केंद्र था। उन्नीसवीं सदी के अंत तक भारत का आधा निर्यात और आयात बम्बई से ही होता था। इस व्यापार की एक महत्त्वपूर्ण वस्तु अफ़ीम थी। ईस्ट इंडिया कंपनी यहाँ से चीन को अफीम का निर्यात करती थी। भारतीय व्यापारी और बिचौलिये इस व्यापार में हिस्सेदार थे और उन्होंने बम्बई की अर्थव्यवस्था को मालवा, राजस्थान और सिंध जैसे अफीम उत्पादक इलाकों से जोड़ने में मदद दी। कंपनी के साथ यह गठजोड़ उनके लिए मुनाफे का सौदा था और इससे भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास हुआ। बम्बई के पूँजीपति वर्ग में पारसी, मारवाड़ी, कोंकणी मुसलमान, गुजराती बनिये, बोहरा, यहूदी और आर्मीनियाई, विभिन्न समुदायों के लोग शामिल थे।

जैसा कि आपने पीछे पढ़ा है (अध्याय 10), जब 1861 में अमेरिकी गृह युद्ध शुरू हुआ तो अमेरिका के दक्षिणी भाग से आने वाली कपास अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में आना बंद हो गई। इससे भारतीय कपास की माँग पैदा

हुई जिसकी खेती मुख्य रूप से दक्कन में की जाती थी। भारतीय व्यापारियों और बिचौलियों के लिए यह बेहिसाब मुनाफ़े का मौका था। 1869 में स्वेज़ नहर को खोला गया जिससे विश्व अर्थव्यवस्था के साथ बम्बई के संबंध और मज़बूत हुए। बम्बई सरकार और भारतीय व्यापारियों ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए बम्बई को *Urbs prima in Indis* यानी *भारत का सरताज शहर* घोषित कर दिया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक बम्बई में भारतीय व्यापारी कॉटन मिल जैसे नए उद्योगों में अपना पैसा लगा रहे थे। निर्माण गतिविधियों में भी उनका काफ़ी दख़ल रहता था।

जैसे-जैसे बम्बई की अर्थव्यवस्था फैली, उन्नीसवीं सदी के मध्य से रेलवे और जहाज़रानी के विस्तार तथा प्रशासकीय संरचना विकसित करने की ज़रूरत भी पैदा होने लगी। उस समय बहुत सारी नयी इमारतें बनाई गईं। इन इमारतों में शासकों की संस्कृति और आत्मविश्वास झलकता था। इनकी स्थापत्य या वास्तु शैली यूरोपीय शैली पर आधारित थी। यूरोपीय शैलियों के इस आयात में शाही दृष्टि कई तरह से दिखाई देती थी। पहली बात, इसमें एक अजनबी देश में जाना-पहचाना सा भूदृश्य रचने की और उपनिवेश में भी घर जैसा महसूस करने की अंग्रेज़ों की चाह प्रतिबिंबित होती है। दूसरा, अंग्रेज़ों को लगता था कि यूरोपीय शैली उनकी श्रेष्ठता, अधिकार और सत्ता का प्रतीक होगी। तीसरा, वे सोचते थे कि यूरोपीय ढंग की दिखने वाली इमारतों से औपनिवेशिक स्वामियों और भारतीय प्रजा के बीच फ़र्क़ और फ़ासला साफ़ दिखने लगेगा।

शुरुआत में ये इमारतें परंपरागत भारतीय इमारतों के मुक़ाबले अजीब सी दिखाई देती थीं। लेकिन धीरे-धीरे भारतीय भी यूरोपीय स्थापत्य शैली के आदि हो गए और उन्होंने इसे अपना लिया। दूसरी तरफ़ अंग्रेज़ों ने अपनी ज़रूरतों के मुताबिक कुछ भारतीय शैलियों को अपना लिया। इसकी एक मिसाल उन बंगलों को माना जा सकता है जिन्हें बम्बई और पूरे देश में सरकारी अफ़सरों के लिए बनाया जाता था। इनके लिए अंग्रेज़ी का Bunglow शब्द बंगाल के 'बंगला' शब्द से निकला है जो एक परंपरागत फूँस की बनी झोंपड़ी होती थी। अंग्रेज़ों ने उसे अपनी ज़रूरतों के हिसाब से बदल लिया था। औपनिवेशिक बंगला एक बड़ी ज़मीन पर बना होता था। उसमें रहने वालों को न केवल प्राइवेसी मिलती थी बल्कि उनके और भारतीय जगत के बीच फ़ासला भी स्पष्ट हो जाता था। परंपरागत ढलवाँ छत और चारों तरफ़ बना बरामदा बंगले को ठंडा रखता था। बंगले के परिसर में घरेलू नौकरों के लिए अलग से क्वार्टर होते थे। सिविल लाइन्स में बने इस तरह के बंगले एक ख़ालिस नस्ली गढ़ बन गए थे जिनमें

चित्र 12.23
बम्बई का एक बंगला, उन्नीसवीं शताब्दी

चित्र 12.24
बम्बई का टाउन हॉल जिसमें अब ऐशियाटिक सोसायटी ऑफ बॉम्बे का दफ़्तर है।

बीसवीं सदी की शुरुआत से ही बंगलों में ढलवाँ छतों (Pitched Roof) का चलन कम होने लगा था हालाँकि मकानों की सामान्य योजना में कोई बदलाव नहीं आया था।

शासक वर्ग भारतीयों के साथ रोज़ाना सामाजिक संबंधों के बिना आत्मनिर्भर जीवन जी सकते थे।

सार्वजनिक भवनों के लिए मौटे तौर पर तीन स्थापत्य शैलियों का प्रयोग किया गया। दो शैलियाँ उस समय इंग्लैंड में प्रचलित चलन से आयातित थीं। इनमें से एक शैली को नवशास्त्रीय या नियोक्लासिकल शैली कहा जाता था। बड़े-बड़े स्तंभों के पीछे रेखागणितीय संरचनाओं का निर्माण इस शैली की विशेषता थी। यह शैली मूल रूप से प्राचीन रोम की भवन निर्माण शैली से निकली थी जिसे यूरोपीय पुनर्जागरण के दौरान पुनर्जीवित, संशोधित और लोकप्रिय किया गया। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के लिए उसे ख़ास तौर से अनुकूल माना जाता था। अंग्रेज़ों को लगता था कि जिस शैली में शाही रोम की भव्यता दिखाई देती थी उसे शाही भारत के वैभव की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है। इस स्थापत्य शैली के भूमध्यसागरीय उद्गम के कारण उसे उष्णकटिबंधीय मौसम के अनुकूल भी माना गया। 1833 में बम्बई का टाउन हॉल (चित्र 12.16) इसी शैली के अनुसार बनाया गया था। 1860 के दशक में सूती कपड़ा उद्योग की तेजी के समय बनाई गयी बहुत सारी व्यावसायिक इमारतों के समूह को एल्फ़िंस्टन सर्कल कहा जाता था। बाद में इसका नाम बदलकर हॉर्निमान सर्कल रख दिया गया था। यह नाम भारतीय राष्ट्रवादियों की हिमायत करने वाले एक अंग्रेज़ संपादक के नाम पर पड़ा था। यह इमारत इटली की इमारतों से प्रेरित थी। इसमें पहली मंज़िल पर ढके हुए तोरणपथ (Arcade) का रचनात्मक ढंग से इस्तेमाल किया गया। दुकानदारों व पैदल चलने वालों को तेज़ धूप और बरसात से बचाने के लिए यह सुध ार काफ़ी उपयोगी था।

चित्र 12.25
ऐल्फिस्टन सर्कल
यहाँ आप ग्रीको-रोमन स्थापत्य शैली से प्रभावित स्तंभों और मेहराबों को देखिए।

एक और शैली जिसका काफ़ी इस्तेमाल किया गया वह नव-गॉथिक शैली थी। ऊँची उठी हुई छतें, नोकदार मेहराबें और बारीक साज-सज्जा इस शैली की खासियत होती है। गॉथिक शैली का जन्म इमारतों, ख़ासतौर से गिरजों से हुआ था जो मध्यकाल में उत्तरी यूरोप में काफ़ी बनाए गए। नव-गॉथिक शैली को इंग्लैंड में उन्नीसवीं सदी के मध्य में दोबारा अपनाया गया। यह वही समय था जब बम्बई में सरकार बुनियादी ढाँचे का निर्माण कर रही थी। उसके लिए यही शैली चुनी गई। सचिवालय, बम्बई विश्वविद्यालय और उच्च न्यायालय जैसी कई शानदार इमारतें समुद्र किनारे इसी शैली में बनाई गईं।

इनमें से कुछ इमारतों के लिए भारतीयों ने पैसा दिया था। यूनिवर्सिटी हॉल के लिए सर कोवासजी जहाँगीर रेडीमनी ने पैसा दिया था जो एक अमीर पारसी व्यापारी थे। यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी के घंटाघर का निर्माण प्रेमचंद रॉयचंद के पैसे से किया गया था और इसका नाम उनकी माँ के नाम पर राजाबाई टावर रखा गया था। भारतीय व्यापारियों को नव-गॉथिक शैली इसलिए रास आती थी क्योंकि उनका मानना था कि अंग्रेज़ों द्वारा लाए गए बहुत सारे विचारों की तरह उनकी भवन निर्माण शैलियाँ भी प्रगतिशील थीं और उनके कारण बम्बई को एक आधुनिक शहर बनाने में मदद मिलेगी।

लेकिन नव-गॉथिक शैली का सबसे बेहतरीन उदाहरण विक्टोरिया टर्मिनस है जो ग्रेट इंडियन पेनिन्स्युलर रेलवे कंपनी का स्टेशन और मुख्यालय हुआ करता था। अंग्रेज़ों ने शहरों में रेलवे स्टेशनों के डिज़ाइन और निर्माण में काफ़ी निवेश किया

चित्र 12.26
बम्बई सचिवालय (सेक्रेटेरिएट)
एच. एसटी क्लेयर विलकिन्स द्वारा बनाया गया डिज़ाइन
द *बिल्डर*, 20 नवंबर 1875 से लिया गया रेखाचित्र।

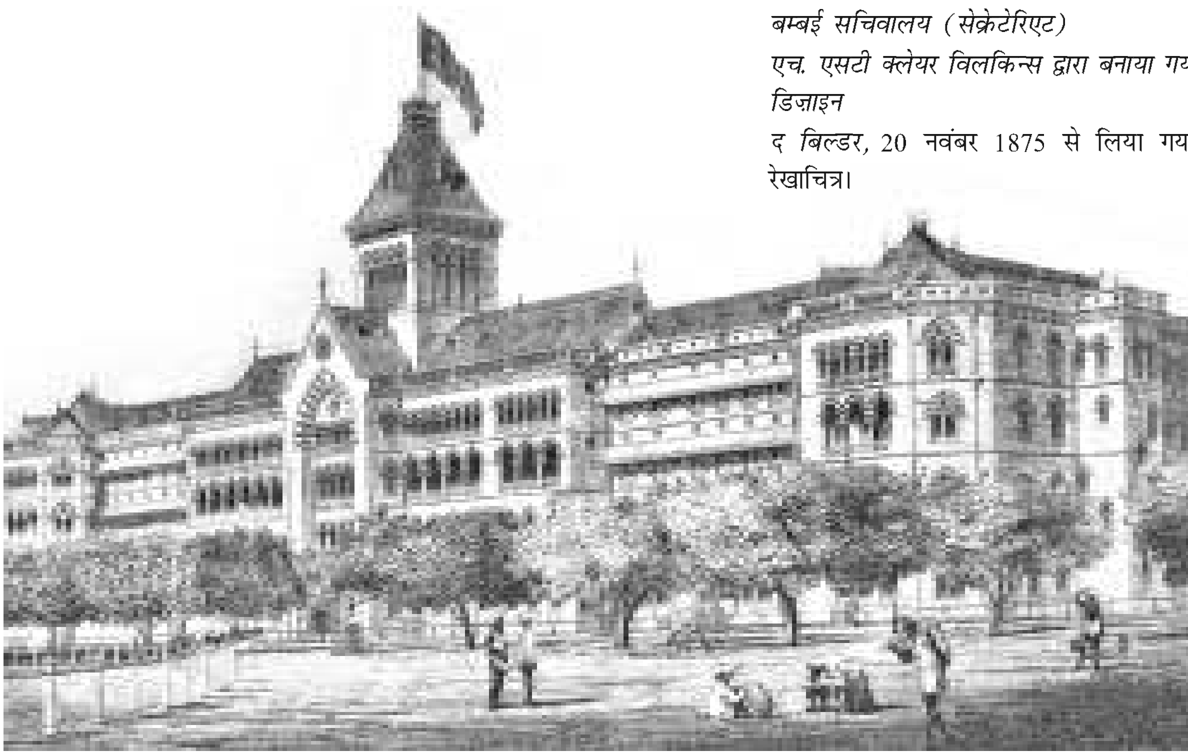

चित्र 12.27
विक्टोरिया टर्मिनस रेलवे स्टेशन, एफ़. डब्ल्यू. स्टीवन्स द्वारा बनाया गया डिज़ाइन

था क्योंकि वे एक अखिल भारतीय रेलवे नेटवर्क के सफल निर्माण को अपनी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानते थे। मध्य बम्बई के आसमान पर इन्हीं इमारतों का दबदबा था और उनकी नव-गॉथिक शैली शहर को एक विशिष्ट चरित्र प्रदान करती थी।

बीसवीं सदी की शुरुआत में एक नयी मिश्रित स्थापत्य शैली विकसित हुई जिसमें भारतीय और यूरोपीय, दोनों तरह की शैलियों के तत्व थे। इस शैली को इंडो-सारासेनिक शैली का नाम दिया गया था। "इंडो" शब्द "हिन्दू" का संक्षिप्त रूप था जबकि "सारासेन" शब्द का यूरोप के लोग मुसलमानों को संबोधित करने के लिए इस्तेमाल करते थे। यहाँ की मध्यकालीन इमारतों - गुम्बदों, छतरियों, जालियों, मेहराबों - से यह शैली काफ़ी प्रभावित थी। सार्वजनिक वास्तु शिल्प में भारतीय शैलियों का समावेश करके अंग्रेज़ यह साबित करना चाहते थे कि वे यहाँ के वैध और स्वाभाविक शासक हैं। राजा जॉर्ज पंचम और उनकी पत्नी मेरी के स्वागत के लिए 1911 में गेटवे ऑफ़ इंडिया बनाया गया। यह परंपरागत गुजराती शैली का प्रसिद्ध उदाहरण है। उद्योगपति जमशेदजी टाटा ने इसी शैली में ताजमहल होटल बनवाया था। यह इमारत न केवल भारतीय उद्यमशीलता का प्रतीक थी बल्कि अंग्रेज़ों के स्वामित्व और नियंत्रण वाले नस्ली क्लबों और होटलों के लिए एक चुनौती भी थी।

चित्र 12.28
मद्रास लॉ कोर्ट्स (1889-1892)
बम्बई में गॉथिक शैली का चलन बढ़ता जा रहा था लेकिन मद्रास में इंडो-सारसेनिक शैली ही ज़्यादा फली-फूली। अदालत की इस इमारत के डिज़ाइन में पठान और गॉथिक, दोनों शैलियों के तत्व दिखाई देते हैं।

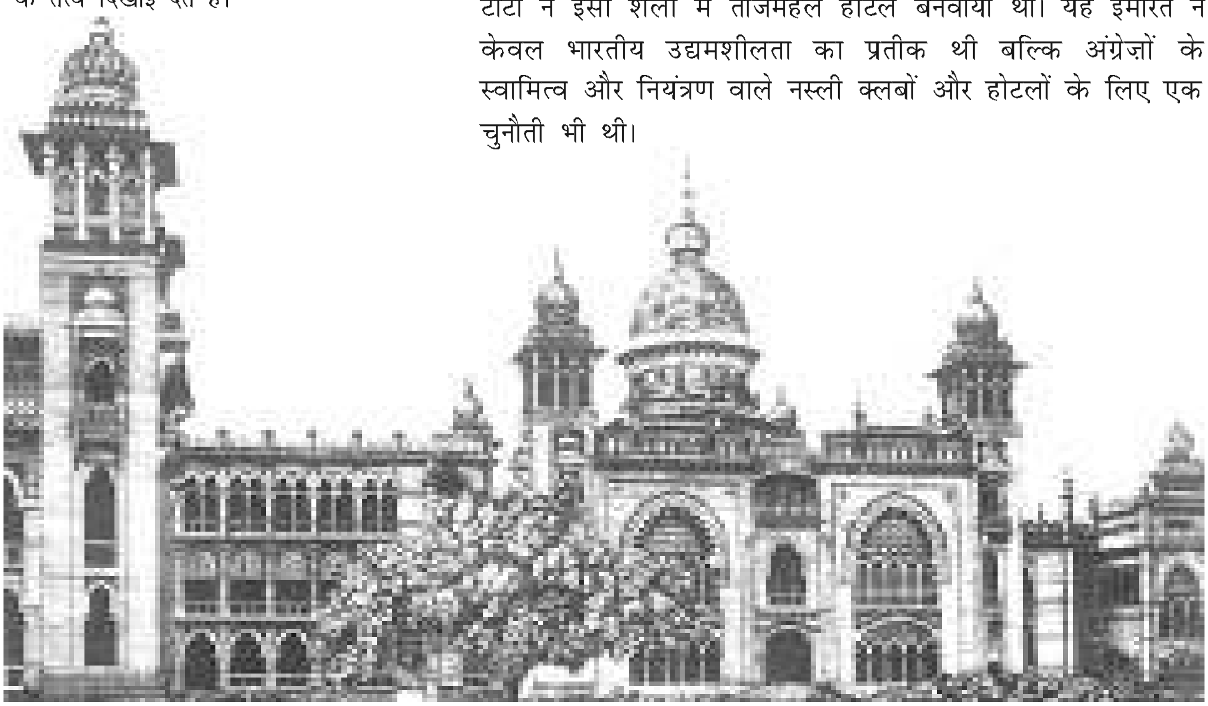

बम्बई के ज़्यादा "भारतीय" इलाकों में सजावट एवं भवन-निर्माण और साज-सज्जा में परंपरागत शैलियों का ही बोलबाला था। शहर में जगह की कमी और भीड़-भाड़ की वजह से बम्बई में ख़ास तरह की इमारतें भी सामने आईं जिन्हें *चॉल* का नाम दिया गया। ये बहुमंज़िला इमारतें होती थीं जिनमें एक-एक कमरे वाली आवासीय इकाइयाँ बनाई जाती थीं। इमारत के सारे कमरों के सामने एक खुला बरामदा या गलियारा होता था और बीच में दालान होता था। इस तरह की इमारतों में बहुत थोड़ी जगह में बहुत सारे परिवार रहते थे जिससे उनमें रहने वालों के बीच मोहल्ले की पहचान और एकजुटता का भाव पैदा हुआ।

चित्र 12.29
ताजमहल होटल

5. इमारतें और स्थापत्य शैलियाँ क्या बताती हैं?

स्थापत्य शैलियों से अपने समय के सौंदर्यात्मक आदर्शों और उनमें निहित विविधताओं का पता चलता है। लेकिन, जैसा कि हमने देखा, इमारतें उन लोगों की सोच और नज़र के बारे में भी बताती हैं जो उन्हें बना रहे थे। इमारतों के ज़रिए सभी शासक अपनी ताकत का इज़हार करना चाहते हैं। इस प्रकार एक ख़ास वक़्त की स्थापत्य शैली को देखकर हम यह समझ सकते हैं कि उस समय सत्ता को किस तरह देखा जा रहा था और वह इमारतों और उनकी विशिष्टताओं - ईंट-पत्थर, खम्भे और मेहराब, आसमान छूते गुम्बद या उभरी हुई छतें - के ज़रिए किस प्रकार अभिव्यक्त होती थी।

चित्र 12.30
बम्बई की एक चॉल

स्थापत्य शैलियों से केवल प्रचलित रुचियों का ही पता नहीं चलता। वे उनको बदलती भी हैं। वे नयी शैलियों को लोकप्रियता प्रदान करती हैं और संस्कृति की रूपरेखा तय करती हैं। जैसा कि हमने देखा, बहुत सारे भारतीय भी यूरोपीय स्थापत्य शैलियों को आधुनिकता व सभ्यता का प्रतीक मानते हुए उन्हें अपनाने लगे थे। लेकिन इस बारे में सबकी राय एक जैसी नहीं थी। बहुत सारे भारतीयों को यूरोपीय आदर्शों से आपत्ति थी और उन्होंने देशी शैलियों को बचाए रखने का प्रयास किया। बहुतों ने पश्चिम के कुछ ऐसे ख़ास तत्वों को अपना लिया जो उन्हें आधुनिक दिखाई देते थे और उन्हें स्थानीय परंपराओं के तत्वों में समाहित कर दिया। उन्नीसवीं सदी के आख़िर से हमें औपनिवेशिक आदर्शों से भिन्न क्षेत्रीय और राष्ट्रीय अभिरुचियों को परिभाषित करने के प्रयास दिखाई देते हैं। इस तरह सांस्कृतिक टकराव की वृहत्तर प्रक्रियाओं के ज़रिए विभिन्न शैलियाँ बदलती और विकसित होती गईं। इसलिए स्थापत्य शैलियों को देखकर हम इस बात को भी समझ सकते हैं कि शाही और राष्ट्रीय, तथा राष्ट्रीय और क्षेत्रीय/स्थानीय के बीच सांस्कृतिक टकराव और राजनीतिक खींचतान किस तरह शक्ल ले रही थी।

➲ चर्चा कीजिए...

किसी ऐसी ऐतिहासिक इमारत को चुनिए जो आपको बहुत पसंद है। उसकी वास्तुशिल्पीय विशेषताओं की सूची बनाइए और उसकी शैली के बारे में पता कीजिए। विचार कीजिए कि उसके लिए वही ख़ास शैली क्यों चुनी गई।

काल-रेखा

1500-1700	यूरोपीय व्यापारिक कंपनियाँ भारत में अपने ठिकाने स्थापित करती हैं। पणजी में पुर्तगाली (1510); मछलीपटनम में डच (1605); मद्रास (1639), बम्बई (1661) और कलकत्ता (1690) में अंग्रेज़ तथा पांडिचेरी (1673) में फ्रांसीसी अपने ठिकाने बनाते हैं।
1757	प्लासी के युद्ध में अंग्रेज़ों की निर्णायक जीत होती है। वे बंगाल के शासक हो जाते हैं।
1773	ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायलय की स्थापना
1803	कलकत्ता नगर सुधार पर लॉर्ड वेलेज़्ली द्वारा लिखित मिनट्स
1818	दक्कन पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा, बम्बई को नए प्रांत की राजधानी बनाया जाता है
1853	बम्बई से ठाणे तक रेल लाइन बिछाई जाती है
1857	बम्बई में पहली स्पिनिंग और वीविंग मिल की स्थापना
1857	बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में विश्वविद्यालयों की स्थापना
1870 का दशक	नगर पालिकाओं में निर्वाचित प्रतिनिधियों को शामिल किया जाने लगा
1881	मद्रास हार्बर का निर्माण पूरा हुआ
1896	बम्बई के वाटसन्स होटल में पहली बार फ़िल्म दिखाई गई
1896	बड़े शहरों में प्लेग फैलने लगता है
1911	कलकत्ता की जगह दिल्ली को राजधानी बनाया जाता है

उत्तर दीजिए (लगभग 100 से 150 शब्दों में)

1. औपनिवेशिक शहरों में रिकॉर्ड्स सँभाल कर क्यों रखे जाते थे?
2. औपनिवेशिक संदर्भ में शहरीकरण के रुझानों को समझने के लिए जनगणना संबंधी आंकड़े किस हद तक उपयोगी होते हैं।
3. "व्हाइट" और "ब्लैक" टाउन शब्दों का क्या महत्व था?
4. प्रमुख भारतीय व्यापारियों ने औपनिवेशिक शहरों में ख़ुद को किस तरह स्थापित किया?
5. औपनिवेशिक मद्रास में शहरी और ग्रामीण तत्व किस हद तक घुल-मिल गए थे?

निम्नलिखित पर एक लघु निबंध लिखिए (लगभग 250 से 300 शब्दों में)

6. अठारहवीं सदी में शहरी केंद्रों का रूपांतरण किस तरह हुआ?
7. औपनिवेशिक शहर में सामने आने वाले नए तरह के सार्वजनिक स्थान कौन से थे? उनके क्या उद्देश्य थे?
8. उन्नीसवीं सदी में नगर-नियोजन को प्रभावित करने वाली चिंताएँ कौन सी थीं?
9. नए शहरों में सामाजिक संबंध किस हद तक बदल गए?

मानचित्र कार्य

10. भारत के नक़्शे पर मुख्य नदियों और पर्वत शृंखलाओं को पारदर्शी काग़ज लगा कर रेखांकित करें। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास सहित इस अध्याय में उल्लिखित दस शहरों को चिह्नित कीजिए और उनमें से किन्हीं दो शहरों के बारे में संक्षेप में लिखिए कि उन्नीसवीं सदी के दौरान उनका महत्त्व किस तरह बदल गया (इनमें से एक औपनिवेशिक शहर तथा दूसरा उससे पहले का शहर होना चाहिए)।

परियोजना कार्य (कोई एक)

11. पता लगाइए कि आपके कस्बे या गाँव में स्थानीय प्रशासन कौन सी सेवाएँ प्रदान करता है। क्या जलापूर्ति, आवास, यातायात और स्वास्थ्य एवं स्वच्छता आदि सेवाएँ भी उनके हिस्से में आती हैं? इन सेवाओं के लिए संसाधनों की व्यवस्था कैसे की जाती है? नीतियाँ कैसे बनाई जाती हैं? क्या शहरी मज़दूरों या ग्रामीण इलाक़ों के खेतिहर मज़दूरों के पास नीति-निर्धारण में हस्तक्षेप का अधिकार होता है? क्या उनसे राय ली जाती है? अपने निष्कर्षों के आधार पर एक रिपोर्ट तैयार कीजिए।
12. अपने शहर या गाँव में पाँच तरह की इमारतों को चुनिए। प्रत्येक के बारे में पता लगाइए कि उन्हें कब बनाया गया, उनको बनाने का फैसला क्यों लिया गया, उनके लिए संसाधनों की व्यवस्था कैसे की गई, उनके निर्माण का ज़िम्मा किसने उठाया और उनके निर्माण में कितना समय लगा। उन इमारतों के स्थापत्य या वास्तु शैली संबंधी आयामों का वर्णन करिए और औपनिवेशिक स्थापत्य से उनकी समानताओं या भिन्नताओं को चिह्नित कीजिए।

यदि आप और जानकारी चाहते हैं तो इन्हें पढ़िए :

सब्यसाची भट्टाचार्य, 1990
आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

नॉर्मा इवेंसन, 1989
दि इंडियन मेट्रोपोलिस : ए व्यू टुवर्ड्स द वेस्ट, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली

नारायणी गुप्ता, 1981
डेल्ही बिटवीन टू एम्पायर्स 1803-1931, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली

तपन रॉयचौधरी एवं इरफ़ान हबीब द्वारा संपादित द *कैंब्रिज इकॉनमिक हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया* (खंड-1), 1984 में गेविन हेम्बली एवं बर्टन स्टीन द्वारा लिखित अध्याय "*टाउन्स ऐण्ड सिटीज़*", ऑरिएंट लॉंगमेन एवं कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

एंथनी किंग, 1976
कॉलोनियल अर्बन डिवेलपमेंट : कल्चर, सोशल पावर एंड एनवारनमेंट, रटलेज एंड किगेन पॉल, लंदन

टॉमस आर. मेटकाफ़, 1989
एन इम्पीरियल विजन : इंडियन आर्किटेक्चर एंड ब्रिटेन्स राज, फ़ेबर एंड फ़ेबर, लंदन

लुईस मम्फ़ोर्ड, 1961
द सिटी इन हिस्ट्री : इट्स ओरिजिन्स, इट्स ट्रांसफॉर्मेशन्स एंड इट्स प्रोस्पैक्ट्स, सेकर एंड वारबुर्ग, लंदन

अध्याय
तेरह

महात्मा गाँधी और राष्ट्रीय आंदोलन
सविनय अवज्ञा और उससे आगे

राष्ट्रवाद के इतिहास में प्राय: एक अकेले व्यक्ति को राष्ट्र-निर्माण के साथ जोड़कर देखा जाता है। उदाहरण के लिए, हम इटली के निर्माण के साथ गैरीबाल्डी को, अमेरिकी स्वतंत्रता युद्ध के साथ जॉर्ज वाशिंगटन को और वियतनाम को औपनिवेशिक शासन से मुक्त कराने के संघर्ष से हो ची मिन्ह को जोड़कर देखते हैं। इसी तरह महात्मा गाँधी को भारतीय राष्ट्र का 'पिता' माना गया है।

चूँकि गाँधी जी स्वतंत्रता संघर्ष में भाग लेने वाले सभी नेताओं में सर्वाधिक प्रभावशाली और सम्मानित हैं अत: उन्हें दिया गया उपर्युक्त विशेषण गलत नहीं है। हालाँकि, वाशिंगटन अथवा हो ची मिन्ह की तरह महात्मा गाँधी का राजनीतिक जीवन-वृत्त उस समाज ने ही सँवारा और नियंत्रित किया, जिस समाज में वे रहते थे। कोई व्यक्ति चाहे कितना ही महान क्यों न हो वह न केवल इतिहास बनाता है बल्कि स्वयं भी इतिहास द्वारा बनाया जाता है।

इस अध्याय में 1915-1948 के महत्त्वपूर्ण काल के दौरान भारत में गाँधी जी की गतिविधियों का विश्लेषण किया गया है। यह भारतीय समाज के विभिन्न हिस्सों के साथ उनके संपर्कों और उनके द्वारा प्रेरित तथा नेतृत्व किए गए लोकप्रिय संघर्षों की छान-बीन करता है। यह अध्याय विद्यार्थी के समक्ष उन अलग-अलग प्रकार के स्रोतों को भी रखता है जिनका इस्तेमाल, इतिहासकार एक नेता के जीवन-वृत्त तथा वह जिन सामाजिक आंदोलनों से जुड़ा रहा है, के पुनर्निर्माण में करते हैं।

चित्र 13.1
मार्च 1930 में नमक यात्रा शुरू करने से पूर्व साबरमती नदी के किनारे अपने आश्रम के निकट समर्थकों से बात करते महात्मा गाँधी।

1. स्वयं की उद्घोषणा करता एक नेता

मोहनदास करमचंद गाँधी विदेश में दो दशक रहने के बाद जनवरी 1915 में अपनी गृहभूमि वापस आए। इन वर्षों का अधिकांश हिस्सा उन्होंने दक्षिण अफ़्रीका में बिताया। यहाँ वे एक वकील के रूप में गए थे और बाद में वे इस क्षेत्र के भारतीय समुदाय के नेता बन गए। जैसाकि इतिहासकार चंद्रन देवनेसन ने टिप्पणी की है कि दक्षिण अफ़्रीका ने ही गाँधी जी को 'महात्मा' बनाया। दक्षिण अफ़्रीका में ही महात्मा गाँधी ने पहली बार सत्याग्रह के रूप में जानी गई अहिंसात्मक विरोध की अपनी विशिष्ट तकनीक का इस्तेमाल किया, विभिन्न धर्मों के बीच सौहार्द बढ़ाने का प्रयास किया तथा उच्च जातीय भारतीयों को निम्न जातियों और महिलाओं के प्रति भेदभाव वाले व्यवहार के लिए चेतावनी दी।

1915 में जब महात्मा गाँधी भारत आए तो उस समय का भारत 1893 में जब वे यहाँ से गए थे तब के समय से अपेक्षाकृत भिन्न था। यद्यपि यह अभी भी एक ब्रिटिश उपनिवेश था लेकिन अब यह राजनीतिक दृष्टि से कहीं अधिक सक्रिय हो गया था। अधिकांश प्रमुख शहरों और कस्बों में अब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की शाखाएँ थीं। 1905-07 के स्वदेशी आंदोलन के माध्यम से इसने व्यापक रूप से मध्य वर्गों के बीच अपनी अपील का विस्तार कर लिया था। इस आंदोलन ने कुछ प्रमुख नेताओं को जन्म दिया, जिनमें महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक, बंगाल के विपिन चंद्र पाल और पंजाब के लाला लाजपत राय हैं। ये तीनों 'लाल, बाल और पाल' के रूप में जाने जाते थे। इन तीनों का यह जोड़ उनके संघर्ष के अखिल भारतीय चरित्र की सूचना देता था क्योंकि तीनों के मूल निवास क्षेत्र एक दूसरे से बहुत दूर थे। इन नेताओं ने जहाँ औपनिवेशिक शासन के प्रति लड़ाकू विरोध का समर्थन किया वहीं 'उदारवादियों' का एक समूह था जो एक क्रमिक व लगातार प्रयास करते रहने के विचार का हिमायती था। इन उदारवादियों में गाँधी जी के मान्य राजनीतिक परामर्शदाता गोपाल कृष्ण गोखले के साथ ही मोहम्मद अली जिन्ना थे, जो गाँधी जी की ही तरह गुजराती मूल के लंदन में प्रशिक्षित वकील थे।

गोखले ने गाँधी जी को एक वर्ष तक ब्रिटिश भारत की यात्रा करने की सलाह दी जिससे कि वे इस भूमि और इसके लोगों को जान सकें। उनकी

चित्र 13.2
दक्षिण अफ़्रीका के जोहेन्सबर्ग में महात्मा गाँधी, फरवरी 1908

पहली महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक उपस्थिति फरवरी 1916 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में हुई। इस समारोह में आमंत्रित व्यक्तियों में वे राजा और मानवप्रेमी थे जिनके द्वारा दिए गए दान ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना में योगदान दिया। समारोह में एनी बेसेंट जैसे कांग्रेस के कुछ महत्त्वपूर्ण नेता भी उपस्थित थे। इन प्रतिष्ठित व्यक्तियों की तुलना में गाँधी जी अपेक्षाकृत अज्ञात थे। उन्हें यहाँ भारत के अंदर उनकी प्रतिष्ठा के कारण नहीं बल्कि दक्षिण अफ्रीका में उनके द्वारा किए गए कार्य के आधार पर आमंत्रित किया गया था।

जब गाँधी जी की बोलने की बारी आई तो उन्होंने मज़दूर गरीबों की ओर ध्यान न देने के कारण भारतीय विशिष्ट वर्ग को आड़े हाथों लिया। उन्होंने कहा कि बनारस हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना 'निश्चय ही अत्यंत शानदार' है किंतु उन्होंने वहाँ धनी व सजे-सँवरे भद्रजनों की उपस्थिति और 'लाखों गरीब' भारतीयों की अनुपस्थिति के बीच की विषमता पर अपनी चिंता प्रकट की। गाँधी जी ने विशेष सुविधा प्राप्त आमंत्रितों से कहा कि 'भारत के लिए मुक्ति तब तक संभव नहीं है जब तक कि आप अपने को इन अलंकरणों से मुक्त न कर लें और इन्हें भारत के अपने हमवतनों की भलाई में न लगा दें'। वे कहते गए कि, 'हमारे लिए स्वशासन का तब तक कोई अभिप्राय नहीं है जब तक हम किसानों से उनके श्रम का लगभग सम्पूर्ण लाभ स्वयं अथवा अन्य लोगों को ले लेने की अनुमति देते रहेंगे। हमारी मुक्ति केवल किसानों के माध्यम से ही हो सकती है। न तो वकील, न डॉक्टर, न ही ज़मींदार इसे सुरक्षित रख सकते हैं।' बनारस हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना एक उत्सव का अवसर था क्योंकि यह भारतीय धन और भारतीय प्रयासों से संभव एक राष्ट्रवादी विश्वविद्यालय की स्थापना का द्योतक था। लेकिन गाँधी जी ने स्वयं को बधाई देने के सुर में सुर मिलाने की अपेक्षा लोगों को उन किसानों और कामगारों की याद दिलाना चुना जो भारतीय जनसंख्या के अधिसंख्य हिस्से का निर्माण करने के बावजूद वहाँ श्रोताओं में अनुपस्थित थे।

चित्र 13.3
करांची में महात्मा गाँधी, मार्च 1916

एक दृष्टि से फरवरी 1916 में बनारस में गाँधी जी का भाषण मात्र वास्तविक तथ्य का ही उद्घाटन था

अर्थात भारतीय राष्ट्रवाद वकीलों, डॉक्टरों और ज़मींदारों जैसे विशिष्ट वर्गों द्वारा निर्मित था। लेकिन दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो यह वक्तव्य उनकी मंशा भी जाहिर करता था। यह भारतीय राष्ट्रवाद को सम्पूर्ण भारतीय लोगों का और अधिक अच्छे ढंग से प्रतिनिधित्व करने में सक्षम बनाने की गाँधी जी की स्वयं की इच्छा की प्रथम सार्वजनिक उद्घोषणा थी।

उसी वर्ष के अंतिम माह में गाँधी जी को अपने नियमों को व्यवहार में लाने का अवसर मिला। दिसम्बर 1916 में लखनऊ में हुई वार्षिक कांग्रेस में बिहार में चंपारन से आए एक किसान ने उन्हें वहाँ अंग्रेज़ नील उत्पादकों द्वारा किसानों के प्रति किए जाने वाले कठोर व्यवहार के बारे में बताया।

➲ **चर्चा कीजिए...**

1915 से पूर्व भारत में हुए राष्ट्रीय आंदोलनों के बारे में और जानकारी इकट्ठा कीजिए व पता लगाइए कि क्या महात्मा गाँधी की टिप्पणियाँ न्यायसंगत हैं।

2. असहयोग की शुरुआत और अंत

1917 का अधिकांश समय महात्मा गाँधी को किसानों के लिए काश्तकारी की सुरक्षा के साथ-साथ अपनी पसंद की फ़सल उपजाने की आज़ादी दिलाने में बीता। अगले वर्ष यानी 1918 में गाँधी जी गुजरात के अपने गृह राज्य में दो अभियानों में संलग्न रहे। सबसे पहले उन्होंने अहमदाबाद के एक श्रम विवाद में हस्तक्षेप कर कपड़े की मिलों में काम करने वालों के लिए काम करने की बेहतर स्थितियों की माँग की। इसके बाद उन्होंने खेड़ा में फ़सल चौपट होने पर राज्य से किसानों का लगान माफ़ करने की माँग की।

चंपारन, अहमदाबाद और खेड़ा में की गई पहल से गाँधी जी एक ऐसे राष्ट्रवादी के रूप में उभरे जिनमें गरीबों के लिए गहरी सहानुभूति थी। इसी तरह ये सभी स्थानिक संघर्ष थे। इसके बाद 1919 में औपनिवेशिक शासकों ने गाँधी जी की झोली में एक ऐसा मुद्दा डाल दिया जिससे वे कहीं अधिक विस्तृत आंदोलन खड़ा कर सकते थे। 1914-18 के महान युद्ध के दौरान अंग्रेज़ों ने प्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया था और बिना जाँच के कारावास की अनुमति दे दी थी। अब सर सिडनी रॉलेट की अध्यक्षता वाली एक समिति की संस्तुतियों के आधार पर इन कठोर उपायों को जारी रखा गया। इसके जवाब में गाँधी जी ने देशभर में 'रॉलेट एक्ट' के खिलाफ एक अभियान चलाया। उत्तरी और पश्चिमी भारत के कस्बों में चारों तरफ बंद के समर्थन में दुकानों और स्कूलों के बंद होने के कारण जीवन लगभग ठहर सा गया था। पंजाब में, विशेष रूप से कड़ा विरोध हुआ, जहाँ के बहुत से लोगों ने युद्ध में अंग्रेज़ों के पक्ष में सेवा की थी और अब अपनी सेवा के बदले वे ईनाम की अपेक्षा कर रहे थे। लेकिन इसकी जगह उन्हें रॉलेट एक्ट दिया गया। पंजाब जाते समय गाँधी जी को क़ैद कर लिया गया। स्थानीय कांग्रेसजनों को गिरफ़्तार कर लिया गया था। प्रांत की यह स्थिति धीरे-धीरे और

तनावपूर्ण हो गई तथा अप्रैल 1919 में अमृतसर में यह खूनखराबे के चरमोत्कर्ष पर ही पहुँच गई। जब एक अंग्रेज़ ब्रिगेडियर ने एक राष्ट्रवादी सभा पर गोली चलाने का हुक्म दिया तब जलियाँवाला बाग हत्याकांड के नाम से जाने गए इस हत्याकांड में चार सौ से अधिक लोग मारे गए।

रॉलेट सत्याग्रह से ही गाँधी जी एक सच्चे राष्ट्रीय नेता बन गए। इसकी सफलता से उत्साहित होकर गाँधी जी ने अंग्रेज़ी शासन के खिलाफ 'असहयोग' अभियान की माँग कर दी। जो भारतीय उपनिवेशवाद का ख़ात्मा करना चाहते थे उनसे आग्रह किया गया कि वे स्कूलों, कॉलेज़ों और न्यायालय न जाएँ तथा कर न चुकाएँ। संक्षेप में सभी को अंग्रेज़ी सरकार के साथ (सभी) ऐच्छिक संबंधों के परित्याग का पालन करने को कहा गया। गाँधी जी ने कहा कि यदि असहयोग का ठीक ढंग से पालन किया जाए तो भारत एक वर्ष के भीतर स्वराज प्राप्त कर लेगा। अपने संघर्ष का और विस्तार करते हुए उन्होंने खिलाफ़त आंदोलन के साथ हाथ मिला लिए जो हाल ही में तुर्की शासक कमाल अतातुर्क द्वारा समाप्त किए गए सर्व-इस्लामवाद के प्रतीक खलीफा की पुनर्स्थापना की माँग कर रहा था।

2.1 एक लोकप्रिय आंदोलन की तैयारी

गाँधी जी ने यह आशा की थी कि असहयोग को खिलाफत के साथ मिलाने से भारत के दो प्रमुख धार्मिक समुदाय- हिंदू और मुसलमान मिलकर औपनिवेशिक शासन का अंत कर देंगे। इन आंदोलनों ने निश्चय ही एक लोकप्रिय कार्रवाही के बहाव को उन्मुक्त कर दिया था और ये चीज़ें औपनिवेशिक भारत में बिलकुल ही अभूतपूर्व थीं।

विद्यार्थियों ने सरकार द्वारा चलाए जा रहे स्कूलों और कॉलेजों में जाना छोड़ दिया। वकीलों ने अदालत में जाने से मना कर दिया। कई कस्बों और नगरों में श्रमिक-वर्ग हड़ताल पर चला गया। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक 1921 में 396 हड़तालें हुई जिनमें 6 लाख श्रमिक शामिल थे और इससे 70 लाख कार्यदिवसों का नुकसान हुआ था। देहात भी असंतोष से आंदोलित हो रहा था। उत्तरी आंध्र की पहाड़ी जनजातियों ने वन्य कानूनों की अवहेलना कर दी। अवध के किसानों ने कर नहीं चुकाए। कुमाऊँ के किसानों ने औपनिवेशिक अधिकारियों का सामान ढोने से मना कर दिया। इन विरोध आंदोलनों को कभी-कभी स्थानीय राष्ट्रवादी नेतृत्व की अवज्ञा करते हुए कार्यान्वियित किया गया। किसानों, श्रमिकों और अन्य ने इसकी अपने ढंग से व्याख्या की तथा औपनिवेशिक शासन के साथ 'असहयोग' के लिए उन्होंने ऊपर से प्राप्त निर्देशों पर टिके रहने के बजाय अपने हितों से मेल खाते तरीकों का इस्तेमाल कर कार्रवाही की।

महात्मा गाँधी के अमरीकी जीवनी-लेखक लुई फिशर ने लिखा है कि 'असहयोग भारत और गाँधी जी के जीवन के एक युग का ही नाम

खिलाफ़त आंदोलन क्या था?

खिलाफ़त आंदोलन (1919-1920) मुहम्मद अली और शौकत अली के नेतृत्व में भारतीय मुसलमानों का एक आंदोलन था। इस आंदोलन की निम्नलिखित माँगें थीं- पहले के ऑटोमन साम्राज्य के सभी इस्लामी पवित्र स्थानों पर तुर्की सुल्तान अथवा खलीफ़ा का नियंत्रण बना रहे, जज़ीरात-उल-अरब (अरब, सीरिया, इराक, फिलिस्तीन) इस्लामी सम्प्रभुता के अधीन रहें तथा खलीफ़ा के पास इतने क्षेत्र हों कि वह इस्लामी विश्वास को सुरक्षित करने के योग्य बन सके। कांग्रेस ने इस आंदोलन का समर्थन किया और गाँधी जी ने इसे असहयोग आंदोलन के साथ मिलाने की कोशिश की।

हो गया। असहयोग शांति की दृष्टि से नकारात्मक किंतु प्रभाव की दृष्टि से बहुत सकारात्मक था। इसके लिए प्रतिवाद, परित्याग और स्व-अनुशासन आवश्यक थे। यह स्वशासन के लिए एक प्रशिक्षण था।' 1857 के विद्रोह के बाद पहली बार असहयोग आंदोलन के परिणामस्वरूप अंग्रेज़ी राज की नींव हिल गई। फरवरी 1922 में किसानों के एक समूह ने संयुक्त प्रांत के चौरी-चौरा पुरवा में एक पुलिस स्टेशन पर आक्रमण कर उसमें आग लगा दी। इस अग्निकांड में कई पुलिस वालों की जान चली गई। हिंसा की इस कार्यवाही से गाँधी जी को यह आंदोलन तत्काल वापस लेना पड़ा। उन्होंने ज़ोर दिया कि, 'किसी भी तरह की उत्तेजना को निहत्थे और एक तरह से भीड़ की दया पर निर्भर व्यक्तियों की घृणित हत्या के आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता है'।

चित्र 13.4
असहयोग आंदोलन, 1922
विदेशी वस्त्रों को इकट्ठा किया जा रहा है ताकि उन्हें आग में जलाया जा सके।

असहयोग आंदोलन के दौरान हज़ारों भारतीयों को जेल में डाल दिया गया। स्वयं गाँधी जी को मार्च 1922 में राजद्रोह के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया गया। उन पर जाँच की कार्रवाही की अध्यक्षता करने वाले जज जस्टिस सी. एन. ब्रूमफील्ड ने उन्हें सजा सुनाते समय एक महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। जज ने टिप्पणी की कि, "इस तथ्य को नकारना असंभव होगा कि मैने आज तक जिनकी जाँच की है अथवा करूँगा आप उनसे भिन्न श्रेणी के हैं। इस तथ्य को नकारना असंभव होगा कि आपके लाखों देशवासियों की दृष्टि में आप एक महान देशभक्त और नेता हैं। यहाँ तक कि राजनीति में जो लोग आपसे भिन्न मत रखते हैं वे भी आपको उच्च आदर्शों और पवित्र जीवन वाले व्यक्ति के रूप में देखते हैं। चूँकि गाँधी जी ने कानून की अवहेलना की थी अत: उस न्याय पीठ के लिए गाँधी जी को 6 वर्षों की जेल की सजा सुनाया जाना आवश्यक था। लेकिन जज ब्रूमफील्ड ने कहा कि 'यदि भारत में घट रही घटनाओं की वजह से सरकार के लिए सज़ा के इन वर्षों में कमी और आपको मुक्त करना संभव हुआ तो इससे मुझसे ज़्यादा कोई प्रसन्न नहीं होगा"।

2.2 जन नेता

1922 तक गाँधी जी ने भारतीय राष्ट्रवाद को एकदम परिवर्तित कर दिया और इस प्रकार फरवरी 1916 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में अपने भाषण में किए गए वायदे को उन्होंने पूरा किया। अब यह व्यावसायिकों व बुद्धिजीवियों का ही आंदोलन नहीं रह गया था, अब

हज़ारों की संख्या में किसानों, श्रमिकों और कारीगरों ने भी इसमें भाग लेना शुरू कर दिया। इनमें से कई गाँधी जी के प्रति आदर व्यक्त करते हुए उन्हें अपना 'महात्मा' कहने लगे। उन्होंने इस बात की प्रशंसा की कि गाँधी जी उनकी ही तरह के वस्त्र पहनते थे, उनकी ही तरह रहते थे और उनकी ही भाषा में बोलते थे। अन्य नेताओं की तरह वे सामान्य जनसमूह से अलग नहीं खड़े होते थे बल्कि वे उनसे समानुभूति रखते तथा उनसे घनिष्ठ संबंध भी स्थापित कर लेते थे।

सामान्य जन के साथ इस तरह की पहचान उनके वस्त्रों में विशेष रूप से परिलक्षित होती थी। जहाँ अन्य राष्ट्रवादी नेता पश्चिमी शैली के सूट अथवा भारतीय बंदगला जैसे औपचारिक वस्त्र पहनते थे वहीं गाँधी जी लोगों के बीच एक साधारण धोती में जाते थे। इस बीच, प्रत्येक दिन का कुछ हिस्सा वे चरखा चलाने में बिताते थे। अन्य राष्ट्रवादियों को भी उन्होंने ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया। सूत कताई के कार्य ने गाँधी जी को पारंपरिक जाति व्यवस्था में प्रचलित मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम की दीवार को तोड़ने में मदद दी।

चित्र 13.5
चरखे के साथ महात्मा गाँधी भारतीय राष्ट्रवाद की सर्वाधिक स्थायी पहचान बन गए।
1921 में दक्षिण भारत की यात्रा के दौरान गाँधी जी ने अपना सिर मुँडवा लिया और गरीबों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने के लिए उन्होंने सूती वस्त्र पहनना आरंभ कर दिया। उनका यह नया रूप तपस्या और संयम का प्रतीक भी बना और ये ऐसी विशेषताएँ थीं जिनका गाँधी जी, आधुनिक विश्व की उपभोक्तवादी संस्कृति के प्रतिउत्तर में, गुणगान करते थे।

स्रोत 1

चरखा

महात्मा गाँधी आधुनिक युग, जिसमें मशीनों ने मानव को गुलाम बनाकर श्रम को हटा दिया था, के घोर आलोचक थे। उन्होंने चरखा को एक ऐसे, मानव समाज के प्रतीक रूप में देखा, जिसमें मशीनों और प्रौद्योगिकी को बहुत महिमामंडित नहीं किया जाएगा। इससे भी अधिक चरखा गरीबों को पूरक आमदनी प्रदान कर सकता था तथा उन्हें स्वावलम्बी बना सकता था।

चित्र 13.5

मेरी आपत्ति मशीन के प्रति सनक से है। यह सनक श्रम बचाने वाली मशीनरी के लिए है। ये तब तक 'श्रम बचाते' रहेंगे जब तक कि हज़ारों लोग बिना काम के और भूख से मरने के लिए सड़कों पर न फेंक दिए जाएँ। मैं मानव समुदाय के किसी एक हिस्से के लिए नहीं बल्कि सभी के लिए समय और श्रम बचाना चाहता हूँ : मैं धन का केंद्रीकरण कुछ ही लोगों के हाथों में नहीं बल्कि सभी के हाथों में करना चाहता हूँ।

यंग इंडिया, 13 नवंबर 1924

खद्दर मशीनरी को नष्ट नहीं करना चाहता बल्कि यह इसके प्रयोग को नियमित करता है और इसके विकास को नियंत्रित करता है। यह मशीनरी का प्रयोग सर्वाधिक ग़रीब लोगों के लिए उनकी अपनी झोपड़ियों में करता है। पहिया अपने आप में ही मशीनरी का एक उत्कृष्ट नमूना है।

यंग इंडिया, 17 मार्च 1927

इतिहासकार शाहिद अमीन ने एक मंत्रमुग्ध कर देने वाले अध्ययन में स्थानीय प्रेस द्वारा ज्ञात रिपोर्टों और अफवाहों के ज़रिए पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसानों के मन में महात्मा गाँधी की जो कल्पना थी, उसे ढूँढ़ निकालने की कोशिश की है। फरवरी 1921 में जब वे इस क्षेत्र से गुजर रहे थे तो हर जगह भीड़ ने उनका बड़े प्यार से स्वागत किया।

उनके भाषणों के दौरान कैसा माहौल होता था इस पर गोरखपुर के एक हिंदी समाचारपत्र ने यह रिपोर्ट लिखी है:

> भटनी में गाँधी जी ने स्थानीय जनता को संबोधित किया और इसके बाद ट्रेन गोरखपुर के लिए रवाना हो गई। नूनखार, देवरिया, गौरी बाज़ार, चौरी-चौरा और कुसुमही (स्टेशनों) पर 15 से 20 हज़ार से कम लोग नहीं थे... महात्मा जी कुसुमीही के दृश्य को देखकर बहुत प्रसन्न हुए क्योंकि जंगल के बीच स्थित होने के बावजूद उस स्टेशन पर 10,000 से कम लोग नहीं थे। प्रेम में अभिभूत होकर कुछ लोग रोते हुए देखे गए। देवरिया में लोग गाँधी जी को भेनी (दान) देना चाहते थे किंतु इसे उन्होंने उनसे गोरखपुर में देने को कहा। लेकिन चौरी-चौरा में एक मारवाड़ी सज्जन ने किसी तरह उन्हें कुछ दे दिया। इसके बाद यह क्रम रुका ही नहीं। एक चादर फैला दी गई जिस पर रुपयों और सिक्कों की बारिश होने लगी। यह दृश्य था... गोरखपुर स्टेशन के बाहर महात्मा एक ऊँची गाड़ी पर खड़े हो गए और लोगों ने कुछ मिनटों के लिए उनके दर्शन कर लिए।

गाँधी जी जहाँ भी गए वहीं उनकी चामत्कारिक शक्तियों की अफवाहें फैल गईं। कुछ स्थानों पर यह कहा गया कि उन्हें राजा द्वारा किसानों के दुख तकलीफों में सुधार के लिए भेजा गया है तथा उनके पास सभी स्थानीय अधिकारियों के निर्देशों को अस्वीकृत करने की शक्ति है। कुछ अन्य स्थानों पर यह दावा किया गया कि गाँधी जी की शक्ति अंग्रेज़ बादशाह से उत्कृष्ट है और यह कि उनके आने से औपनिवेशिक शासक ज़िले से भाग जाएँगे। गाँधी जी का विरोध करने वालों के लिए भयंकर परिणाम की बात बताती कहानियाँ भी थीं। इस तरह की अफवाहें फैलीं कि गाँधी जी की आलोचना करने वाले गाँव के लोगों के घर रहस्यात्मक रूप से गिर गए अथवा उनकी फसल चौपट हो गई।

'गाँधी बाबा', 'गाँधी महाराज' अथवा सामान्य 'महात्मा' जैसे अलग-अलग नामों से ज्ञात गाँधी जी भारतीय किसान के लिए एक उद्धारक के समान थे जो उनकी ऊँची करों और दमनात्मक अधिकारियों से सुरक्षा करने वाले और उनके जीवन में मान-मर्यादा और स्वायत्तता वापस लाने वाले थे। ग़रीबों विशेषकर किसानों के बीच गाँधी जी की

स्रोत 2

चामत्कारिक व अविश्वसनीय

संयुक्त प्रांत के स्थानीय समाचार-पत्रों में उस समय फैली कई अफवाहें दर्ज हैं। ये अफवाहें थीं कि जिस किसी भी व्यक्ति ने महात्मा की शक्ति को परखना चाहा उसे अचंभा हुआ :

1. बस्ती गाँव के सिंकदर साहू ने 15 फरवरी को कहा कि वह महात्मा जी में तब विश्वास करेगा जब उसके कारखाने (जहाँ गुड़ का उत्पादन होता था) में गन्ने के रस से भरा कड़ाहा (उबलता हुआ) दो भाग में टूट जाएगा। तुरंत ही कड़ाहा वास्तव में बीच में से दो हिस्सों में टूट गया।

2. आजमगढ़ के एक किसान ने कहा कि वह महात्मा जी की प्रामाणिकता में तब विश्वास करेगा जब उसके खेत में लगाए गए गेहूँ तिल में बदल जाएँ। अगले दिन उस खेत का सारा गेहूँ तिल बन गया।

जारी...

स्रोत 2 जारी...

ऐसी अफ़वाहें थीं कि महात्मा गाँधी का विरोध करने वाले लोग निरपवाद रूप से किसी न किसी त्रासदी का शिकार हुए थे।

1. गोरखपुर से एक सज्जन ने चरखा चलाए जाने की आवश्यकता पर प्रश्न उठाया। उनके घर में आग लग गई।

2. अप्रैल 1921 में उत्तर प्रदेश के एक गाँव में कुछ लोग जुआ खेल रहे थे। किसी ने उन्हें ऐसा करने से रोका। जुआ खेल रहे समूह में से एक ने रुकने से मना कर दिया और गाँधीजी को अपशब्द कहा। अगले दिन उसकी बकरी को उसके ही चार कुत्तों ने काट खाया।

3. गोरखपुर के एक गाँव में किसानों ने शराब पीना छोड़ने का निश्चय किया। एक व्यक्ति अपने निश्चय पर कायम नहीं रहा। जब वह शराब की दुकान की तलाश में जा रहा था तो उसके रास्ते में रोड़ों की बारिश होने लगी। ज्योंही उसने गाँधीजी का नाम लिया रोड़ों की बारिश बंद हो गई।

शाहिद अमीन, *'गाँधी जी एज़ महात्मा'*, *सबाल्टर्न स्टडीज़* III, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

➲ आपने अध्याय 11 में अफ़वाहों के बारे में पढ़ा और देखा कि अफ़वाहों का प्रसार एक समय के विश्वास के ढाँचों के बारे में बताता है, यह बताता है उन लोगों के मन-मस्तिष्क के बारे में जो इन अफ़वाहों में विश्वास करते हैं और उन परिस्थितियों के बारे में जो इन विश्वासों को संभव बनाती हैं। आपके अनुसार गाँधी जी के विषय में अफ़वाहों से क्या पता चलता है?

अपील को उनकी सात्विक जीवन शैली और उनके द्वारा धोती तथा चरखा जैसे प्रतीकों के विवेकपूर्ण प्रयोग से बहुत बल मिला। जाति से महात्मा गाँधी एक व्यापारी व पेशे से वकील थे, लेकिन उनकी सादी जीवन-शैली तथा हाथों से काम करने के प्रति उनके लगाव की वजह से वे ग़रीब श्रमिकों के प्रति बहुत अधिक समानुभूति रखते थे तथा बदले में वे लोग गाँधी जी से समानुभूति रखते थे। जहाँ अधिकांश अन्य राजनीतिक उन्हें कृपा की दृष्टि से देखते थे वहीं ये न केवल उनके जैसा दिखने बल्कि उन्हें अच्छी तरह समझने और उनके जीवन के साथ स्वयं को जोड़ने के लिए सामने आते थे।

महात्मा गाँधी का जन अनुरोध निस्संदेह कपट से मुक्त था और भारतीय राजनीति के संदर्भ में तो बिना किसी पूर्वोदाहरण के यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्रवाद के आधार को और व्यापक बनाने में उनकी सफलता का राज़ उनके द्वारा सावधानीपूर्वक किया गया संगठन था। भारत के विभिन्न भागों में कांग्रेस की नयी शाखाएँ खोली गयी। रजवाड़ों में राष्ट्रवादी सिद्धान्त को बढ़ावा देने के लिए 'प्रजा मंडलों' की एक श्रृंखला स्थापित की गई। गाँधी जी ने राष्ट्रवादी संदेश का संचार शासकों की अंग्रेज़ी भाषा की जगह मातृ भाषा में करने को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार कांग्रेस की प्रांतीय समितियाँ ब्रिटिश भारत की कृत्रिम सीमाओं की अपेक्षा भाषाई क्षेत्रों पर आधारित थीं। इन अलग-अलग तरीकों से राष्ट्रवाद देश के सुदूर हिस्सों तक फैल गया और अब इसमें वे सामाजिक वर्ग भी शामिल हो गए जो अभी तक इससे अछूत थे।

अब तक कांग्रेस के समर्थकों में कुछ बहुत ही समृद्ध व्यापारी और उद्योगपति शामिल हो गए थे। भारतीय उद्यमियों ने यह बात जल्दी ही समझ ली कि उनके अंग्रेज़ प्रतिद्वन्दी आज जो लाभ पा रहे हैं, स्वतंत्र भारत में ये चीज़ें समाप्त हो जाएँगी। जी. डी. बिड़ला जैसे कुछ उद्यमियों ने राष्ट्रीय आंदोलन का खुला समर्थन किया जबकि अन्य ने ऐसा मौन रूप से किया। इस प्रकार गाँधी जी के प्रशंसकों में गरीब किसान और धनी उद्योगपति दोनों ही थे हालांकि किसानों द्वारा गाँधी जी का अनुकरण करने के कारण उद्योगपतियों के कारणों से कुछ भिन्न और संभवत: परस्पर विरोधी थे।

हालाँकि महात्मा गाँधी की स्वयं बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका थी लेकिन 'गाँधीवादी राष्ट्रवाद' का विकास बहुत हद तक उनके अनुयायियों पर निर्भर करता था। 1917 और 1922 के बीच भारतीयों के एक बहुत ही प्रतिभाशाली वर्ग ने स्वयं को गाँधी जी से जोड़ लिया। इनमें महादेव देसाई, वल्लभ भाई पटेल, जे. बी. कृपलानी, सुभाष चंद्र बोस, अबुल कलाम आज़ाद, जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, गोविंद वल्लभ पंत और सी. राजगोपालाचारी शामिल थे। गाँधी जी के ये घनिष्ठ सहयोगी

विशेषरूप से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के साथ ही भिन्न-भिन्न धार्मिक परंपराओं से आए थे। इसके बाद उन्होंने अनगिनत अन्य भारतीयों को कांग्रेस में शामिल होने और इसके लिए काम करने के लिए प्रेरित किया।

महात्मा गाँधी फरवरी 1924 में जेल से रिहा हो गए और अब उन्होंने अपना ध्यान घर में बुने कपड़े (खादी) को बढ़ावा देने तथा छूआ-छूत को समाप्त करने पर लगाया। गाँधी जी राजनीतिक जितने थे उतने ही वे समाज सुधारक थे। उनका विश्वास था कि स्वतंत्रता के योग्य बनने के लिए भारतीयों को बाल विवाह और छूआ-छूत जैसी सामाजिक बुराइयों से मुक्त होना पड़ेगा। एक मत के भारतीयों को दूसरे मत के भारतीयों के लिए सच्चा संयम लाना होगा और इस प्रकार उन्होंने हिंदू-मुसलमानों के बीच सौहार्द्र पर बल दिया। इसी तरह आर्थिक स्तर पर भारतीयों को स्वावलंबी बनना सीखना होगा- ऐसा करके उन्होंने समुद्रपार से आयतित मिल में बने वस्त्रों के स्थान पर खादी पहनने की महत्ता पर ज़ोर डाला।

➲ **चर्चा कीजिए...**

असहयोग क्या था? विभिन्न सामाजिक वर्गों ने आन्दोलन में किन विभिन्न तरीकों से भाग लिया, इसके बारे में पता लगाइये।

3. नमक सत्याग्रह

नज़दीक से एक नज़र

असहयोग आंदोलन समाप्त होने के कई वर्ष बाद तक महात्मा गाँधी ने अपने को समाज सुधार कार्यों पर केंद्रित रखा। 1928 में उन्होंने पुन: राजनीति में प्रवेश करने की सोची। उस वर्ष सभी श्वेत सदस्यों वाले साईमन कमीशन, जो कि उपनिवेश की स्थितियों की जाँच-पड़ताल के लिए इंग्लैंड से भेजा गया था, के विरुद्ध अखिल भारतीय अभियान चलाया जा रहा था। गाँधी जी ने स्वयं इस आंदोलन में भाग नहीं लिया था पर उन्होंने इस आंदोलन को अपना आशीर्वाद दिया था तथा इसी वर्ष बारदोली में होने वाले एक किसान सत्याग्रह के साथ भी उन्होंने ऐसा किया था।

1929 में दिसंबर के अंत में कांग्रेस ने अपना वार्षिक अधिवेशन लाहौर शहर में किया। यह अधिवेशन दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था : जवाहरलाल नेहरू का अध्यक्ष के रूप में चुनाव जो युवा पीढ़ी को नेतृत्व की छड़ी सौंपने का प्रतीक था; और 'पूर्ण स्वराज' अथवा पूर्ण स्वतंत्रता की उद्घोषणा। अब राजनीति की गति एक बार फिर बढ़ गई थी। 26 फरवरी 1930 को विभिन्न स्थानों पर राष्ट्रीय ध्वज फहराकर और देशभक्ति के गीत गाकर 'स्वतंत्रता दिवस' मनाया गया। गाँधी जी ने स्वयं सुस्पष्ट निर्देश देकर बताया कि इस दिन को कैसे मनाया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि "यदि (स्वतंत्रता की) उद्घोषणा सभी गाँवों और सभी शहरों यहाँ तक कि... अच्छा होगा। अगर सभी जगहों पर एक ही समय में संगोष्ठियाँ हों तो अच्छा होगा।"

गाँधी जी ने सुझाव दिया कि नगाड़े पीटकर पारंपरिक तीरके से संगोष्ठी के समय की घोषणा की जाए। राष्ट्रीय ध्वज को फहराए जाने से समारोहों की शुरुआत होगी। दिन का बाकी हिस्सा किसी रचनात्मक कार्य में चाहे वह

सूत कताई हो अथवा 'अछूतों' की सेवा अथवा हिंदुओं व मुसलमानों का पुनर्मिलन अथवा निषिद्ध कार्य अथवा ये सभी एक साथ करने में व्यतीत होगा और यह असंभव नहीं है। इसमें भाग लेने वाले लोग दृढ़तापूर्वक यह प्रतिज्ञा लेंगे कि "अन्य लोगों की तरह भारतीय लोगों को भी स्वतंत्रता और अपने कठिन परिश्रम के फल का आनंद लेने का अहरणीय अधिकार है और यह कि यदि कोई भी सरकार लोगों को इन अधिकारों से वंचित रखती है या उनका दमन करती है तो लोगों को इन्हें बदलने अथवा समाप्त करने का भी अधिकार है।"

3.1 दाण्डी

'स्वतंत्रता दिवस' मनाए जाने के तुरंत बाद महात्मा गाँधी ने घोषणा की कि वे ब्रिटिश भारत के सर्वाधिक घृणित कानूनों में से एक, जिसने नमक के उत्पादन और विक्रय पर राज्य को एकाधिकार दे दिया है, को तोड़ने के लिए एक यात्रा का नेतृत्व करेंगे। नमक एकाधिकार के जिस मुद्दे का उन्होंने चयन किया था वह गाँधी जी की कुशल समझदारी का एक अन्य उदाहरण था। प्रत्येक भारतीय घर में नमक का प्रयोग अपरिहार्य था लेकिन इसके बावजूद उन्हें घरेलू प्रयोग के लिए भी नमक बनाने से रोका गया और इस तरह उन्हें दुकानों से ऊँचे दाम पर नमक खरीदने के लिए बाध्य किया गया। नमक पर राज्य का एकाधिपत्य बहुत अलोकप्रिय था। इसी को निशाना बनाते हुए गाँधी जी अंग्रेज़ी शासन के खिलाफ व्यापक असंतोष को संघटित करने की सोच रहे थे।

चित्र 13.6
दाण्डी यात्रा, मार्च 1930

अधिकांश भारतीयों को गाँधी जी की इस चुनौती का महत्व समझ में आ गया था किंतु अंग्रेज़ी राज को नहीं। हालाँकि गाँधी जी ने अपनी 'नमक यात्रा' की पूर्व सूचना वाइसराय लार्ड इर्विन को दे दी थी किंतु इर्विन उनकी इस कार्रवाही के महत्व को न समझ सके। 12 मार्च 1930 को गाँधी जी ने साबरमती में अपने आश्रम से समुद्र की ओर चलना शुरू किया। तीन हफ्तों बाद वे अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचे। वहाँ उन्होने मुट्ठी भर नमक बनाकर स्वयं को कानून की निगाह में अपराधी बना दिया। इसी बीच देश के अन्य भागों में समान्तर नमक यात्राएँ अयोजित की गईं।

चित्र 13.7
6 अप्रैल 1930 को दाण्डी यात्रा की समाप्ति पर सत्याग्रही प्राकृतिक नमक को उठाते हुए।

स्रोत 3

नमक सत्याग्रह क्यों?

नमक विरोध का प्रतीक क्यों था? इसके बारे में महात्मा गाँधी ने लिखा है :

प्रतिदिन प्राप्त होने वाली सूचनाओं से पता चलता है कि कैसे अन्यायपूर्ण तरीके से नमक कर को तैयार किया गया है। बिना कर (जो कभी-कभी नमक के मूल्य का चौदह गुना तक होता था) अदा किए गए नमक के प्रयोग को रोकने के लिए सरकार उस नमक को, जिससे वह लाभ पर नहीं बेच पाती थी, नष्ट कर देती थी। अत: यह राष्ट्र की अत्यधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता पर कर लगाती है; यह जनता को इसके उत्पादन से रोकती है और प्रकृति ने जिसे बिना किसी श्रम के उत्पादित किया है उसे नष्ट कर देती है। अत: किसी भी वजह से किसी चीज़ को स्वयं प्रयोग न कर पाने तथा अन्य को भी उसका प्रयोग न करने देने तथा ऐसे में उस चीज़ को नष्ट कर देने की इस अन्यायपूर्ण नीति को किसी भी विशेषण द्वारा नहीं बताया जा सकता है। विभिन्न स्रोतों से मैं भारत के सभी भागों में इस राष्ट्र संपति को बेलगाम ढंग से नष्ट किए जाने की कहानियाँ सुन रहा हूँ। टनों न सही पर कई मन नमक कोंकण तट पर नष्ट कर दिया गया बताया गया है। दाण्डी से भी इस तरह की बातें पता चली हैं। जहाँ कहीं भी ऐसे क्षेत्रों के आस-पास रहने वाले लोगों द्वारा अपने व्यक्तिगत प्रयोग हेतु प्राकृतिक नमक उठा ले जाने की संभावना दिखती है वहाँ तुरंत अधिकारी नियुक्त कर दिए जाते हैं जिनका एकमात्र कार्य विनाश करना होता है। इस प्रकार बहुमूल्य राष्ट्रीय संपदा को राष्ट्रीय खर्चे से ही नष्ट किया जाता है और लोगों के मुँह से नमक छीन लिया जाता है।

नमक एकाधिकार एक तरह से चौतरफा अभिशाप है। यह लोगों को बहुमूल्य सुलभ ग्राम उद्योग से वंचित करता है, प्रकृति द्वारा बहुतायत में उत्पादित संपदा का यह अतिशय विनाश करता है। इस विनाश का मतलब ही है और अधिक राष्ट्रीय खर्च। चौथा और इस मूर्खता का चरमोत्कर्ष भूखे लोगों से हज़ार प्रतिशत से अधिक की उगाही है।

सामान्य जन की उदासीनता की वजह से ही लम्बे समय से यह कर अस्तित्व में बना रहा है। आज जनता पर्याप्त रूप से जग चुकी है अत: इस कर को समाप्त करना होगा। कितनी जल्दी इसे खत्म कर दिया जाएगा यह लोगों की क्षमता पर निर्भर करता है।

दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी (सी. डब्ल्यू. एम. जी.) खंड 49

➲ औपनिवेशिक सरकार द्वारा नमक को क्यों नष्ट किया जाता था?
महात्मा गाँधी नमक कर को अन्य करों की तुलना में अधिक दमनात्मक क्यों मानते थे?

स्रोत 4

'कल हम नमक कर क़ानून तोड़ेंगे'

5 अप्रैल 1930 को महात्मा गाँधी ने दाण्डी में कहा था :

जब मैं अपने साथियों के साथ दाण्डी के इस समुद्रतटीय टोले की तरफ चला था तो मुझे यकीन नहीं था कि हमें यहाँ तक आने दिया जाएगा। जब मैं साबरमती में था तब भी यह अफ़वाह थी कि मुझे गिरफ्तार किया जा सकता है। तब मैंने सोचा था कि सरकार मेरे साथियों को तो दाण्डी तक आने देगी लेकिन मुझे निश्चय ही यह छूट नहीं मिलेगी। यदि कोई यह कहता कि इससे मेरे हृदय में अपूर्ण आस्था का संकेत मिलता है तो मैं इस आरोप को नकारने वाला नहीं हूँ। मैं यहाँ तक पहुँचा हूँ, इसमें शांति और अहिंसा का कम हाथ नहीं है; इस सत्ता को सब महसूस करते हैं। अगर सरकार चाहे तो वह अपने इस आचरण के लिए अपनी पीठ थपथपा सकती है क्योंकि सरकार चाहती तो हम में से हरेक को गिरफ़्तार कर सकती थी। जब सरकार यह कहती है कि उसके पास शांति की सेना को गिरफ़्तार करने का साहस नहीं था तो हम उसकी प्रशंसा करते हैं। सरकार को ऐसी सेना की गिरफ़्तारी में शर्म महसूस होती है। अगर कोई व्यक्ति ऐसा काम करने में शर्मिंदा महसूस करता है जो उसके पड़ोसियों को भी रास नहीं आ सकता, तो वह एक शिष्ट-सभ्य व्यक्ति है। सरकार को हमें गिरफ़्तार न करने के लिए बधाई दी जानी चाहिए भले ही उसने विश्व जनमत का खयाल करके ही यह फैसला क्यों न लिया हो।

कल हम नमक कर कानून तोड़ेंगे। सरकार इसको बर्दाश्त करती है कि नहीं, यह सवाल अलग है। हो सकता है सरकार हमें ऐसा न करने दे लेकिन उसने हमारे जत्थे के बारे में जो धैर्य और सहिष्णुता दिखायी है उसके लिए वह अभिनंदन की पात्र है...।

यदि मुझे और गुजरात व देश भर के सारे मुख्य नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया जाता है तो क्या होगा? यह आंदोलन इस विश्वास पर आधारित है कि जब एक पूरा राष्ट्र उठ खड़ा होता है और आगे बढ़ने लगता है तो उसे नेता की जरूरत नहीं रह जाती।

कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, खंड 49

➲ इस भाषण के आधार पर बताइए कि गाँधी जी औपनिवेशिक राज्य को कैसे देखते थे?

असहयोग आन्दोलन की तरह अधिकृत रूप से स्वीकृत राष्ट्रीय अभियान के अलावा भी विरोध की असंख्य धाराएँ थीं। देश के विशाल भाग में किसानों ने दमनकारी औपनिवेशिक वन कानूनों का उल्लंघन किया जिसके कारण वे और उनके मवेशी उन्हीं जंगलों में नहीं जा सकते थे जहाँ एक जमाने में वे बेरोकटोक घूमते थे। कुछ कस्बों में फैक्ट्री कामगार हड़ताल पर चले गए, वकीलों ने ब्रिटिश अदालतों का बहिष्कार कर दिया और विद्यार्थियों ने सरकारी शिक्षा संस्थानों में पढ़ने से इनकार कर दिया। 1920-22 की तरह इस बार भी गाँधी जी के आह्वान ने तमाम भारतीय वर्गों को औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध अपना असंतोष व्यक्त करने के लिए प्रेरित किया। जवाब में सरकार असंतुष्टों को हिरासत में लेने लगी। नमक सत्याग्रह के सिलसिले में लगभग 60,000 लोगों को गिरफ़्तार किया गया। गिरफ़्तार होने वालों में गाँधी जी भी थे।

समुद्र तट की ओर गाँधी जी की यात्रा की प्रगति का पता उनकी गतिविधियों पर नज़र रखने के लिए तैनात पुलिस अफसरों द्वारा भेजी गई गोपनीय रिपोर्टों से लगाया जा सकता है। इन रिपोर्टों में रास्ते के गाँवों में गाँधी जी द्वारा दिए गए भाषण भी मिलते हैं जिनमें उन्होंने स्थानीय अधिकारियों से आह्वान किया था कि वे सरकारी नौकरियाँ छोड़कर स्वतंत्रता संघर्ष में शामिल हो जाएँ। वसना

नामक गाँव में गाँधी जी ने ऊँची जाति वालों को संबोधित करते हुए कहा था कि "यदि आप स्वराज के हक में आवाज़ उठाते हैं तो आपको अछूतों की सेवा करनी पड़ेगी। सिर्फ नमक कर या अन्य करों के खत्म हो जाने से आपको स्वराज नहीं मिल जाएगा। स्वराज के लिए आपको अपनी उन गल्तियों का प्रायश्चित करना होगा जो आपने अछूतों के साथ की हैं। स्वराज के लिए हिंदू, मुसलमान, पारसी और सिख, सबको एकजुट होना पडेगा। ये स्वराज की सीढ़ियाँ हैं। "पुलिस के जासूसों ने अपनी रिपोर्टों में लिखा था कि गाँधी जी की सभाओं में तमाम जातियों के औरत-मर्द शामिल हो रहे हैं। उनका कहना था कि हज़ारों वॉलंटियर राष्ट्रवादी उद्देश्य के लिए सामने आ रहे हैं। उनमें से बहुत सारे ऐसे सरकारी अफ़सर थे जिन्होंने औपनिवेशिक शासन में अपने पदों से इस्तीफ़े दे दिए थे। सरकार को भेजी अपनी रिपोर्ट में जिला पुलिस सुपरिंटेंडेंट (पुलिस अधीक्षक) ने लिखा था कि "श्री गाँधी शांत और निश्चिंत दिखाई दिए। वे जैसे-जैसे आगे बढ़ रहे हैं, उनकी ताकत बढ़ती जा रही है।"

नमक यात्रा की प्रगति को एक और स्रोत से भी समझा जा सकता है। अमेरिकी समाचार पत्रिका *टाइम* को गाँधी जी की कदकाठी पर हँसी आती थी। पत्रिका ने उनके "तकुए जैसे शरीर" और "मकड़ी जैसे पेडू" का खूब मज़ाक उड़ाया था। इस यात्रा के बारे में अपनी पहली रिपोर्ट में ही *टाइम* ने नमक यात्रा के मंजिल तक पहुँचने पर अपनी गहरी शंका व्यक्त कर दी थी। उसने दावा किया कि दूसरे दिन पैदल चलने के बाद गाँधी जी "ज़मीन पर पसर गए थे।" पत्रिका को इस बात पर विश्वास नहीं था कि इस "मरियल साधु के शरीर में और आगे जाने की ताकत बची है।" लेकिन एक हफ़्ते में ही पत्रिका की सोच बदल गई। *टाइम* ने लिखा कि इस यात्रा को जो भारी जनसमर्थन मिल रहा है उसने अंग्रेज़ शासकों को "ग़हरे तौर पर बेचैन" कर दिया है। अब वे भी गाँधी जी को ऐसा "साधु" और "राजनेता" कह कर

चित्र 13.8
जनवरी 1931 में जेल से महात्मा गाँधी की रिहाई के बाद आंदोलन की भावी योजना के बारे में चर्चा करने के लिए इलाहाबाद में कांग्रेस के नेताओं की बैठक हुई थी।
इस चित्र में आप (दाएँ से बाएँ) जवाहरलाल नेहरू, जमनालाल बजाज, सुभाष चंद्र बोस, गाँधी जी, महादेव देसाई (अग्रभाग में), सरदार वल्लभ भाई पटेल को देख सकते हैं।

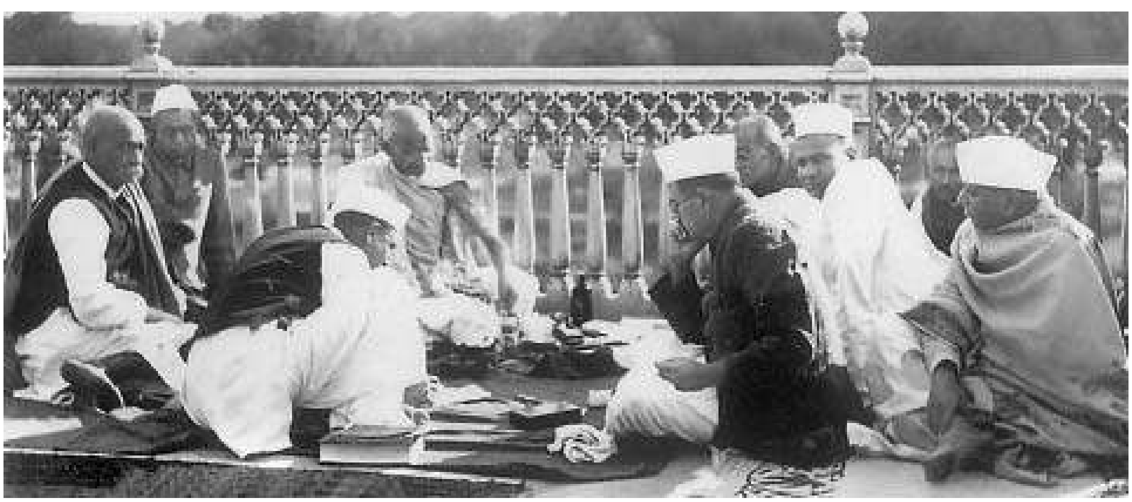

स्रोत 5

पृथक निर्वाचिका के बारे में समस्या

गोल मेज सम्मेलन के दौरान महात्मा गाँधी ने दमित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचिका प्रस्ताव के ख़िलाफ़ अपनी दलील पेश करते हुए कहा था :

"अस्पृश्यों" के लिए पृथक निर्वाचिका का प्रावधान करने से उनकी दासता स्थायी रूप ले लेगी...। क्या आप चाहते हैं कि "अस्पृश्य" हमेशा "अस्पृश्य" ही बने रहें? पृथक निर्वाचिका से उनके प्रति कलंक का यह भाव और मजबूत हो जाएगा। जरूरत इस बात की है कि "अस्पृश्यता" का विनाश किया जाए और जब आप यह लक्ष्य प्राप्त कर लें तो एक अड़ियल "श्रेष्ठ" वर्ग द्वारा एक "कमतर" वर्ग पर थोप दी गई यह अवैध व्यवस्था भी समाप्त हो जाएगी। जब आप इस अवैध प्रथा को नष्ट कर देंगे तो किसी को पृथक निर्वाचिका की आवश्यकता ही कहाँ रह जाएगी?

सलामी देने लगे हैं जो "ईसाई धर्मावलंबियों के खिलाफ ईसाई तरीकों का ही हथियार के रूप में इस्तेमाल कर रहा है।"

3.2 संवाद

नमक यात्रा कम से कम तीन कारणों से उल्लेखनीय थी। पहला, यही वह घटना थी जिसके चलते महात्मा गाँधी दुनिया की नजर में आए। इस यात्रा को यूरोप और अमेरिकी प्रेस ने व्यापक कवरेज दी। दूसरे, यह पहली राष्ट्रवादी गतिविधि थी जिसमें औरतों ने भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। समाजवादी कार्यकर्ता कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने गाँधी जी को समझाया कि वे अपने आंदोलनों को पुरुषों तक ही सीमित न रखें। कमलादेवी खुद उन असंख्य औरतों में से एक थीं जिन्होंने नमक या शराब कानूनों का उल्लंघन करते हुए सामूहिक गिरफ़्तारी दी थी। तीसरा और संभवत: सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि नमक यात्रा के कारण ही अंग्रेजों को यह अहसास हुआ था कि अब उनका राज बहुत दिन नहीं टिक सकेगा और उन्हें भारतीयों को भी सत्ता में हिस्सा देना पड़ेगा।

इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए ब्रिटिश सरकार ने लंदन में "गोल मेज सम्मेलनों" का आयोजन शुरू किया। पहला गोल मेज सम्मेलन नवम्बर 1930 में आयोजित किया गया जिसमें देश के प्रमुख नेता शामिल नहीं हुए। इसी कारण अंतत: यह बैठक निरर्थक साबित हुई। जनवरी 1931 में गाँधी जी को जेल से रिहा किया गया। अगले ही महीने वायसराय के साथ उनकी कई लंबी बैठकें हुईं। इन्हीं बैठकों के बाद "गाँधी-इर्विन समझौते" पर सहमति बनी जिसकी शर्तों में सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेना, सारे कैदियों की रिहाई और तटीय इलाकों में नमक उत्पादन की अनुमति देना शामिल था। रैडिकल राष्ट्रवादियों ने इस समझौते की आलोचना की क्योंकि गाँधी जी वायसराय से भारतीयों के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता का आश्वासन हासिल नहीं कर पाए थे। गाँधी जी को इस संभावित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केवल वार्ताओं का आश्वासन मिला था।

दूसरा गोल मेज सम्मेलन 1931 के आखिर में लंदन में आयोजित हुआ। उसमें गाँधी जी कांग्रेस का नेतृत्व कर रहे थे। गाँधी जी का कहना था कि उनकी पार्टी पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करती है। इस दावे को तीन पार्टियों ने चुनौती दी। मुस्लिम लीग का कहना था कि वह मुस्लिम अल्पसंख्यकों के हित में काम करती है। राजे-रजवाड़ों का दावा था कि कांग्रेस का उनके नियंत्रण वाले भूभाग पर कोई अधिकार नहीं है। तीसरी चुनौती तेज़-तर्रार वकील और विचारक बी. आर. अंबेडकर की तरफ़ से थी जिनका कहना था कि गाँधी जी और कांग्रेस पार्टी निचली जातियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

लंदन में हुआ यह सम्मेलन किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सका इसलिए गाँधी जी को खाली हाथ लौटना पड़ा। भारत लौटने पर उन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर दिया। नए वायसराय लॉर्ड विलिंग्डन को गाँधी जी से बिलकुल हमदर्दी नहीं थी। अपनी बहन को लिखे एक निजी खत में

चित्र 13.9

दूसरा गोल मेज सम्मेलन, लंदन, नवंबर 1931

महात्मा गाँधी ने "निम्न जातियों" के लिए पृथक निर्वाचिका की माँग का विरोध किया। उनका मानना था कि ऐसा करने पर समाज की मुख्यधारा में उनका एकीकरण नहीं हो पाएगा और वे सवर्ण हिंदुओं से हमेशा के लिए अलग रह जाएँगे।

विलिंग्डन ने लिखा था कि "अगर गाँधी न होता तो यह दुनिया वाकई बहुत खूबसूरत होती। वह जो भी कदम उठाता है उसे ईश्वर की प्रेरणा का परिणाम कहता है लेकिन असल में उसके पीछे एक गहरी राजनीतिक चाल होती है। देखता हूँ कि अमेरिकी प्रेस उसको गज़ब का आदमी बताती है...। लेकिन सच यह है कि हम निहायत अव्यावहारिक, रहस्यवादी और अंधविश्वासी जनता के बीच रह रहे हैं जो गाँधी को भगवान मान बैठी है,..."

बहरहाल, 1935 में नए गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया एक्ट में सीमित प्रातिनिधिक शासन व्यवस्था का आश्वासन व्यक्त किया गया। दो साल बाद सीमित मताधिकार के आधार पर हुए चुनावों में कांग्रेस को जबर्दस्त सफलता मिली। 11 में से 8 प्रांतों में कांग्रेस के "प्रधानमंत्री' सत्ताा में आए जो ब्रिटिश गवर्नर की देखरेख में काम करते थे।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों के सत्ता में आने के दो साल बाद, सितंबर 1939 में दूसरा विश्व युद्ध शुरू हो गया। महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू, दोनों ही हिटलर व नात्सियों के कट्टर आलोचक थे। तदनुरूप, उन्होंने फैसला लिया कि अगर अंग्रेज़ युद्ध समाप्त होने के बाद भारत को स्वतंत्रता देने पर राजी हों तो कांग्रेस उनके युद्ध प्रयासों में सहायता दे सकती है। सरकार ने उनका प्रस्ताव ख़ारिज कर दिया। इसके विरोध में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अक्टूबर 1939 में इस्तीफ़ा दे दिया। युद्ध समाप्त

स्रोत 6

पृथक निर्वाचिका पर अम्बेडकर के विचार

दमित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचिका के प्रस्ताव पर महात्मा गाँधी की दलीलों के जवाब में अम्बेडकर ने लिखा था :

'हमारे सामने एक ऐसा वर्ग है जो निश्चय ही अस्तित्व के संघर्ष में खुद को कायम नहीं रख सकता। जिस धर्म से ये लोग बँधे हुए हैं वह उन्हें सम्मानजनक स्थान प्रदान करने की बजाय कोढ़ियों की तरह देखता है जिनके साथ सामान्य संबंध नहीं रखे जा सकते। आर्थिक रूप से यह ऐसा वर्ग है जो दो वक्त की रोटी के लिए सवर्ण हिंदुओं पर पूरी तरह आश्रित है; जिसके पास आजीविका का कोई स्वतंत्र साधन नहीं है। न केवल हिंदुओं के सामाजिक पूर्वाग्रहों के कारण उनके सारे रास्ते बंद हैं बल्कि समग्र इतिहास में हिंदू समाज ने उनके सामने खुलने वाली हर संभावना को बंद कर दिया है जिससे दमित वर्गों को जीवन में ऊपर उठने का कोई अवसर न मिल सके।

इन परिस्थितियों में सभी निष्पक्ष सोच वाले व्यक्ति इस बात पर सहमत होंगे कि आज सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि ऐसे अपंग समुदाय के पास संगठित निरंकुशता के विरुद्ध जीवन के संघर्ष का एकमात्र रास्ता यही है कि उसे राजनीतिक सत्ता में हिस्सा मिले जिससे वह अपनी रक्षा कर सके...।

डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर, "व्हाट कांग्रेस एंड गाँधी हैव डन टू दि अनटचेबल्स", *राइटिंग्स एंड स्पीचेस,* खंड 9, पृ. 312 से।

चित्र 13.10
महात्मा गाँधी और राजेन्द्र प्रसाद वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो के साथ बैठक के लिए जाते हुए, 13 अक्टूबर 1939
इस बैठक में युद्ध में भारत की हिस्सेदारी के स्वरूप पर चर्चा की गई थी। जब वायसराय के साथ वार्ता टूट गई तो कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने इस्तीफ़ा दे दिया था।

होने के बाद स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए शासकों पर दबाव डालने के वास्ते 1940-1941 के दौरान कांग्रेस ने अलग-अलग सत्याग्रह कार्यक्रमों का आयोजन शुरू कर दिया।

मार्च 1940 में मुस्लिम लीग ने उपमहाद्वीप के मुस्लिम-बहुल इलाक़ों के लिए कुछ स्वायत्तता की माँग का प्रस्ताव पेश किया। अब राजनीतिक भूदृश्य काफ़ी जटिल हो गया था : अब यह संघर्ष भारतीय बनाम ब्रिटिश नहीं रह गया था। अब यह कांग्रेस, मुस्लिम लीग और ब्रिटिश शासन, तीन धुरियों के बीच का संघर्ष था। इसी समय ब्रिटेन में एक सर्वदलीय सरकार सत्ता में थी जिसमें शामिल लेबर पार्टी के सदस्य भारतीय आकांक्षाओं के प्रति हमदर्दी का रवैया रखते थे लेकिन सरकार के मुखिया प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल कट्टर साम्राज्यवादी थे। उनका कहना था कि उन्हें सम्राट का सर्वोच्च मंत्री इसलिए नहीं नियुक्त किया गया है कि वह ब्रिटिश साम्राज्य को टुकड़े-टुकड़े कर दें। 1942 के वसंत में चर्चिल ने गाँधी जी और कांग्रेस के साथ समझौते का रास्ता निकालने के लिए अपने एक मंत्री सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स को भारत भेजा। क्रिप्स के साथ वार्ता में कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया कि अगर धुरी शक्तियों से भारत की रक्षा के लिए ब्रिटिश शासन कांग्रेस का समर्थन चाहता है तो वायसराय को सबसे पहले अपनी कार्यकारी परिषद् में किसी भारतीय को एक रक्षा सदस्य के रूप में नियुक्त करना चाहिए। इसी बात पर वार्ता टूट गई।

चित्र 13.11
स्टेफ़र्ड क्रिप्स के साथ महात्मा गाँधी, मार्च 1942

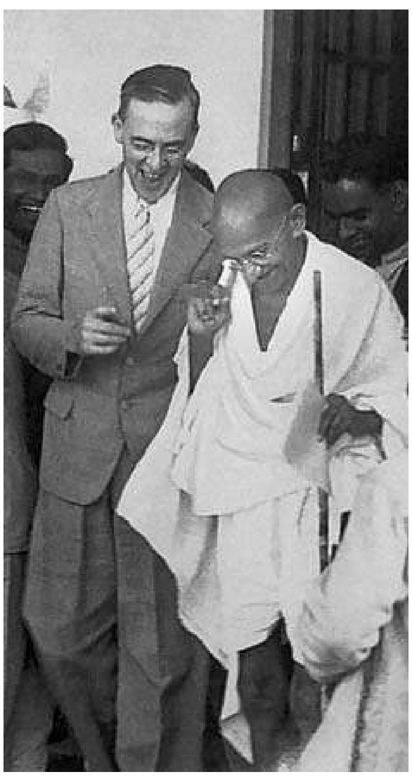

➲ चर्चा कीजिए...

स्रोत 5 एवं 6 को पढ़िए। दमित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचिका के मुद्दे पर अम्बेडकर और महात्मा गाँधी के बीच काल्पनिक संवाद को लिखिए।

4. भारत छोड़ो

क्रिप्स मिशन की विफलता के बाद महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ अपना तीसरा बड़ा आंदोलन छेड़ने का फैसला लिया। अगस्त 1942 में शुरू हुए इस आंदोलन को "अंग्रेज़ों भारत छोड़ो" का नाम दिया गया था। हालांकि गाँधी जी को फौरन गिरफ़्तार कर लिया गया था लेकिन देश भर के युवा कार्यकर्ता हड़तालों और तोड़फोड़ की कार्रवाइयों के जरिए आंदोलन चलाते रहे। कांग्रेस में जयप्रकाश नारायण जैसे समाजवादी सदस्य भूमिगत प्रतिरोध गतिविधियों में सबसे ज्यादा सक्रिय थे। पश्चिम में सतारा और पूर्व में मेदिनीपुर जैसे कई जिलों में "स्वतंत्र" सरकार (*प्रतिसरकार*) की स्थापना कर दी गई थी। अंग्रेज़ों ने आंदोलन के प्रति काफी सख़्त रवैया अपनाया फिर भी इस विद्रोह को दबाने में सरकार को साल भर से ज्यादा समय लग गया।

"भारत छोड़ो" (Quit India) आंदोलन सही मायने में एक जनांदोलन था जिसमें लाखों आम हिंदुस्तानी शामिल थे। इस आंदोलन ने युवाओं को बड़ी संख्या में अपनी ओर आकर्षित किया। उन्होंने अपने कॉलेज छोड़कर जेल का रास्ता अपनाया। जिस दौरान कांग्रेस के नेता जेल में थे उसी समय जिन्ना तथा मुस्लिम लीग के उनके साथी अपना प्रभाव क्षेत्र फैलाने में लगे थे। इन्हीं सालों में लीग को पंजाब और सिंध में अपनी पहचान बनाने का मौका मिला जहाँ अभी तक उसका कोई खास वजूद नहीं था।

जून 1944 में जब विश्व युद्ध समाप्ति की ओर था तो गाँधी जी को रिहा कर दिया गया। जेल से निकलने के बाद उन्होंने कांग्रेस और

सतारा, 1943

उन्नीसवीं सदी के आखिर से जाति व्यवस्था और जमींदारी के खिलाफ महाराष्ट्र में एक गैर-ब्राह्मण आंदोलन विकसित हो चुका था। इस आंदोलन ने 1930 के दशक तक राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ संबंध स्थापित कर दिया था।

1943 में महाराष्ट्र के सतारा जिले के कुछ युवा नेताओं ने सेवा दलों तथा तूफान दलों (ग्राम इकाई) के साथ मिलकर एक *प्रतिसरकार* (समानांतर सरकार) की स्थापना कर ली थी। उन्होंने जन-अदालतों का आयोजन किया तथा रचनात्मक कार्य किए। कुनबी किसानों के दबदबे और दलितों के सहयोग से चलने वाली सतारा *प्रतिसरकार*, सरकारी दमन तथा अंतिम दौर में कांग्रेस की असहमति के बावजूद 1946 के चुनावों तक चलती रही।

चित्र 13.12
भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान बम्बई में औरतों का एक जुलूस।

लीग के बीच फासले को पाटने के लिए जिन्ना के साथ कई बार बात की। 1945 में ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार बनी। यह सरकार भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में थी। उसी समय वायसराय लॉर्ड वावेल ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के बीच कई बैठकों का आयोजन किया।

1946 की शुरुआत में प्रांतीय विधान मंडलों के लिए नए सिरे से चुनाव कराए गए। "सामान्य" श्रेणी में कांग्रेस को भारी सफलता मिली। मुसलमानों के लिए आरक्षित सीटों पर मुस्लिम लीग को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। राजनीतिक ध्रुवीकरण पूरा हो चुका था। 1946 की गर्मियों में कैबिनेट मिशन भारत आया। इस मिशन ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग को एक ऐसी संघीय व्यवस्था पर राज़ी करने का प्रयास किया जिसमें भारत के भीतर विभिन्न प्रांतों को सीमित स्वायत्तता दी जा सकती थी। कैबिनेट मिशन का यह प्रयास भी विफल रहा। वार्ता टूट जाने के बाद जिन्ना ने पाकिस्तान की स्थापना के लिए लीग की माँग के समर्थन में एक "प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस" का आह्वान किया। इसके लिए 16 अगस्त, 1946 का दिन तय किया गया था। उसी दिन कलकत्ता में खूनी संघर्ष शुरू हो गया। यह हिंसा कलकत्ता से शुरू होकर ग्रामीण बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रांत व पंजाब तक फैल गई। कुछ स्थानों पर मुसलमानों को तो कुछ अन्य स्थानों पर हिंदुओं को निशाना बनाया गया।

फरवरी 1947 में वावेल की जगह लॉर्ड माउंटबेटन को वायसराय नियुक्त किया गया। उन्होंने वार्ताओं के एक अंतिम दौर का आह्वान किया। जब सुलह के लिए उनका यह प्रयास भी विफल हो गया तो उन्होंने ऐलान कर दिया कि ब्रिटिश भारत को स्वतंत्रता दे दी जाएगी लेकिन उसका विभाजन भी होगा। औपचारिक सत्ता हस्तांतरण के लिए 15 अगस्त का दिन नियत किया गया। उस दिन भारत के विभिन्न भागों में लोगों ने जमकर खुशियाँ मनायीं। दिल्ली में जब संविधान सभा के अध्यक्ष ने मोहनदास करमचंद गाँधी को राष्ट्रपिता की उपाधि देते हुए संविधान सभा की बैठक शुरू की तो "बहुत देर तक करतल ध्वनि" होती रही। असेम्बली के बाहर भीड़ "महात्मा गाँधी की जय" के नारे लगा रही थी।

चित्र 13.13
दायीं ओर जवाहरलाल नेहरू तथा बायीं ओर बैठे सरदार वल्लभ भाई पटेल के साथ विचार-विमर्श करते महात्मा गाँधी।
नेहरू और पटेल कांग्रेस के भीतर दो अलग राजनीतिक प्रवृत्तियों – समाजवादी और रूढ़िवादी – का प्रतिनिधित्व करते थे। महात्मा गाँधी को अकसर इन दोनों समूहों के बीच मध्यस्थता करनी पड़ती थी।

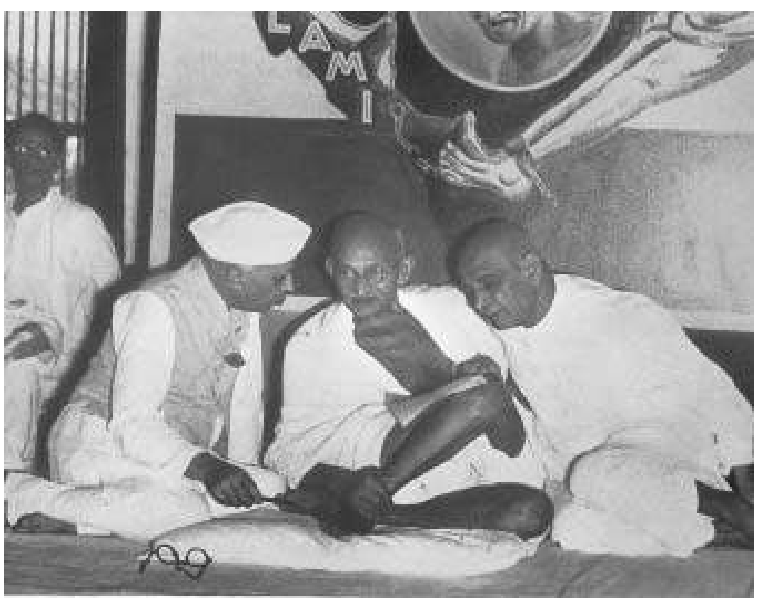

5. आखिरी, बहादुराना दिन

15 अगस्त 1947 को राजधानी में हो रहे उत्सवों में महात्मा गाँधी नहीं थे। उस समय वे कलकत्ता में थे लेकिन उन्होंने वहाँ भी न तो किसी कार्यक्रम में हिस्सा लिया, न ही कहीं झंडा फहराया। गाँधी जी उस दिन 24 घंटे के उपवास पर थे। उन्होंने इतने दिन तक जिस स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया था वह एक अकल्पनीय कीमत पर उन्हें मिली थी। उनका राष्ट्र विभाजित था; हिंदू-मुसलमान एक-दूसरे की गर्दन पर सवार थे।

उनके जीवनी लेखक डी.जी. तेंदुलकर ने लिखा है कि सितंबर और अक्तूबर के दौरान गाँधी जी "पीड़ितों को सांत्वना देते हुए अस्पतालों और शरणार्थी शिविरों के चक्कर लगा रहे थे।" उन्होंने "सिखों, हिंदुओं और मुसलमानों से आह्वान किया कि वे अतीत को भुला कर अपनी पीड़ा पर ध्यान देने की बजाय एक-दूसरे के प्रति भाईचारे का हाथ बढ़ाने तथा शांति से रहने का संकल्प लें...।"

गाँधी जी और नेहरू के आग्रह पर कांग्रेस ने "अल्पसंख्यकों के अधिकारों" पर एक प्रस्ताव पारित कर दिया। कांग्रेस ने "दो राष्ट्र सिद्धांत" को कभी स्वीकार नहीं किया था। जब उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध बँटवारे पर मंजूरी देनी पड़ी तो भी उसका दृढ़ विश्वास था कि "भारत बहुत सारे धर्मों और बहुत सारी नस्लों का देश है और उसे ऐसे ही बनाए रखा जाना चाहिए।" पाकिस्तान में हालात जो रहें, भारत "एक लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र होगा जहाँ सभी नागरिकों को पूर्ण अधिकार प्राप्त होंगे तथा धर्म के आधार पर भेदभाव के बिना सभी को राज्य की ओर से संरक्षण का अधिकार होगा।" कांग्रेस ने आश्वासन दिया कि "वह अल्पसंख्यकों के नागरिक अधिकारों के किसी भी अतिक्रमण के विरुद्ध हर मुमकिन रक्षा करेगी।"

बहुत सारे विद्वानों ने स्वतंत्रता बाद के महीनों को गाँधी जी के जीवन का "श्रेष्ठतम क्षण" कहा है। बंगाल में शांति स्थापना के लिए अभियान चलाने के बाद गाँधी जी दिल्ली आ गए। यहाँ से वे दंगाग्रस्त पंजाब के जिलों में जाना चाहते थे। लेकिन राजधानी में ही शरणार्थियों की आपत्तियों के कारण उनकी सभाएँ अस्त-व्यस्त होने लगीं। बहुत सारे शरणार्थियों को उनकी सभाओं में कुरान की आयतों को पढ़ने की प्रथा पर आपत्ति थी। कई लोग इस बात पर नारे लगाने लगते थे कि गाँधी जी उन हिंदुओं और सिखों की पीड़ा के बारे में बात क्यों नहीं करते जो अभी भी पाकिस्तान में फँसे हुए हैं। डी.जी. तेंदुलकर के शब्दों में, गाँधी जी "पाकिस्तान में भी अल्पसंख्यक समुदाय के कष्टों के बारे में समान रूप से चिंतित थे। उन्हें राहत प्रदान करने के लिए वे वहाँ भी जाना चाहते थे। लेकिन वहाँ वे किस

चित्र 13.14
एक दंगाग्रस्त गाँव में जाते हुए महात्मा गाँधी, 1947

चित्र 13.15

महात्मा गाँधी की मृत्यु, एक प्रचलित चित्र

लोक छवियों में महात्मा गाँधी को एक देवता का रूप दे दिया गया था और उन्हें राष्ट्रवादी आंदोलन में एकीकरण को समर्पित शक्ति के रूप में देखा जाता था। यहाँ आप जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल, यानी कांग्रेस के भीतर दो अलग-अलग धाराओं के प्रतिनिधियों को गाँधी जी की चिता के दोनों ओर खड़ा हुआ देख सकते हैं। मध्य में स्वर्ग से महात्मा गाँधी उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं।

मुँह से जा सकते थे जबकि दिल्ली में ही वे मुसलमानों को पूरी सुरक्षा का आश्वासन नहीं दे पा रहे थे।"

20 जनवरी को गाँधी जी पर हमला हुआ लेकिन वे अविचलित अपना काम करते रहे। 26 तारीख को उन्होंने अपनी प्रार्थना सभा में इस बात का जिक्र किया कि बीते सालों में इस दिन (26 जनवरी) को किस तरह स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाता था। अब स्वतंत्रता मिल चुकी थी, लेकिन उसके शुरुआती महीने गहरे तौर पर मोहभंग वाले साबित हुए। फिर भी उनको विश्वास था कि "बुरी घड़ी बीत चुकी है", भारत के लोग अब "सभी वर्गों और धर्मों की समानता" के लिए काम करेंगे तथा "अल्पसंख्यक समुदाय पर बहुल समुदाय का वर्चस्व व श्रेष्ठता स्थापित नहीं होगी भले ही अल्पसंख्यक समुदाय संख्या या प्रभाव की दृष्टि से कितना भी छोटा क्यों न हो।" उन्होंने यह आशा भी जतायी कि "यद्यपि भौगोलिक और राजनीतिक रूप से भारत दो भागों में बँट चुका है लेकिन हृदय में हम सभी सदैव मित्र एवं भाई रहेंगे, एक-दूसरे को मदद व सम्मान देते रहेंगे और शेष विश्व के लिए हम एक ही होंगे।"

गाँधी जी ने स्वतंत्र और अखंड भारत के लिए जीवन भर युद्ध लड़ा। फिर भी, जब देश विभाजित हो गया तो उनकी यही इच्छा थी कि दोनों देश एक-दूसरे के साथ सम्मान और दोस्ती के संबंध बनाए रखें।

बहुत सारे भारतीयों को उनका यह सहृदय आचरण पसंद नहीं था। 30 जनवरी की शाम को गाँधी जी की दैनिक प्रार्थना सभा में एक युवक ने उनको गोली मारकर मौत की नींद सुला दिया। उनके हत्यारे ने कुछ समय बाद आत्मसमर्पण कर दिया। वह नाथूराम गोडसे नाम का ब्राह्मण था। पुणे का रहने वाला गोडसे एक चरमपंथी हिंदुत्ववादी अखबार का संपादक था। वह गाँधी जी को "मुसलमानों का खुशामदी" कहकर उनकी निंदा करता था।

गाँधी जी की मृत्यु से चारों ओर गहरे शोक की लहर दौड़ गई। भारत भर के राजनीतिक फलक पर उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि दी गई। जॉर्ज ऑरवेल तथा एलबर्ट आइंस्टीन जैसे विख्यात गैर-भारतीयों ने भी उनकी मृत्यु पर हृदयस्पर्शी शब्दों में शोक संदेश भेजे। एक ज़माने में उनकी कद-काठी और कथित रूप से बेतुके विचारों के लिए गाँधी जी का उपहास करने वाली *टाइम* पत्रिका ने उनके बलिदान की तुलना अब्राहम लिंकन के बलिदान से की। पत्रिका ने कहा कि एक धर्मांध अमेरिकी ने लिंकन को मार दिया था क्योंकि उन्हें नस्ल या रंग से परे मानवमात्र की समानता में विश्वास था और दूसरी तरफ एक धर्मांध हिंदू ने गाँधी जी की जीवन लीला समाप्त कर दी क्योंकि गाँधी जी ऐसे कठिन क्षणों में भी दोस्ती और भाईचारे में विश्वास रखते थे, विभिन्न धर्मों को मानने वालों के बीच दोस्ती की अनिवार्यता पर बल देते थे। *टाइम* ने लिखा, "दुनिया जानती थी कि उसने उनकी (गाँधी जी की) मृत्यु पर वैसे ही मौन धारण कर लिया है जिस प्रकार उसने लिंकन की मृत्यु पर किया था, और यह समझना एक मायने में बहुत गहरा और बहुत साधारण काम है।"

6. गाँधी को समझना

हमारे पास बहुत सारे स्रोत उपलब्ध हैं जिनके जरिए हम गाँधी जी के राजनीतिक सफर तथा राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास को सूत्रबद्ध कर सकते हैं।

6.1 सार्वजनिक स्वर और निजी लेखन

इस दिशा में महात्मा गाँधी और उनके सहयोगियों व प्रतिद्वंद्वियों, दोनों तरह के समकालीनों के लेखन और भाषण एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इन लेखनों में हमें इस बात का खयाल रखना चाहिए कि किस चीज को जनता के लिए लिखा गया था और किस चीज को अन्य उद्देश्यों के लिए लिखा गया था। उदाहरण के लिए, भाषणों से हमें किसी व्यक्ति के सार्वजनिक विचारों को सुनने का मौका मिलता है जबकि उसके व्यक्तिगत पत्र हमें उसके निजी विचारों की झलक देते हैं। इन पत्रों में हम लिखने वाले को अपना गुस्सा और पीड़ा, असंतोष और बेचैनी, अपनी आशाएँ और हताशाएँ व्यक्त करते हुए देख सकते हैं। इनमें से बहुत सारी बातों को वह अपने सार्वजनिक वक्तव्यों में व्यक्त नहीं कर सकते। लेकिन हमें यह भी याद रखना चाहिए कि कई बार निजी-सार्वजनिक का यह फर्क टूट जाता है। बहुत सारे पत्र व्यक्तियों को लिखे जाते हैं इसलिए वे व्यक्तिगत पत्र होते हैं लेकिन कुछ हद तक वे जनता के लिए भी होते हैं। उन पत्रों की भाषा इस अहसास से भी तय होती है कि संभव है एक दिन उन्हें प्रकाशित कर दिया जाएगा। किसी पत्र के प्रकाशित हो जाने की आशंका के कारण बहुधा लोग निजी पत्रों में भी अपना मत स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त नहीं कर पाते। महात्मा गाँधी *हरिजन* नामक अपने अखबार में उन पत्रों को प्रकाशित करते थे जो उन्हें लोगों से मिलते थे। नेहरू ने राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान उन्हें लिखे गए पत्रों का एक संकलन तैयार किया और उसे *ए बंच ऑफ ओल्ड लेटर्स* (पुराने पत्रों का पुलिंदा) के नाम से प्रकाशित किया।

स्रोत 7

एक घटना पत्रों के आइने में

1920 के दशक में जवाहरलाल नेहरू समाजवाद से लगातार प्रभावित होते जा रहे थे और 1928 में जब वे यूरोप की यात्रा से लौटे तो सोवियत संघ के प्रयोगों से गहरे तौर से प्रभावित थे। जब उन्होंने समाजवादियों (जयप्रकाश नारायण, नरेन्द्र देव, एन.जी. रंगा एवं अन्य) के साथ घनिष्ठतापूर्वक काम करना शुरू किया तो कांग्रेस के भीतर समाजवादियों और रूढ़िवादियों के बीच एक खाई पैदा हो गई। 1936 में कांग्रेस का अध्यक्ष बनने के बाद नेहरू ने फ़ासीवाद के खिलाफ़ जमकर बयान दिए और मजदूरों व किसानों की माँगों का समर्थन किया।

नेहरू के समाजवादी वक्तव्यों से चिंतित रूढ़िवादियों ने राजेन्द्र प्रसाद और सरदार पटेल के नेतृत्व में कांग्रेस वर्किंग कमेटी से इस्तीफ़े की धमकी दे डाली। दूसरी ओर, बम्बई के कुछ प्रसिद्ध उद्योगपतियों ने नेहरू की आलोचना करते हुए बयान जारी कर दिया। इसके बाद प्रसाद और नेहरू, दोनों महात्मा गाँधी के पास गए और वर्धा स्थित उनके आश्रम में उनसे मिले। गाँधी जी ने एक बार फिर मध्यस्थ की भूमिका अदा करते हुए नेहरू के रेडिकल तेवरों पर अंकुश लगाने तथा प्रसाद एवं अन्य नेताओं को नेहरू के नेतृत्व की अहमियत पर ध्यान देने के लिए प्रेरित किया।

ए बंच ऑफ ओल्ड लेटर्स में नेहरू ने उस समय के बहुत सारे पत्रों को प्रकाशित किया है। इन पत्रों के अंशों को आगे पढ़िए:

स्रोत 7 जारी...

ए बंच ऑफ लेटर्स से

मेरे प्रिय जवाहरलाल जी, ***वर्धा, 1 जुलाई 1936***

कल आपसे विदा लेने के बाद हमने महात्मा जी के साथ लंबी बातचीत और आपस में देर तक चर्चा की। हम समझते हैं कि आपको हमारी ओर से अपनाए गए मार्ग पर काफी दुख है और हमारे पत्र के भावों से आप विशेषत: आहत हुए हैं। आपको शर्मिंदा करना या आपको चोट पहुँचाना कभी भी हमारा इरादा नहीं था और अगर आपको ऐसा लगता है कि इससे आपको ठेस पहुँची है तो हम बिना किसी हिचक के अपना पत्र वापस ले लेते या उसमें संशोधन कर लेते। परंतु हमने समग्र स्थिति पर पुनर्विचार करने के बाद यह पत्र तथा अपने इस्तीफे वापस लेने का फैसला कर लिया है।

हमें लगता है कि प्रेस में छपे आपके सारे बयानों में आप कांग्रेस के सामान्य कार्यक्रम पर उतना नहीं बोल रहे हैं जितना कि एक ऐसे विषय पर बोल रहे हैं जिसे कांग्रेस ने स्वीकृति नहीं दी है और ऐसा करते हुए आप वर्किंग कमेटी में हमारे मुट्ठी भर सहयोगियों और कांग्रेस के अल्पसंख्यक वर्ग के प्रवक्ता की तरह बोल रहे हैं न कि बहुल वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में, जिसकी कांग्रेस अध्यक्ष के नाते हमें आपसे अपेक्षा थी।

हमारे विरुद्ध लगातार एक अभियान चलाया जा रहा है जिसमें हमें ऐसे व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिनका समय बीत चुका है, जो पुराने पड़ चुके और वर्तमान में अप्रासंगिक हो चुके विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमें ऐसे लोगों के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है जो देश की प्रगति में बाधक हैं और जिन्हें उन पदों से हटा दिया जाना चाहिए जो उन्होंने अनाधिकार प्राप्त कर लिए हैं... हमने महसूस किया है कि अन्य लोगों ने हमारे साथ भारी अन्याय किया है और कर रहे हैं, तथा हमें आपसे वह संरक्षण नहीं मिल रहा है जो एक सहकर्मी और हमारा अध्यक्ष होने के नाते हमें आपसे मिलना चाहिए...।

आपका
राजेन्द्र प्रसाद

मेरे प्रिय बापू, ***इलाहाबाद, 5 जुलाई 1936***

मैं कल रात ही यहाँ पहुँचा हूँ। जब से मैं वर्धा से आया हूँ, शारीरिक दुर्बलता और मानसिक अशांति से घिरा हुआ हूँ।

... यूरोप से लौटने के बाद से मैंने पाया है कि वर्किंग कमेटी की बैठकों में मैं बुरी तरह थक जाता हूँ। मेरी ऊर्जा क्षीण पड़ जाती है और हर नए अनुभव के बाद मैं और ज्यादा बूढ़ा महसूस करने लगता हूँ...।

चीजों को दुरुस्त करने और संकट को टालने में आपने जो कष्ट उठाया है उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ।

मैंने राजेन्द्र बाबू द्वारा भेजा गया (दूसरा) पत्र दोबारा पढ़ा है और उन्होंने जो गंभीर आरोप मुझ पर लगाए हैं उन्हें देखा है...।

तथ्य को चाहे कितनी भी विनम्रता से प्रस्तुत किया जाए, उनका आशय यह है कि मैं एक असहनीय मुसीबत बन चुका हूँ और मेरे जो भी गुण हैं – थोड़ी-बहुत क्षमता, ऊर्जा, गंभीरता, कमोबेश प्रभावित करने वाला व्यक्तित्व – सभी खतरनाक बन चुके हैं क्योंकि वे एक गलत रथ (समाजवाद) को आगे बढ़ा रहे हैं। इन बातों के निष्कर्ष स्पष्ट हैं।

मैंने अपनी पुस्तक में और उसके पश्चात भी अपने वर्तमान विचारों के बारे में विस्तार से लिखा है। मेरे बारे में कोई फैसला लेने के लिए सामग्री की कमी नहीं है। मेरे वे विचार आकस्मिक भी नहीं हैं। वे मेरा हिस्सा हैं और यद्यपि मैं भविष्य में उन्हें बदल सकता हूँ लेकिन जब तक मैं उन्हें नहीं छोड़ता मुझे उनको अभिव्यक्त करना ही होगा। क्योंकि मैं व्यापक एकता को महत्वपूर्ण मानता हूँ इसलिए मैंने कोमलतम शब्दों में उन्हें व्यक्त किया है और निश्चित निष्कर्ष की बजाय विचार-विमर्श के लिए प्रस्ताव के रूप में ही ज्यादा प्रस्तुत किया है। मुझे इस पद्धति में और कांग्रेस जो कुछ भी कर रही है, उसके बीच कोई टकराव दिखाई नहीं देता। जहाँ तक चुनावों का संबंध है, मेरा मानना है कि मेरा रवैया इस दिशा में निश्चय ही एक लाभकारी साधन था क्योंकि उससे जनता में उत्साह का संचार हुआ है। परंतु मेरे कोमल और अस्पष्ट रवैये को मेरे सहयोगी खतरनाक और क्षतिकारक मानते हैं। मुझे यहाँ तक कहा गया है कि भारत में गरीबी और बेरोजगारी पर इस तरह बार-बार जोर देना बेवकूफी थी, या कम से कम यह गलत तो था ही...।

आपने मुझे बताया था कि आप कोई वक्तव्य जारी करना चाहते हैं। मैं आपके वक्तव्य का स्वागत करूँगा क्योंकि मैं मानता हूँ कि हर दृष्टिकोण देश के सामने प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

प्रेमपूर्वक आपका
जवाहरलाल

स्रोत 7 जारी...

प्रिय जवाहरलाल, ***सेगाँव, 15 जुलाई 1936***

तुम्हारा पत्र मेरा हृदय छू गया। तुम्हें सबसे ज्यादा ठेस महसूस हुई है। तथ्य यह है कि तुम्हारे साथियों के पास तुम्हारे जैसा साहस और बेबाकी नहीं है। इसके परिणाम विनाशकारी रहे हैं। मैंने उन्हें हमेशा समझाया है कि वे तुमसे उन्मुक्त और निर्भय होकर बात करें। परंतु क्योंकि उनके पास साहस नहीं है इसलिए वे जब भी बोलते हैं ऊटपटाँग ही बोलते हैं और उससे तुम चिढ़ जाते हो। मैं तुम्हें बताता हूँ, वे तुम्हें इसलिए डरा रहे हैं क्योंकि तुम उनसे चिढ़ जाते हो और उनके सामने धैर्य खो देते हो। वे तुम्हारी फटकार और साहबी अंदाज से आहत हैं और सबसे बढ़कर वे तुम्हारे भीतर जो अचूकता और श्रेष्ठतर ज्ञान का भाव दिखायी देता है उससे परेशान हैं। उन्हें लगता है कि तुमने उनके साथ न्यूनतम सौम्यता का व्यवहार भी नहीं किया है और कभी भी समाजवादियों के व्यंग्यबाणों या गलत निरूपण से उनका बचाव नहीं किया है।

मुझे यह पूरा प्रसंग एक त्रासद प्रहसन जैसा दिखाई दे रहा है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम भी इस पूरे मसले को हलका होकर देखो।

इस काँटों के ताज (कांग्रेस की अध्यक्षता) के लिए तुम्हारा नाम मैंने ही प्रस्तावित किया था। भले ही सिर छिल जाए इसे उतारना मत। कमेटी की बैठकों में अपना हास्य-विनोद दोबारा दिखाओ। यह तुम्हारे लिए सबसे सामान्य भूमिका है। चिंतित, चिड़चिड़े व्यक्ति का स्वभाव तुम पर नहीं जँचता।

मैं चाहता हूँ कि तुम मुझे तार के माध्यम से बताओ कि यह पत्र पढ़ते ही तुम्हें वैसी ही खुशी मिली है जैसे लाहौर में नए साल के मौके पर तुम खुश हुए थे जब, कहते हैं कि तुम तिरंगे के चारों ओर झूम-झूम कर नाचे थे।
अपने कंठ को थोड़ा आराम दो।

मेरा प्यार
बापू

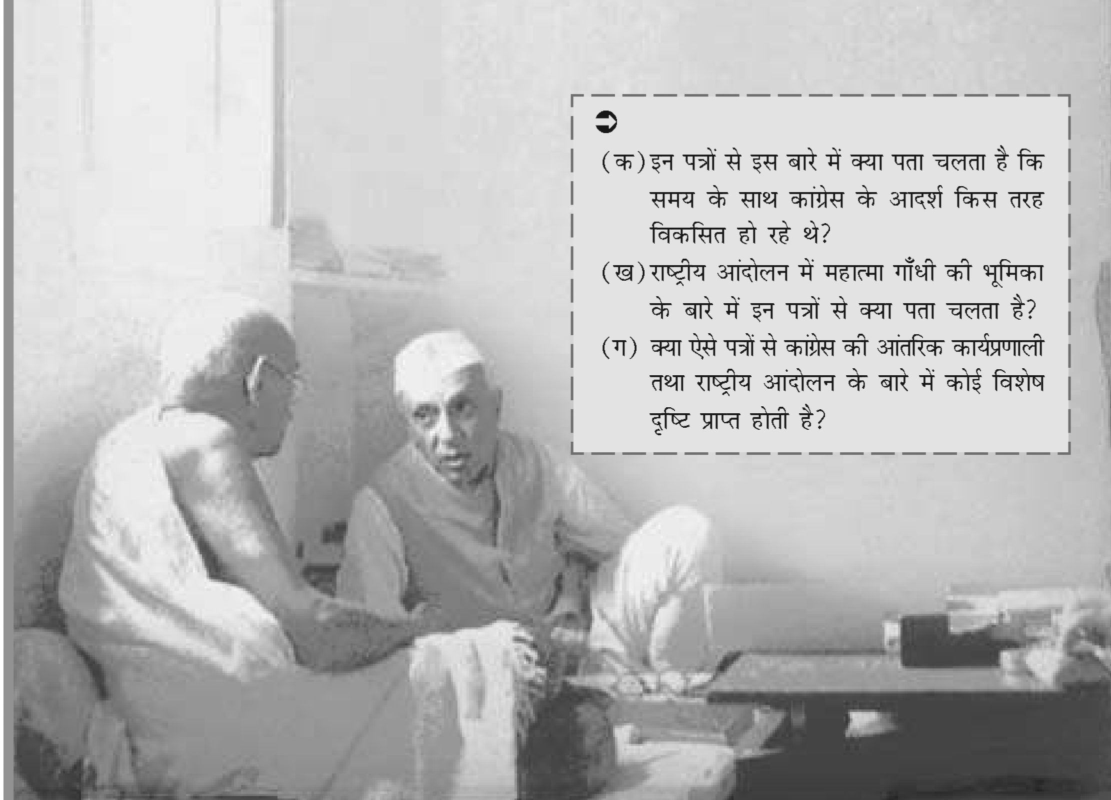

➲

(क) इन पत्रों से इस बारे में क्या पता चलता है कि समय के साथ कांग्रेस के आदर्श किस तरह विकसित हो रहे थे?

(ख) राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गाँधी की भूमिका के बारे में इन पत्रों से क्या पता चलता है?

(ग) क्या ऐसे पत्रों से कांग्रेस की आंतरिक कार्यप्रणाली तथा राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में कोई विशेष दृष्टि प्राप्त होती है?

6.2 छवि गढ़ना

आत्मकथाएँ भी हमें उस अतीत का ब्योरा देती हैं जो मानवीय विवरणों के हिसाब से काफ़ी समृद्ध होता है। परंतु यहाँ भी हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम आत्मकथाओं को किस तरह पढ़ते हैं और उनकी कैसे व्याख्या करते हैं। हमें यह याद रखना चाहिए कि ये आत्मकथाएँ प्राय: स्मृति के आधार पर लिखी गई होती हैं। उनसे हमें पता चलता है कि लिखने वाले को क्या याद रहा, उसे कौन सी चीजें महत्त्वपूर्ण दिखाई दीं या वह क्या याद रखना चाहता था, या वह औरों की नज़र में अपनी ज़िंदगी को किस तरह दर्शाना चाहता है। आत्मकथा लिखना अपनी तसवीर गढ़ने का एक तरीक़ा है। फलस्वरूप, इन विवरणों को पढ़ते हुए हमें वह देखने का प्रयास करना चाहिए जो लेखक हमें नहीं दिखाना चाहता : हमें उन चुप्पियों का कारण समझना चाहिए – इच्छित या अनिच्छित विस्मृति के उन कृत्यों को समझना चाहिए।

6.3 पुलिस की नज़र से

औपनिवेशिक शासक ऐसे तत्वों पर हमेशा कड़ी नजर रखते थे जिन्हें वे अपने विरुद्ध मानते थे। इस लिहाज से सरकारी रिकॉर्ड्स भी हमारे अध्ययन के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। उस समय पुलिसकर्मियों तथा अन्य अधिकारियों द्वारा लिखे गए पत्र तथा रिपोर्टें गोपनीय होती थीं; लेकिन अब ये दस्तावेज़ अभिलेखागारों में उपलब्ध हैं जिन्हें कोई भी देख सकता है।

आइए एक ऐसे ही स्रोत को देखें। बीसवीं सदी के शुरुआती सालों से गृह विभाग द्वारा तैयार की जाने वाली पाक्षिक रिपोर्टें (हर पंद्रह दिन या हर पखवाड़े में तैयार होने वाली रिपोर्टें) इस दिशा में काफ़ी महत्त्वपूर्ण रही हैं। ये रिपोर्टें स्थानीय इलाक़ों से पुलिस की मार्फ़त मिलने वाली सूचनाओं पर आधारित होती थीं लेकिन उनमें यह भी दिख जाता था कि आला अधिकारी क्या देखते थे या क्या मानना चाहते थे। राजद्रोह और विद्रोह की संभावना मानते हुए भी वे खुद को इस बात का आश्वासन देना चाहते थे कि इन आशंकाओं का कोई आधार नहीं है। यदि आप नमक सत्याग्रह के समय की पाक्षिक रिपोर्टों को देखें तो पाएँगे कि गृह विभाग यह मानने को तैयार नहीं था कि महात्मा गाँधी की कार्रवाइयों के प्रति कोई व्यापक जनसमर्थन पैदा हो रहा था। रिपोर्टों में इस यात्रा को एक नाटक, एक करतब, ब्रिटिश शासन के खिलाफ आवाज उठाने के प्रति अनिच्छुक तथा शासन के अंतर्गत सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे लोगों को गोलबंद करने की एक हताश कोशिश के रूप में प्रस्तुत किया जाता था।

चित्र 13.16
सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान बम्बई में कांग्रेस के वॉलंटियरों की पुलिस से भिड़ंत।

➲ क्या आपको इस तसवीर और पुलिस की पाक्षिक रिपोर्टों में दी गई जानकारियों के बीच कोई अंतर्विरोध दिखायी देता है?

स्रोत 8

गृह विभाग की पाक्षिक रिपोर्टें
(गोपनीय)

मार्च 1930 का पहला पखवाड़ा

गुजरात में आ रहे तेज़ राजनीतिक बदलावों पर यहाँ गहरी नज़र रखी जा रही है। इनसे प्रांत की राजनीतिक परिस्थितियों पर किस हद तक और क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका अभी अंदाजा लगाना मुश्किल है। रबी की फसल अच्छी हुई है इसलिए फिलहाल किसान फसलों की कटाई में व्यस्त हैं। विद्यार्थी आने वाली परीक्षाओं की तैयारी में जुटे हैं।

मध्य प्रांत और बेरार

श्री वल्लभ भाई पटेल की गिरफ़्तारी पर कांग्रेसियों के अलावा और कहीं कोई खास उत्तेजना पैदा नहीं हुई। लेकिन नागपुर नगर कांग्रेस कमेटी द्वारा गाँधी की यात्रा शुरू होने पर उन्हें बधाई देने के लिए आयोजित सभा में 3,000 से ज्यादा लोग जुटे थे।

बंगाल

गाँधी के सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत पिछले पखवाड़े की सबसे महत्वपूर्ण घटना रही। श्री जे.एम. सेनगुप्ता ने अखिल बंगाल सविनय अवज्ञा परिषद् का गठन किया है। बंगाल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने अखिल बंगाल अवज्ञा परिषद् बनाई है। इन परिषदों के गठन के अलावा बंगाल में सविनय अवज्ञा के प्रश्न पर और कोई सक्रिय कदम अभी नहीं उठाया गया है।

जिलों से मिली रिपोर्टों से पता चलता है कि जो बैठकें आयोजित की गई उनमें लोगों ने कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया और आम जनता पर कोई गहरा असर नहीं छोड़ा है। गौरतलब बात यह है कि इन बैठकों में महिलाओं की संख्या बढ़ती जा रही है।

बिहार और उड़ीसा

कांग्रेस की गतिविधि के बारे में रिपोर्ट करने लायक कुछ खास नहीं है। चौकीदारी टैक्स का भुगतान न करने के बारे में एक अभियान की काफी चर्चा हो रही है लेकिन अभी इस प्रयोग के लिए किसी इलाके का चुनाव नहीं किया गया है। गाँधी की गिरफ़्तारी के बारे में खूब कयास लगाए जा रहे हैं लेकिन ऐसा लगता है कि यह भविष्यवाणी सच साबित न हो पाने के कारण उनकी योजनाएँ धरी की धरी रह गई हैं।

मद्रास

गाँधी का सविनय अवज्ञा अभियान शुरू होने से बाकी मुद्दे हाशिये पर चले गए हैं। आम जनता उनकी यात्रा को नाटकीय और उनके कार्यक्रम को अव्यावहारिक मानती है परंतु क्योंकि हिंदू जनता उन्हें अगाध श्रद्धा की दृष्टि से देखती है इसलिए गिरफ़्तारी की संभावना, जिसके बारे में वे खुद बहुत उत्सुक हैं, और उसके राजनीतिक प्रभावों के बारे में काफी गलतफहमियाँ फैली हुई हैं।

12 मार्च को सविनय अवज्ञा अभियान के उद्घाटन दिवस के रूप में मनाया गया। बंबई में सुबह को राष्ट्रीय झंडे को सलामी दी गई।

बम्बई

केसरी प्रेस ने आक्रामक भाषा का प्रयोग किया है और हमेशा की तरह आग उगलने के अंदाज में लिखा है : "अगर सरकार सत्याग्रह की ताकत परखना चाहती है तो उसे पता होना चाहिए कि सत्याग्रह की सक्रियता और निष्क्रियता, दोनों से सरकार को ही नुकसान पहुँचेगा। यदि सरकार गाँधी जी को गिरफ़्तार करती है तो उसे राष्ट्र के कोप का भाजन बनना पड़ेगा और यदि सरकार ऐसा नहीं करती है तो सविनय अवज्ञा आंदोलन फैलता जाएगा। इसलिए हमारा मानना है कि अगर सरकार श्री गाँधी को दंडित करती है तो भी राष्ट्र की विजय होगी और अगर सरकार उन्हें अपने रास्ते पर चलने देती है तो राष्ट्र की और भी बड़ी विजय होगी।"

दूसरी ओर *विविध वृत्त* नामक मध्यमार्गी अखबार ने इस आंदोलन की व्यर्थता की ओर संकेत किया है और कहा है कि यह आंदोलन अपना घोषित उद्देश्य प्राप्त नहीं कर पाया है लेकिन उसने सरकार को भी चेतावनी दी है कि दमन का रास्ता उसके उद्देश्य को कमजोर कर देगा।

जारी...

स्रोत 8 जारी...

मार्च 1930 का दूसरा पखवाड़ा

बंगाल

सबका ध्यान समुद्र तट तक गाँधी की यात्रा और सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने के लिए उनकी तैयारी पर केंद्रित है। चरमपंथी अखबार उनकी गतिविधियों और भाषणों के बारे में विस्तार से लिख रहे हैं और पूरे बंगाल में हो रही बैठकों तथा उनमें पारित होने वाले प्रस्तावों के बारे में विस्तार से जानकारी दी जा रही है। परंतु गाँधी जिस सविनय अवज्ञा की वकालत कर रहे हैं उसके प्रति विशेष उत्साह नहीं दिखाई देता...।

सामान्य रूप से लोग इस बात का इंतजार कर रहे हैं कि गाँधी के साथ क्या किया जाता है और संभावना यही है कि अगर उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई की गई तो बंगाल के ज्वलनशील हालात में चिंगारी भड़क उठेगी। लेकिन फिलहाल ऐसी आग भड़कने के कोई गंभीर आसार दिखाई नहीं देते।

मध्य प्रांत और बेरार

12 मार्च को गाँधी की यात्रा शुरू होने के अवसर पर नागपुर में इन बैठकों में काफी लोग शामिल हुए और ज्यादातर स्कूल-कॉलेज सूने दिखाई दिए।

शराब की दुकानों का बहिष्कार तथा वन क़ानूनों का उल्लंघन हमले की सबसे संभावित कार्यदिशा दिखाई पड़ती है।

पंजाब

ऐसा लगता है कि झेलम जिले में नमक क़ानून तोड़ने के लिए संगठित प्रयास किए जाएँगे; मुल्तान में जल कर न चुकाने के आंदोलन को पुनर्जीवित किया जाएगा; संभवत: गुजराँवाला में राष्ट्रीय झंडे के संबंध में कोई आंदोलन शुरू हो सकता है।

संयुक्त प्रांत

पिछले पखवाड़े के दौरान राजनीतिक गतिविधियों में निश्चित रूप से तेज़ी आई है। कांग्रेस पार्टी का मानना है कि जनता की रुचि बनाए रखने के लिए उसे कुछ अनोखा काम करना चाहिए। श्री गाँधी के आदेश पर वॉलंटियरों की भर्ती, गाँवों में प्रचार और नमक क़ानून के उल्लंघन की तैयारी जैसी गतिविधियाँ कई जिलों से आ रही हैं।

अप्रैल 1930 का पहला पखवाड़ा

संयुक्त प्रांत

इस पखवाड़े में चीजें बहुत तेज़ी से आगे बढ़ी हैं। राजनीतिक सभाओं, जुलूसों और वॉलंटियरों की भर्ती के अलावा आगरा, कानपुर, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, मेरठ, रायबरेली, फर्रुखाबाद, इटावा, बलिया और मैनपुरी में नमक कानून की खुलेआम अवहेलना की जा रही है।

चेवकी रेलवे स्टेशन पर पंडित जवाहरलाल नेहरू को 14 अप्रैल की सुबह गिरफ़्तार कर लिया गया था। उस समय वह यूथ लीग की बैठक में शामिल होने मध्य प्रांतों की ओर जा रहे थे। उन्हें रेलवे स्टेशन से फौरन नैनी सेंट्रल जेल ले जाया गया। वहाँ उन पर मुकदमा चला और उन्हें 6 माह के साधारण कारावास की सजा दी गई।

बिहार और उड़ीसा

कुछ स्थानों पर गैरक़ानूनी नमक उत्पादन के अनोखे, मगर छोटे प्रयास हो रहे हैं...।

मध्य प्रांत

जबलपुर में सेठ गोविंद दास ने रासायनिक नमक बनाने का प्रयास किया है जिसकी लागत सामान्य नमक के बाजार भाव से कई गुना ज्यादा रही।

मद्रास

जब पुलिस ने समुद्र के पानी को उबालकर बनाए गए नमक को जब्त करने का प्रयास किया तो विशाखापटनम में पुलिस को भारी विरोध का सामना करना पड़ा। अन्य स्थानों पर अवैध नमक को जब्त करने का कोई खास विरोध नहीं किया गया है।

बंगाल

मुफ़स्सिल इलाकों में अवैध नमक निर्माण की कोशिशें की गई हैं। 24 परगना और मिदनापुर जिले इन गतिविधियों का मुख्य केंद्र रहे हैं।

वास्तव में बहुत कम नमक बनाया गया है और उसमें से भी ज़्यादातर जब्त कर लिया गया है। उसको बनाने के लिए प्रयोग किए गए बर्तनों को नष्ट कर दिया गया।

➲ पाक्षिक रिपोर्टों को ध्यान से पढ़िए। याद रखिए कि ये औपनिवेशिक गृह विभाग की गोपनीय रिपोर्टों के अंश हैं। इन रिपोर्टों में हमेशा केवल पुलिस की ओर से भेजी गई जानकारियों को ही नहीं लिखा जाता था।

(1) स्रोत की पृष्ठभूमि से यह बात किस हद तक प्रभावित होती है कि इन रिपोर्टों में क्या कहा जा रहा है? उपरोक्त अंशों से उद्धरण लेते हुए अपने तर्क को स्पष्ट कीजिए।

(2) क्या आपको लगता है कि गृह विभाग महात्मा गाँधी की संभावित गिर.फ्तारी के बारे में लोगों की सोच को अपनी रिपोर्टों में सही ढंग से दर्ज नहीं कर रहा था? यदि आपका उत्तर हाँ है, तो उसके समर्थन में कारण बताइए। 5 अप्रैल 1930 को दांडी में अपने भाषण में गाँधी जी ने गिरफ़्तारियों के सवाल पर जो कहा था, उसे दोबारा पढ़िए।

(3) महात्मा गाँधी को क्यों गिर.फ्तार नहीं किया गया?

(4) गृह विभाग लगातार यह क्यों कहता रहा कि दांडी यात्रा के प्रति लोगों में कोई उत्साह नहीं है।

6.4 अखबारों से

अंग्रेज़ी तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में छपने वाले समकालीन अख़बार भी एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं जो महात्मा गाँधी की गतिविधियों पर नजर रखते थे और उनके बारे में ख़बरें छापते थे। ये अख़बार इस बात का भी संकेत देते हैं कि आम भारतीय उनके बारे में क्या सोचते थे। लेकिन अख़बारी ब्योरों को पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं माना जाना चाहिए। ये अख़बार प्रकाशित करने वाले ऐसे लोग थे जिनकी अपनी राजनीतिक सोच और विश्व दृष्टिकोण था। उनके विचारों से ही यह तय होता था कि क्या प्रकाशित किया जाएगा और घटनाओं की रिपोर्टिंग किस तरह की जाएगी। इसलिए लंदन से निकलने वाले अख़बार के विवरण भारतीय राष्ट्रवादी अख़बार में छपने वाली रिपोर्टों जैसे नहीं हो सकते थे।

हमें इन रिपोर्टों को देखना तो चाहिए लेकिन उनके आधार पर नतीजे निकालते हुए खास अहतियात भी बरतनी चाहिए। इन अखबारों के हर वक्तव्य को यथार्थ घटनाक्रम का शब्दश: सच ब्योरा नहीं माना जा सकता। अकसर उनमें ऐसे अफसरों की आशंकाओं और बेचैनियों की झलक भी मिलती है जो किसी आंदोलन को नियंत्रित नहीं कर पा रहे थे और उसके प्रसार के बारे में बेचैन थे। उन्हें समझ में नहीं आता था कि महात्मा गाँधी को गिरफ़्तार करना चाहिए या नहीं, अथवा गिर.फ्तारी का क्या परिणाम होगा। औपनिवेशिक सरकार, जनता और उसकी गतिविधियों पर जितनी नजर रखती थी, अपने शासन के आधार के बारे में उसकी चिंता उतनी ही बढ़ती जाती थी।

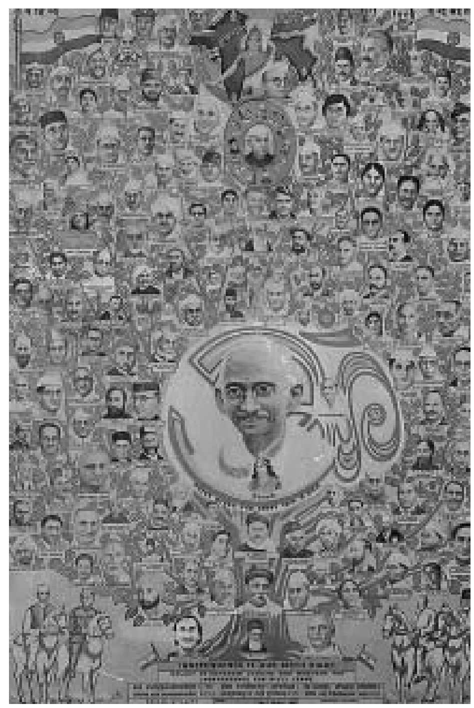

चित्र 13.17
इस तरह के चित्रों से यह प्रदर्शित होता है कि महात्मा गाँधी के बारे में लोगों की समझ क्या थी और लोकप्रिय छापों में उन्हें कैसे व्यक्त किया जाता था। राष्ट्रवाद के वृक्ष में महात्मा गाँधी केंद्र में छाया के रूप में दिख रहे हैं तथा उनमें चारों ओर अन्य नेताओं और मनीषियों के चित्र हैं।

काल-रेखा

1915	महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका से लौटते हैं
1917	चंपारन आंदोलन
1918	खेड़ा (गुजरात) में किसान आंदोलन तथा अहमदाबाद में मजदूर आंदोलन
1919	रॉलट सत्याग्रह (मार्च-अप्रैल)
1919	जलियांवाला बाग हत्याकांड (अप्रैल)
1921	असहयोग आंदोलन और खिलाफ़त आंदोलन
1928	बारदोली में किसान आंदोलन
1929	लाहौर अधिवेशन (दिसंबर) में "पूर्ण स्वराज" को कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया जाता है
1930	सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू; दांडी यात्रा (मार्च-अप्रैल)
1931	गाँधी-इर्विन समझौता (मार्च); दूसरा गोल मेज सम्मेलन (दिसंबर)
1935	गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट में सीमित प्रातिनिधिक सरकार के गठन का आश्वासन
1939	कांग्रेस मंत्रिमंडलों का त्यागपत्र
1942	भारत छोड़ो आंदोलन शुरू (अगस्त)
1946	महात्मा गाँधी साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने के लिए नोआखली तथा अन्य हिंसाग्रस्त इलाक़ों का दौरा करते हैं

उत्तर दीजिए (लगभग 100 से 150 शब्दों में)

1. महात्मा गाँधी ने खुद को आम लोगों जैसा दिखाने के लिए क्या किया?
2. किसान महात्मा गाँधी को किस तरह देखते थे?
3. नमक कानून स्वतंत्रता संघर्ष का महत्त्वपूर्ण मुद्दा क्यों बन गया था?
4. राष्ट्रीय आंदोलन के अध्ययन के लिए अख़बार महत्त्वपूर्ण स्रोत क्यों हैं?
5. चरखे को राष्ट्रवाद का प्रतीक क्यों चुना गया?

निम्नलिखित पर एक लघु निबंध लिखिए (लगभग 250 से 300 शब्दों में)

6. असहयोग आंदोलन एक तरह का प्रतिरोध कैसे था?
7. गोल मेज सम्मेलन में हुई वार्ता से कोई नतीजा क्यों नहीं निकल पाया?
8. महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीय आंदोलन के स्वरूप को किस तरह बदल डाला?
9. निजी पत्रों और आत्मकथाओं से किसी व्यक्ति के बारे में क्या पता चलता है? ये स्रोत सरकारी ब्योरों से किस तरह भिन्न होते हैं?

मानचित्र कार्य

10. दाण्डी मार्च के मार्ग का पता लगाइए। गुजरात के नक्शे पर इस यात्रा के मार्ग को चिह्नित कीजिए और उस पर पड़ने वाले मुख्य शहरों व गाँवों को चिह्नित कीजिए।

परियोजना कार्य (कोई एक)

11. दो राष्ट्रवादी नेताओं की आत्मकथाएँ पढ़िए। देखिए कि उन दोनों में लेखकों ने अपने जीवन और समय को किस तरह अलग-अलग प्रस्तुत किया है और राष्ट्रीय आंदोलन की किस प्रकार व्याख्या की है। देखिए कि उनके विचारों में क्या भिन्नता है। अपने अध्ययन के आधार पर एक रिपोर्ट लिखिए।
12. राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान घटी कोई एक घटना चुनिए। उसके विषय में तत्कालीन नेताओं द्वारा लिखे गए पत्रों और भाषणों को खोज कर पढ़िए। उनमें से कुछ अब प्रकाशित हो चुके हैं। आप जिन नेताओं को चुनते हैं उनमें से कुछ आपके इलाके के भी हो सकते हैं। उच्च स्तर पर राष्ट्रीय नेतृत्व की गतिविधियों को स्थानीय नेता किस तरह देखते थे इसके बारे में जानने की कोशिश कीजिए। अपने अध्ययन के आधार पर आंदोलन के बारे में लिखिए।

यदि आप और जानकारी चाहते हैं तो इन्हें पढ़िए :

शेखर बंद्योपाध्याय, 2004
फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन : ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया, ऑरिएंट लाँगमैन, नयी दिल्ली

सर्वपल्ली गोपाल, 1975
जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्राफी, खंड I, 1889-1947, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली

डेविड हार्डीमान, 2003
गाँधी इन हिज़ टाइम एंड आवर्स, पर्मानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली

ज्ञानेन्द्र पांडेय, 1978
दि असेंडेंसी ऑफ द कांग्रेस इन उत्तर प्रदेश, 1926-34, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली

सुमित सरकार, 1983
मॉडर्न इंडिया, 1885-1947, मैक्मिलन, नयी दिल्ली

***कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी* के लिए आप निम्नलिखित वेबसाइट देख सकते हैं**

http:/www.gandhiserve.org/cwmg/cwmg.html

अध्याय
चौदह

विभाजन को समझना
राजनीति, स्मृति, अनुभव

चित्र 14.1
विभाजन की वजह से लाखों लोग उजड़ गए, 'शरणार्थी' बनकर रह गए। उनको अपनी रेशा-रेशा जिंदगी नए सिरे से बुननी पड़ी।

हमें पता है कि 1947 में हमारी आज़ादी से जुड़ी ख़ुशी विभाजन की हिंसा और बर्बरता से बदरंग पड़ गई थी। ब्रिटिश-भारत के दो संप्रभु राज्यों, भारत और पाकिस्तान (जिसके पश्चिमी और पूर्वी भाग थे), में बँटवारे से कई आकस्मिक परिवर्तन आए। लाखों जानें गईं, कइयों की जिंदगियाँ पलक झपकते बदल गईं, शहर बदले, भारत बदला, एक नए देश का उदय हुआ और ऐसा जनसंहार, हिंसा एवं विस्थापन हुआ जिसका इतिहास में पहले कोई उदाहरण न था।

इस अध्याय में हम 1947 के बँटवारे का अध्ययन करेंगे : यह क्यों और कैसे हुआ और इसके चलते 1946 से '50 की काल-अवधि में (और 1950 के बाद भी) आम लोगों के क्या दर्दनाक अनुभव रहे। अध्याय में इस बात की भी चर्चा की जाएगी कि लोगों से बातचीत और साक्षात्कारों के ज़रिए, यानी कि मौखिक इतिहास का प्रयोग करते हुए, हम इन अनुभवों के इतिहास को कैसे रच सकते हैं। इस अध्याय में मौखिक इतिहास के फ़ायदों और उसकी सीमाओं

को दिखाया गया है। साक्षात्कारों से हम किसी समाज के अतीत के ऐसे आयामों के बारे में काफ़ी जानकारी हासिल कर सकते हैं जिनके बारे में दूसरी तरह के स्रोतों से हमें बहुत कम जानकारी मिल पाती है या कोई जानकारी नहीं मिल पाती है। परंतु कई मामलों के बारे में हमें साक्षात्कार की पद्धति से ज़्यादा पता नहीं चलता। ऐसे पहलुओं के इतिहास को रचने के लिए हमें किसी और क़िस्म की सामग्री की मदद लेनी पड़ती है। अध्याय के अंत में हम इस मुद्दे पर दुबारा लौटेंगे।

चित्र 14.2
कैमरे की तसवीरों से हमें उस समय की हिंसा का एहसास होता है।

1. बँटवारे के कुछ अनुभव

यहाँ तीन घटनाएँ दी जा रही हैं जिनका बयान उन दुखद दिनों से गुज़रे लोगों ने 1993 में एक शोधकर्ता के आगे किया था। बयान करने वाले पाकिस्तानी थे और शोधकर्ता भारतीय। शोधकर्ता का उद्देश्य यह समझना था कि जो लोग पीढ़ियों से कमोबेश मेल-मिलाप से रहते आए थे उन्होंने 1947 में एक-दूसरे पर इतना ज़बरदस्त कहर कैसे ढाया।

स्रोत 1

"मैं तो सिर्फ़ अपने अब्बा पर चढ़ा हुआ क़र्ज़ चुका रहा हूँ"

शोधकर्ता की रिपोर्ट इस प्रकार है:

मैं 1992 की सर्दियों में पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर के इतिहास विभाग के पुस्तकालय में जाया करता था। वहाँ अब्दुल लतीफ़ नामक एक धर्मनिष्ठ अधेड़ सज्जन मेरी बहुत मदद किया करते थे। जितना उनके लिए करना ज़रूरी था, उससे भी आगे जाकर वे मुझे आवश्यक सामग्री मुहय्या करा देते थे और मेरी अनुरोध की हुई फ़ोटोकॉपियाँ अगली सुबह मेरे पहुँचने के पहले ही बड़े क़ायदे से तैयार रखते थे। मेरे काम के प्रति उनका यह रवैया मुझे इतना अनोखा लगता था कि एक दिन मैं अपने को रोक नहीं पाया और पूछ ही बैठा, 'लतीफ़ साहब, आप ज़रूरत से ज़्यादा आगे बढ़-बढ़कर मेरी इतनी मदद क्यों करते हैं?' अपनी घड़ी पर नज़र डालकर उन्होंने लपककर अपनी नमाज़ी टोपी उठाई और कहा, 'अभी तो मुझे तुरंत नमाज़ के लिए जाना है पर लौटकर मैं आपके सवाल का जवाब ज़रूर दूँगा।' आधे घंटे बाद अपने दफ़्तर में लौटते ही उन्होंने बात आगे बढ़ाई:

'हाँ, आपका सवाल। मैं.... मेरा मतलब है मेरे वालिद जम्मू से थे, जम्मू ज़िले के एक छोटे-से गाँव के बाशिंदे। इस गाँव में हिंदुओं का दबदबा था और अगस्त 1947 में इलाके के हिंदू गुंडों ने गाँव की तमाम मुसलमान आबादी को मार डाला। एक रोज़ तीसरे पहर जब हिंदुओं की भीड़ का पागलपन अपनी हदें पार कर रहा था तो मेरे अब्बा को पता चला कि गाँव में शायद वे ही एकमात्र मुस्लिम नौजवान हैं जो जिंदा बचे हैं। अपने पूरे ख़ानदान को वे पहले ही इस क़त्लेआम में खो चुके थे और अब भागने के रास्ते ढूँढ़ रहे थे। उन्हें एक दयालु बुजुर्ग हिंदू पड़ोसन का ख़याल आया। उन्होंने उनसे

अपने घर में पनाह देने की प्रार्थना की। वे अब्बा की मदद को राज़ी तो हुईं, मगर बोलीं, 'बेटा, अगर तुम यहाँ छिपते हो तो वे लोग हम दोनों को ही धर लेंगे। इससे कोई फ़ायदा नहीं होगा। तुम मेरे पीछे-पीछे वहाँ चलो जहाँ इन लोगों ने मुर्दों के ढेर लगा रखे हैं। तुम वहाँ *मुर्दे जैसे बनकर* लेट जाना और मैं तुम पर कुछ लाशें डाल दूँगी। बेटा *सारी रात* मुर्दों के बीच ऐसे ही लेटे रहना और सुबह पौ फटते ही जी-जान से सियालकोट की तरफ़ दौड़ जाना।

'मेरे अब्बा यह सुझाव मान गए। फिर वे दोनों वहाँ गए जहाँ लाशें पड़ी थीं। अब्बा चुपचाप ज़मीन पर लेट गए और बूढ़ी माई ने उन पर कई लाशें डाल दीं। कोई घंटे भर बाद हथियारबंद हिंदू दंगाइयों का एक जत्था वहाँ आ धमका। उनमें से एक चिल्लाया 'किसी में कुछ जान बची है?' और दूसरे लोग अपनी अनगढ़ लाठियों और बंदूकों से उस ढेर में जिंदगी के आसार तलाशने लगे। कोई चिल्लाया, 'अरे उस लाश की कलाई पर घड़ी है।' उसने राइफ़ल का कुंदा ज़ोर से अब्बा की उँगलियों पर दे मारा। अब्बाजी बताया करते थे कि घड़ी वाली कलाई की फैली हथेली को बिलकुल बिना हिलाए रखना उनके लिए कितना मुश्किल था। किसी तरह कुछ सेकंड तक वे ऐसा करने में कामयाब रहे, तभी दंगाइयों में से कोई बोला, 'अरे, एक घड़ी ही तो है। चलो, चलो यहाँ से, अँधेरा होने लगा है।' अब्बाजी की तक़दीर थी कि वे लोग चले गए और मेरे अब्बा पूरी रात उस मरघट के माहौल में लेटे रहे। सुबह की उजास होते ही वे सचमुच अपनी जान लेकर ही भागे। सियालकोट पहुँचने तक वे रुके ही नहीं।

'मैं आपकी मदद इसलिए करता हूँ कि एक हिंदू माई ने मेरे अब्बा की मदद की थी। मैं तो सिर्फ़ अपने अब्बा पर चढ़ा हुआ कर्ज़ चुका रहा हूँ।'

मैंने कहा, 'मगर मैं तो हिंदू नहीं, सिख ख़ानदान से या हद से हद एक मिले-जुले हिंदू-सिख ख़ानदान से हूँ।'

'मैं ठीक-ठाक नहीं जानता कि आपका मज़हब क्या है? आप केश भी नहीं रखते और मुसलमान भी नहीं हैं। सो, मेरे लिए तो आप हिंदू ही हैं और मैं जो थोड़ा-बहुत आपके लिए करता हूँ वह इसलिए कि एक हिंदू माई ने मेरे अब्बा को बचाया था।'

स्रोत 2

"बरसों हो गए, मैं किसी पंजाबी मुसलमान से नहीं मिला"

शोधकर्ता का दूसरा किस्सा लाहौर के एक यूथ हॉस्टल के मैनेजर के बारे में है :
मैं जगह की तलाश में हॉस्टल गया था और वहाँ मैंने तुरंत अपनी नागरिकता की घोषणा कर दी थी। मैनेजर ने कहा, 'आप हिंदुस्तानी हैं, इसलिए आपको मैं कमरा तो दे नहीं सकता मगर आपको चाय पिला सकता हूँ और एक क़िस्सा सुना सकता हूँ।' इतने ललचाने वाले प्रस्ताव पर मैं नहीं कैसे कह सकता था। मैनेजर ने शुरू किया–

'पचास के दशक के शुरुआती हिस्से में मेरी पोस्टिंग दिल्ली में हुई थी।' मैं ध्यान से सुन रहा था। मैं वहाँ पाकिस्तानी दूतावास में क्लर्क था। मेरे एक लाहौरी दोस्त ने मुझे एक रुक्का (छोटी चिट्ठी) दिया था जो कभी उसके पड़ोसी रहे एक व्यक्ति को देना था। वह व्यक्ति आजकल दिल्ली के पहाड़गंज में रह रहा था। एक दिन मैं अपनी साइकिल लेकर पहाड़गंज को चल पड़ा। जैसे ही मैंने सेंट्रल सेक्रेटेरियट के पास वाले कथीड्रल (बड़ा गिरजाघर) को पार किया, मुझे एक सिख साइकिल पर जाता दिखाई दिया। उसे रोककर मैंने पंजाबी में पूछा, "सरदार जी, पहाड़गंज का रास्ता किधर से है?"

उन्होंने पूछा, "तुम शरणार्थी हो?"

"नहीं, मैं लाहौर से आया हूँ। मैं इक़बाल अहमद हूँ।"

"इकबाल अहमद..... लाहौर से?! रुको, रुको!"

वह "रुको!" की आवाज मुझे बेरहम हुक्म जैसी सुनाई दी और मैंने सोचा कि अब तो मैं गया। ये सिख मुझे ख़त्म ही कर देगा। पर और कोई चारा नहीं था, इसलिए मैं रुक गया। वह भारी-भरकम सिख दौड़ता आया और उसने मुझे कसकर भींच लिया। भीगी आँखों से उसने कहा, "बरसों हो गए, मैं किसी पंजाबी मुसलमान से नहीं मिला। मैं मिलने को तरस रहा था पर यहाँ पंजाबी बोलने वाले मुसलमान मिलते ही नहीं।"

चित्र 14.3
एक करोड़ से ज़्यादा लोग अपने-अपने वतन से उजड़ गए और दूसरी जगहों पर जाने के लिए मजबूर हो गए

स्रोत 3

"ना, नहीं! तुम कभी हमारे नहीं हो सकते"

शोधकर्ता की तीसरी घटना इस प्रकार है :

मुझे अभी भी 1992 में लाहौर में मिले एक आदमी की बहुत अच्छी तरह याद है। वह ग़लती से मुझे विदेश में पढ़ने वाला पाकिस्तानी समझ बैठा था। जाने किस वजह से वह मुझे पसंद करने लगा था। वह मुझसे अनुरोध कर रहा था कि पढ़ाई पूरी करके मैं क़ौम की ख़िदमत करने के लिए वापस लौट आऊँ। मैंने कहा कि मैं लौटूँगा, लेकिन बातचीत के दौर में मैंने जब बताया कि मैं भारत का नागरिक हूँ तो एकदम से उसका लहजा बदल गया और अपने आपको भरसक रोकते-रोकते भी उसके मुँह से निकल गया,

"ओह, हिंदुस्तानी, मैं समझा था आप पाकिस्तानी हैं।" मैंने उसे समझाने की पूरी कोशिश की कि मैं अपने आपको दक्षिण एशियाई मानता हूँ, पर वह अड़ा रहा, "ना, नहीं! तुम कभी हमारे नहीं हो सकते। तुम्हारे लोगों ने 1947 में मेरा पूरा गाँव-का-गाँव साफ़ कर दिया था। हम कट्टर दुश्मन है, और हमेशा रहेंगे।"

➲

(1) प्रत्येक स्रोत से आपस में बातचीत करने वाले इन लोगों के रुख़ के बारे में हमें क्या पता चलता है?

(2) ये कहानियाँ लोगों की विभाजन-संबंधी विभिन्न स्मृतियों के बारे में हमें क्या बताती हैं?

(3) इन लोगों ने खुद को और एक-दूसरे को कैसे पेश किया और पहचाना?

➲ चर्चा कीजिए...

विभाजन संबंधी लेखन में ऐसी कहानियों के महत्त्व का मूल्यांकन कीजिए।

2. ऐतिहासिक मोड़

2.1 बँटवारा या महाध्वंस (होलोकॉस्ट)

अभी जो संस्मरण पेश किए गए हैं उनसे बँटवारे के दौरान हुई चौतरफ़ा हिंसा का पता चलता है। कई लाख लोग मारे गए, न जाने कितनी औरतों का बलात्कार और अपहरण हुआ। करोड़ों उजड़ गए, रातों-रात अजनबी ज़मीन पर "रिफ़्यूजी" (शरणार्थी) बनकर रह गए। इनसानी नुक़सान का कोई सटीक हिसाब लगाना नामुमकिन है। काबिल और जानकार विद्वानों के अनुमानों में भी मरने वालों की संख्या 2,00,000 से 5,00,000 तक रही है। शायद यह अनुमान सही है कि लगभग डेढ़ करोड़ लोगों को भारत और पाकिस्तान के बीच रातों-रात खड़ी कर दी गई सरहद के इस या उस पार जाना पड़ा। जैसे ही उन्होंने इस "छाया सीमा" (Shadow Lines, दोनों नए राज्यों के बीच की सरहद औपचारिक आज़ादी के दो दिन *बाद तक* भी अधिकृत रूप से तय नहीं थी) से ठोकर खाई, वे बेघर हो गए। पलक झपकते उनके माल-असबाब हाथ से जाते रहे, दोस्त-रिश्तेदार बिछड़ गए, वे अपनी जड़ों, मकानों, खेतों और कारोबार से महरूम हो गए, बचपन की यादें उनसे छीन ली गईं। अपनी स्थानीय व क्षेत्रीय संस्कृतियों से वंचित, ये लोग दोबारा तिनकों से अपनी ज़िंदगी खड़ी करने के लिए मजबूर हो गए।

चित्र 14.4
बैलगाड़ियों पर अपने परिवारों और सामान के साथ, 1947

क्या यह महज़ एक *विभाजन*, एक कमोबेश व्यवस्थित, संवैधानिक फ़ैसला, आपसी रज़ामंदी के आधार पर इलाक़े और संपत्तियों का सामान्य बँटवारा भर था? या इसे 16 माह का गृहयुद्ध कहा जाए क्योंकि पाले के दोनों तरफ़ पूरी-की-पूरी आबादियों का दुश्मनों की तरह सफ़ाया कर देने के लिए सुनियोजित कोशिशें की जा रही थीं और इसके लिए संगठित गिरोह कमर कसे खड़े थे? ज़िंदा बच जाने वाले 1947 को अकसर कई दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हैं : "माशल-ला" (मार्शल लॉ), "मारामारी", और "रौला", या "हुल्लड़"। विभाजन के दौरान हुई हत्याओं, बलात्कार, आगज़नी और लूटपाट की बात करते हुए समकालीन प्रेक्षकों और विद्वानों ने कई बार "महाध्वंस" (होलोकॉस्ट) शब्द का उल्लेख किया है। ज़ाहिर है वे इस सामूहिक जनसंहार की भयानकता को रेखांकित करना चाहते हैं।

बहरहाल, क्या ये संज्ञाएँ और शब्द सही हैं?

आपने कक्षा 9 में नात्सी शासन के दौरान हुए जर्मन होलोकॉस्ट के बारे में पढ़ा होगा। एक लिहाज़ से देखें तो सन् सैंतालीस में भारतीय उपमहाद्वीप में जो कुछ घटा, उसकी भीषणता को "होलोकॉस्ट" शब्द से ही समझा जा सकता है। यह हादसा इतना जघन्य था कि "विभाजन", "बँटवारे" या "तक़सीम" जैसे शब्दों से उसके सारे पहलू सामने नहीं आते। इससे यह भी समझने में मदद मिलती है कि यूरोपीय होलोकॉस्ट की तरह हमारे समकालीन सरोकारों में भी विभाजन का इतना ज़्यादा ज़िक्र क्यों आता है? लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि दोनों घटनाओं के बीच कोई फ़र्क़ नहीं था या अगर था तो उसे नज़रअदांज़ कर दिया जाए। 1947-48 में भारतीय उपमहाद्वीप में सफ़ाए की कोई सरकारी मुहिम नहीं चली जबकि नात्सी जर्मनी में यही हो रहा था। वहाँ लोगों को मारने के लिए नियंत्रण और संगठन की तमाम आधुनिक तकनीकों का इस्तेमाल किया गया। भारत विभाजन के वक़्त जो "नस्ली सफ़ाया" हुआ, वह सरकारी निकायों की नहीं बल्कि धार्मिक समुदायों के स्वयंभू प्रतिनिधियों की कारगुज़ारी थी।

2.2 रूढ़ छवियों (Stereotypes) की ताक़त

भारत में पाकिस्तान से नफ़रत करने वाले और पाकिस्तान में भारत से नफ़रत करने वाले दोनों ही बँटवारे की उपज हैं। कई बार ग़लतफ़हमी में लोग यह मान लेते हैं कि भारतीय मुसलमानों की वफ़ादारी पाकिस्तान के साथ है। उनकी कथित गैर-भारतीय, अखिल इस्लामी निष्ठा की इस धारणा के साथ कई और भी आपत्तिजनक विचार जुड़े होते हैं। मसलन कई लोगों को लगता है कि मुसलमान क्रूर होते हैं, कट्टर होते हैं, गंदे होते हैं और हमलावरों के वंशज हैं जबकि हिंदू दयालु, उदार, शुद्ध और जिन पर हमला किया गया उनके वंशज हैं। पत्रकार आर. एम. मर्फ़ी ने अपने अध्ययन में दिखाया है कि पाकिस्तान में भी इस तरह की रूढ़ छवियों (stereotypes) की कमी नहीं है। उनका कहना है कि कुछ पाकिस्तानियों को लगता है कि मुसलमान निष्पक्ष, बहादुर, एकेश्वरवादी (एक ईश्वर की पूजा करने वाले) और मांसाहारी होते हैं जबकि हिंदू काले, कायर, बहु-ईश्वरवादी, शाकाहारी होते हैं।

हालाँकि इनमें से कुछ छवियाँ विभाजन से भी पहले की हैं लेकिन 1947 की घटनाओं से उन्हें और बल मिला है। इतिहासकार इन धारणाओं में मौजूद ग़लतफ़हमियों की बार-बार आलोचना करते रहे हैं लेकिन दोनों ही देशों में घृणा के ये स्वर शांत होने का नाम नहीं लेते।

विभाजन ने ऐसी स्मृतियाँ, घृणाएँ, छवियाँ और पहचानें रच दी हैं कि वे आज भी सरहद के दोनों तरफ़ लोगों के इतिहास को तय करती चली जा रही हैं। ये नफ़रतें सामुदायिक टकरावों में साफ़ झलकती हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सांप्रदायिक टकरावों ने इन पिछली स्मृतियों को ज़िंदा रखने का काम किया है। बँटवारे के दौरान हुई हिंसा की कहानियों को सांप्रदायिक समूह विभिन्न समुदायों के आपसी फ़ासले को और गहरा करने के लिए बार-बार दोहराते हैं। वे लोगों के ज़हन में संशय और अविश्वास पैदा करते हैं, सांप्रदायिक रूढ़ छवियों को मजबूत करते हैं, इस निराधार सोच को हवा देते हैं कि हिंदू, सिख, मुसलमान, इन समुदायों के बीच सीमाएँ स्पष्ट रूप से परिभाषित हैं और उनके हित एक-दूसरे के बिलकुल विपरीत हैं।

पाकिस्तान और भारत के संबंध बँटवारे की इस विरासत से गहरे तौर पर तय होते रहे हैं। उन प्रलयंकारी क्षणों की परस्पर विरोधी स्मृतियों से दोनों तरफ़ विभिन्न समुदायों के बारे में प्रचलित धारणाओं को बल मिला है।

➲ चर्चा कीजिए...

अगर आपने कोई विभाजन संबंधी कहानियाँ सुनी हैं तो उन्हें याद कीजिए। यह सोचिए कि विभिन्न समुदायों के बारे में आपकी अवधारणाएँ इन कहानियों से कैसे बनीं? कल्पना कीजिए कि अलग-अलग समुदायों के लोग एक ही कहानी को कैसे बयान करेंगे?

चित्र 14.5
लोग वही सामान अपने साथ लेकर चले जिसे वे उठाकर ले जा सकते थे। उजड़ने में लोगों को गहरे नुक़सान का अहसास हुआ। जहाँ वे पीढ़ियों से रह रहे थे, उन स्थानों से उनका विच्छेद हो गया।

3. विभाजन क्यों और कैसे हुआ?

3.1 एक लंबे इतिहास का अंतिम चरण?

कुछ इतिहासकार, भारतीय भी और पाकिस्तानी भी, यह मानते हैं कि मोहम्मद अली जिन्ना की यह समझ कि औपनिवेशिक भारत में हिंदू और मुसलमान दो पृथक राष्ट्र थे, मध्यकालीन इतिहास पर भी लागू की जा सकती है। यह इतिहासकार इस बात पर बल देते हैं कि 1947 की घटनाएँ मध्य और आधुनिक युगों में हुए हिंदू-मुस्लिम झगड़ों के लंबे इतिहास से बारीकी से जुड़ी हुई हैं। लेकिन यह तर्क इस बात को अनदेखा कर जाता है कि इन समुदायों में झगड़ों का इतिहास मेल-जोल के लंबे इतिहास के साथ-साथ चला है। फिर, यह भी महत्त्वपूर्ण है कि हिंदू-मुसलमानों में कई तरह के सांस्कृतिक आदान-प्रदान रहे हैं। जो लोग दक्षिण एशिया में हिंदू-मुस्लिम झगड़ों की निरंतरता की बात करते हैं यह नहीं देखते कि लोगों की मानसिकता पर बदलती परिस्थितियों का असर होता है।

कुछ विद्वान यह मानते हैं कि देश का बँटवारा एक ऐसी सांप्रदायिक राजनीति का आख़िरी बिंदु था जो 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में शुरू हुई। उनका तर्क है कि अंग्रेज़ों द्वारा 1909 में मुसलमानों के लिए बनाए गए पृथक चुनाव क्षेत्रों, (जिनका 1919 में विस्तार किया गया), का सांप्रदायिक राजनीति की प्रकृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। पृथक चुनाव क्षेत्रों की वजह से मुसलमान विशेष चुनाव क्षेत्रों में अपने प्रतिनिधि चुन सकते थे। इस व्यवस्था में राजनितिज्ञों को लालच रहता था कि वह सामुदायिक नारों का इस्तेमाल करें और अपने धार्मिक समुदाय के व्यक्तियों को नाजायज़ फ़ायदे पहुँचाएँ। इस तरह से, उभरती हुई आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था में धार्मिक अस्मिताओं का क्रियाशील प्रयोग होने लगा। चुनावी राजनीति इन अस्मिताओं को ज़्यादा गहरा और पक्का बनाने लगी। अब सामुदायिक अस्मिताओं से जुड़े अभिप्राय केवल विश्वास और अकायद (आस्था) के फ़र्क़ों पर केंद्रित नहीं थे। अब अकसर धार्मिक अस्मिताएँ समुदायों के बीच हो रहे विरोधों से जुड़ गईं। हालाँकि भारतीय राजनीति पर पृथक चुनाव क्षेत्रों का अच्छा-खासा असर पड़ा, हमें इनके महत्त्व को बढ़ा-चढ़ा कर पेश नहीं करना चाहिए और न ही हमें यह मानना चाहिए कि बँटवारा पृथक चुनाव क्षेत्रों की प्रत्यक्ष देन है।

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में सांप्रदायिक अस्मिताएँ कई अन्य कारणों से भी ज़्यादा पक्की हुई। 1920 और 1930 के दशकों में कई घटनाओं की वजह से तनाव उभरे। मुसलमानों को "मस्जिद के सामने संगीत", गो-रक्षा आंदोलन, और आर्य समाज की *शुद्धि* की कोशिशें (यानी कि नव मुसलमानों को फिर से हिंदू बनाना) जैसे मुद्दों पर ग़ुस्सा आया। दूसरी ओर हिंदू 1923 के बाद *तबलीग़* (प्रचार) और

लखनऊ समझौता

दिसम्बर 1916 में हुआ यह समझौता कांग्रेस और मुस्लिम लीग (जिसे इस समय यू.पी. में आधारित "युवा पार्टी" नियंत्रित करती थी) के आपसी ताल-मेल को दर्शाता है। इस समझौते के तहत कांग्रेस ने पृथक चुनाव क्षेत्रों को स्वीकारा। समझौते ने कांग्रेस के मध्यमार्गियों, उग्रपंथियों और मुस्लिम लीग के लिए एक संयुक्त राजनीतिक मंच प्रदान किया।

आर्य समाज

19वीं सदी के आख़िरी दशकों और प्रारंभिक 20वीं शताब्दी का यह उत्तर भारतीय हिंदू "सुधार" आंदोलन ख़ासतौर पर पंजाब में सक्रिय था। आर्य समाज वैदिक ज्ञान का पुनरुत्थान कर उसको विज्ञान की आधुनिक शिक्षा से जोड़ना चाहता था।

तंज़ीम (संगठन) के विस्तार से उत्तेजित हुए। जैसे-जैसे मध्यवर्गीय प्रचारक और सांप्रदायिक कार्यकर्ता अपने-अपने समुदायों में, लोगों को दूसरे समुदायों के खिलाफ़ लामबंद करते हुए, ज़्यादा एकजुटता बनाने लगे, देश के विभिन्न भागों में दंगे फैलते गए। प्रत्येक सांप्रदायिक दंगे से समुदायों के बीच फ़र्क गहरे होते गए और हिंसा की परेशान करने वाली स्मृतियाँ भी निर्मित होती गईं।

मस्जिद के सामने संगीत : किसी धार्मिक जुलूस के द्वारा नमाज़ के वक़्त मस्जिद के बाहर संगीत के बजाए जाने से हिंदू-मुस्लिम हिंसा हो सकती थी। रूढ़िवादी मुसलमान इसे अपनी नमाज़ या इबादत में ख़लल मानते थे।

फिर भी ऐसा कहना सही नहीं होगा कि बँटवारा केवल सीधे-सीधे बढ़ते हुए सांप्रदायिक तनावों की वजह से हुआ। *गर्म हवा* फ़िल्म के नायक ने ठीक ही कहा "सांप्रदायिक कलह तो सन् 1947 से पहले भी होती थी लेकिन उसकी वजह से लाखों लोगों के घर कभी नहीं उजड़े"। पहले की सांप्रदायिक राजनीति और विभाजन में गुणात्मक फ़र्क है और बँटवारे को समझने के लिए हमें ब्रिटिश राज के आखरी दशक की घटनाओं को बारीकी से देखना होगा।

सांप्रदायिकता से क्या अभिप्राय है?

हमारी अस्मिता के कई पहलू होते हैं। आप बालक हैं या बालिका, आप युवा भी हैं, आप किसी गाँव, शहर, ज़िला अथवा प्रांत के निवासी हैं और आप कुछ विशेष भाषाएँ बोलते हैं। आप भारतीय हैं परंतु आप विश्व-नागरिक भी हैं। परिवारों की आय में फ़र्क होते ही हैं, इसलिए हम सभी किसी न किसी सामाजिक वर्ग के सदस्य हैं। हम में से अधिकांश का कोई न कोई धर्म है और हमारी ज़िंदगी में जाति की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। दूसरे शब्दों में, हमारी अस्मिताओं के कई अभिलक्षण हैं यानी कि वे जटिल होती हैं। कुछ विशेष संदर्भों में लोग अपनी जटिल अस्मिताओं के कुछ चुने हुए पहलुओं (जैसे धर्म) को ज़्यादा महत्त्वपूर्ण मान बैठते हैं। लेकिन इसे सांप्रदायिकता नहीं कहा जा सकता।

सांप्रदायिकता उस राजनीति को कहा जाता है जो धार्मिक समुदायों के बीच विरोध और झगड़े पैदा करती है। ऐसी राजनीति धार्मिक पहचान को बुनियादी और अटल मानती है। सांप्रदायिक राजनीतिज्ञों की कोशिश रहती है कि धार्मिक पहचान को मज़बूत बनाया जाए। वे इसे एक स्वाभाविक अस्मिता मान कर प्रस्तुत करते हैं, मानो लोग ऐसी पहचान लेकर पैदा हुए हों, मानो अस्मिताएँ इतिहास और समय के दौर से गुज़रते हुए बदलती नहीं हैं। सांप्रदायिकता किसी भी समुदाय में एकता पैदा करने के लिए आंतरिक फ़र्क़ों को दबाती है, उस समुदाय की एकता पर ज़ोर देती है, और उस समुदाय को किसी न किसी अन्य समुदाय के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए प्रेरित करती है।

यह कहा जा सकता है कि सांप्रदायिकता किसी चिह्नित "गैर" के खिलाफ़ घृणा की राजनीति को पोषित करती है। मुस्लिम सांप्रदायिकता हिंदुओं को ग़ैर बता कर उनका विरोध करती है और ऐसे ही हिंदू सांप्रदायिकता मुसलमानों को ग़ैर समझ कर उनके ख़िलाफ़ डटी रहती है। इस पारस्परिक घृणा से हिंसा की राजनीति को बढ़ावा मिलता है।

इसका अर्थ है कि सांप्रदायिकता धार्मिक अस्मिता का विशेष तरह से राजनीतिकरण है जो धार्मिक समुदायों में झगड़े पैदा करवाने की कोशिश करता है। किसी भी बहु-धार्मिक देश में "धार्मिक राष्ट्रवाद" शब्दों का अर्थ भी "सांप्रदायिकता" के क़रीब-क़रीब हो सकता है। ऐसे देश में अगर कोई व्यक्ति किसी धार्मिक समुदाय को राष्ट्र मानता है तो वह विरोध और झगड़ों के बीज बो रहा है।

3.2 1937 में प्रांतीय चुनाव और कांग्रेस मंत्रालय

प्रांतीय संसदों के गठन के लिए 1937 में पहली बार चुनाव कराये गये। इन चुनावों में मताधिकार केवल 10 से 12 प्रतिशत लोगों के पास था। इन चुनावों में कांग्रेस के परिणाम अच्छे रहे। उसने 11 में से 5 प्रांतों में पूर्ण बहुमत प्राप्त किया और 7 में अपनी सरकारें बनाईं। मुसलमानों के लिए आरक्षित चुनाव क्षेत्रों में कांग्रेस का प्रदर्शन अच्छा नहीं रहा परंतु मुस्लिम लीग भी इन क्षेत्रों में बहुत अच्छा नहीं कर पाई। उसे इस चुनाव में संपूर्ण मुस्लिम वोट का केवल 4.4 प्रतिशत हिस्सा मिल पाया। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में उसे एक सीट भी नहीं मिली, पंजाब की 84 आरक्षित सीटों में उसे सिर्फ़ 2 प्राप्त हुईं, और सिंध में 33 में से 3 प्राप्त हुईं।

संयुक्त प्रांत (वर्तमान में उत्तर प्रदेश) में मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ मिल कर सरकार बनाना चाहती थी। परंतु यहाँ कांग्रेस का संपूर्ण बहुमत था, इसलिए उसने लीग की इस माँग को ठुकरा दिया। कुछ विद्वानों का तर्क है कि इससे लीग के सदस्यों के दिलों में यह बात घर कर गई कि अगर भारत अविभाजित रहा तो मुसलमानों के हाथ में राजनीतिक सत्ता नहीं आ पाएगी क्योंकि वे अल्पसंख्यक हैं। ऐसी समझ के पीछे लीग की यह मान्यता थी कि मुस्लिम हितों का प्रतिनिधित्व एक मुस्लिम पार्टी ही कर सकती है और कांग्रेस एक हिंदू दल है। परंतु जिन्ना की ज़िद कि लीग को मुसलमानों का "एकमात्र प्रवक्ता" माना जाए उस समय बहुत कम लोगों को मंजूर थी। लीग संयुक्त प्रांत, बम्बई और मद्रास में लोकप्रिय थी, परंतु अभी भी उसका सामाजिक आधार बंगाल में काफ़ी कमज़ोर था, और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत एवं पंजाब में न के बराबर था। सिंध में भी लीग सरकार नहीं बना पाई थी और केवल दस साल बाद ही इन सभी प्रांतों से पाकिस्तान बनाया गया। इसीलिए, इस काल से लीग ने सामाजिक समर्थन की अपनी कोशिशें दोहरी कर दीं।

कांग्रेस मंत्रालयों ने भी इस खाई को और गहरा कर दिया। संयुक्त प्रांत में पार्टी ने गठबंधन सरकार बनाने के बारे में मुस्लिम लीग के प्रस्ताव को ख़ारिज कर दिया था क्योंकि मुस्लिम लीग ज़मींदारी प्रथा का समर्थन करती प्रतीत होती थी जबकि कांग्रेस उसको ख़त्म करना चाहती थी यद्यपि कांग्रेस ने अभी तक इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया था। न ही कांग्रेस को अपने "मुस्लिम जनसंपर्क" कार्यक्रम में कोई ख़ास सफलता मिल पाई थी। इस प्रकार, कांग्रेस के धर्मनिरपेक्ष और रैडिकल बयानों से रूढ़िवादी मुसलमान और मुसलमान भूस्वामी तो चिंता में पड़ ही गए, कांग्रेस मुसलमानों को अपनी ओर आकर्षित करने में भी सफल नहीं हो पायी। इतना ही नहीं, तीस के दशक के आखिरी

मुस्लिम लीग

मुस्लिम लीग को 1906 में ढाका में शुरू किया गया। जल्द ही लीग यू.पी. के विशेषकर अलीगढ़ के मुस्लिम संभ्रांत वर्ग के प्रभाव में आ गई। 1940 के दशक में पार्टी भारतीय महाद्वीप के मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों की स्वायत्तता या फिर पाकिस्तान की माँग करने लगी।

हिंदू महासभा

हिंदू महासभा की स्थापना 1915 में हुई। यह एक हिंदू पार्टी थी जो कमोबेश उत्तर भारत तक सीमित रही। यह पार्टी हिंदुओं के बीच जाति एवं संप्रदाय के फ़र्कों को खत्म कर हिंदू समाज में एकता पैदा करने की कोशिश करती थी। हिंदू महासभा, हिंदू अस्मिता को मुस्लिम अस्मिता के विरोध में परिभाषित करने का प्रयास करती थी।

सालों में कांग्रेस के बड़े नेता धर्मनिरपेक्षता पर पहले से भी ज़्यादा ज़ोर देने लगे थे मगर कांग्रेस में ऊपर से नीचे तक या कांग्रेस के मंत्री भी इन विचारों पर पूरी तरह सहमत नहीं थे। मौलाना आज़ाद ने 1937 में यह सवाल उठाया था कि कांग्रेस के सदस्यों को लीग में शामिल होने की छूट तो नहीं है लेकिन उन्हें हिंदू महासभा में शामिल होने से नहीं रोका जाता है। उनके मुताबिक कम-से-कम मध्य प्रांत (वर्तमान मध्य प्रदेश) में यही स्थिति थी। कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने दिसंबर 1938 में जाकर यह ऐलान किया कि कांग्रेस के सदस्य हिंदू महासभा के सदस्य नहीं हो सकते। प्रसंगवश, यह वही समय था जब हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर.एस.एस.) की ताक़त बढ़ती जा रही थी। तीस के दशक में ही आर.एस.एस. नागपुर से बढ़ते हुए संयुक्त प्रांत, पंजाब और देश के अन्य भागों में फैला था। 1940 तक आर.एस.एस. के पास हिंदू राष्ट्रवाद की विचारधारा के प्रति समर्पित अत्यंत अनुशासित 1,00,000 से ज़्यादा कार्यकर्ता थे। उनका विश्वास था कि भारत केवल हिंदुओं का देश है।

यूनियनिस्ट पार्टी

पंजाब में हिंदू, मुस्लिम और सिख भूस्वामियों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली राजनीतिक पार्टी। यह पार्टी 1923-47 के बीच काफ़ी ताकतवर थी।

महासंघ (या परिसंघ) – आधुनिक राजनीतिक शब्दावली में इसका अर्थ है काफ़ी हद तक स्वायत्त और संप्रभु राज्यों का संघ जिसकी केंद्रीय सरकार के पास केवल सीमित शक्तियाँ होती हैं।

3.3 "पाकिस्तान" का प्रस्ताव

पाकिस्तान की स्थापना की माँग धीरे-धीरे ठोस रूप ले रही थी। 23 मार्च 1940 को मुस्लिम लीग ने उपमहाद्वीप के मुस्लिम-बहुल इलाकों के लिए कुछ स्वायत्तता की माँग का प्रस्ताव पेश किया। इस अस्पष्ट से प्रस्ताव में कहीं भी विभाजन या पाकिस्तान का जिक्र नहीं था। बल्कि, इस प्रस्ताव को लिखने वाले पंजाब के प्रधानमंत्री और यूनियनिस्ट पार्टी के नेता सिकंदर हयात ख़ान ने 1 मार्च 1941 को पंजाब असेम्बली को संबोधित करते हुए ऐलान किया था कि वह ऐसे पाकिस्तान की अवधारणा का विरोध करते हैं जिसमें "यहाँ मुस्लिम राज और बाकी जगह हिंदू राज होगा...। अगर पाकिस्तान का मतलब यह है कि पंजाब में ख़ालिस मुस्लिम राज कायम होने वाला है तो मेरा उससे कोई वास्ता नहीं है।" उन्होंने संघीय ईकाइयों के लिए उल्लेखनीय स्वायत्तता के आधार पर एक ढीले-ढाले (संयुक्त) महासंघ के समर्थन में अपने विचारों को फिर दोहराया।

कुछ लोगों का मानना है कि पाकिस्तान के गठन की माँग उर्दू कवि मोहम्मद इकबाल से शुरू होती है जिन्होंने "*सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा*" लिखा था। 1930 में मुस्लिम लीग के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने एक "उत्तर-पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य" की ज़रूरत पर ज़ोर दिया था। मगर उस भाषण में इकबाल एक नए देश के उदय पर नहीं बल्कि पश्चिमोत्तर भारत में मुस्लिम बहुल इलाक़ों को एकीकृत, शिथिल भारतीय संघ के भीतर एक स्वायत्त ईकाई की स्थापना पर जोर दे रहे थे।

पाकिस्तान का नाम

पाकिस्तान अथवा **पाक-स्तान** (**पं**जाब, **अ**फ़गान, **क**श्मीर, **सिं**ध और बालूचि**स्तान**) नाम केम्ब्रिज के एक पंजाबी मुसलमान छात्र, चौधरी रहमत अली ने 1933 और 1935 में लिखित दो पर्चों में गढ़ा। रहमत अली इस नयी ईकाई के लिए अलग राष्ट्रीय हैसियत चाहता था। 1930 के दशक में किसी ने रहमत अली की बात को गंभीरता से नहीं लिया। यहाँ तक कि, मुस्लिम लीग और अन्य मुस्लिम नेताओं ने भी उसके इस विचार को केवल एक छात्र का स्वप्न समझकर ख़ारिज कर दिया था।

3.4 विभाजन का अचानक हो जाना

पीछे हम देख चुके हैं कि पाकिस्तान के बारे में अपनी माँग पर लीग की राय पूरी तरह स्पष्ट नहीं थी। उपमहाद्वीप के मुस्लिम-बहुल इलाक़ों के लिए सीमित स्वायत्तता की माँग से विभाजन होने के बीच बहुत ही कम समय - केवल सात साल - रहा। किसी को मालूम नहीं था कि पाकिस्तान के गठन का क्या मतलब होगा और उससे भविष्य में लोगों की ज़िंदगी किस तरह तय होगी। 1947 में अपने मूल इलाक़े छोड़कर नयी जगह जाने वालों में से बहुतों को यही लगता था कि जैसे ही शांति बहाल होगी, वे लौट आएँगे।

शुरुआत में मुस्लिम नेताओं ने भी एक संप्रभु राज्य के रूप में पाकिस्तान की माँग खास संजीदगी से नहीं उठाई थी। शुरुआत में शायद खुद जिन्ना भी पाकिस्तान की सोच को सौदेबाज़ी में एक पैंतरे के तौर पर ही इस्तेमाल कर रहे थे, जिसका वे सरकार द्वारा कांग्रेस को मिलने वाली रियायतों पर रोक लगाने और मुसलमानों के लिए और रियायतें हासिल करने के लिए इस्तेमाल कर सकते थे। दूसरे विश्वयुद्ध के कारण अंग्रेज़ों को स्वतंत्रता के बारे में औपचारिक वार्ताएँ कुछ समय तक टालनी पड़ीं। लेकिन 1942 में शुरू हुए विशाल भारत छोड़ो आंदोलन का परिणाम था कि अंग्रेज़ों को झुकना पड़ा और उसके अफ़सरों को संभावित सत्ता हस्तांतरण के बारे में भारतीय पक्षों के साथ बातचीत के लिए तैयार होना पड़ा।

3.5 युद्धोत्तर घटनाक्रम

जब 1945 में दोबारा वार्ताएँ शुरू हुईं तो अंग्रेज़ इस बात पर सहमत हुए कि एक केंद्रीय कार्यकारणी सभा बनायी जाएगी जिसके सभी सदस्य भारतीय होंगे सिवाय वायसराय और सशस्त्र सेनाओं के सेनापति के। उनकी राय में यह पूर्ण स्वतंत्रता की ओर शुरुआती कदम होगा। सत्ता हस्तांतरण के बारे में यह चर्चा टूट गई क्योंकि जिन्ना इस बात पर अड़े हुए थे कि कार्यकारणी सभा के मुस्लिम सदस्यों का चुनाव करने का अधिकार मुस्लिम लीग के अलावा और किसी को नहीं है। वे सभा में सांप्रदायिक आधार पर वीटो की व्यवस्था भी चाहते थे। उनका कहना था कि अगर मुस्लिम सदस्य किसी फ़ैसले का विरोध करते हैं तो उसे कम-से-कम दो-तिहाई सदस्यों की सहमति से ही पारित किया जाना चाहिए। उस समय के राजनीतिक हालात को देखते हुए लीग की पहली माँग काफ़ी आश्चर्यजनक थी क्योंकि राष्ट्रवादी मुसलमानों का एक बड़ा तबका कांग्रेस का समर्थन करता था (इन वार्ताओं में उसके प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व मौलाना आज़ाद कर रहे थे), और पश्चिमी पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी के सदस्य भी ज़्यादातर

स्रोत 4

मुस्लिम लीग का प्रस्ताव : 1940

मुस्लिम लीग के 1940 वाले प्रस्ताव की माँग थी –

'कि भौगोलिक दृष्टि से सटी हुई ईकाइयों को क्षेत्रों के रूप में चिह्नित किया जाए, जिन्हें बनाने में ज़रूरत के हिसाब से इलाक़ों का फिर से ऐसा समायोजन किया जाए कि हिंदुस्तान के उत्तर-पश्चिम और पूर्वी क्षेत्रों जैसे जिन हिस्सों में मुसलमानों की संख्या ज्यादा है, उन्हें इकट्ठा करके 'स्वतंत्र राज्य' बना दिया जाए, जिनमें शामिल ईकाइयाँ स्वाधीन और स्वायत्त होंगी।'

➲ लीग की माँग क्या थी? क्या वह वैसे पाकिस्तान की माँग कर रही थी जैसा हम आज देख रहे हैं?

चित्र 14.6
नवंबर 1939 में वायसराय के साथ बैठक से पहले महात्मा गाँधी के साथ मोहम्मद अली जिन्ना।

मुसलमान थे। अंग्रेज़ यूनियनिस्टों को नाराज़ नहीं करना चाहते थे क्योंकि पंजाब सरकार में उन्हीं का दबदबा था और वे अंग्रेज़ों के प्रति लगातार वफ़ादार रहे थे।

1946 में दोबारा प्रांतीय चुनाव हुए। सामान्य सीटों पर कांग्रेस को एकतरफा सफलता मिली : 91.3 प्रतिशत गैर-मुस्लिम वोट कांग्रेस के खाते में गए। मुसलमानों के लिए आरक्षित सीटों पर मुस्लिम लीग को भी ऐसी ही बेजोड़ सफलता मिली। मध्य प्रांत में उसने सभी 30 आरक्षित सीटें जीतीं और मुस्लिम वोटों में से 86.6 प्रतिशत उसके उम्मीदवारों को मिले। सभी प्रांतों की कुल 509 आरक्षित सीटों में से 442 मुस्लिम लीग के पास गईं। इसका मतलब है कि 1946 में जाकर ही मुस्लिम लीग खुद को मुस्लिम मतदाताओं के बीच सबसे प्रभुत्वशाली पार्टी के रूप में स्थापित कर पाई। अब जाकर वह भारत के मुसलमानों की "एकमात्र प्रवक्ता" होने का दावा कर सकती थी। लेकिन आपको याद होगा कि इन चुनावों में मताधिकार बेहद सीमित था। आबादी के केवल 10-12 प्रतिशत तबके को ही प्रांतीय चुनावों में वोट डालने का अधिकार दिया गया था। केंद्रीय असेम्बली के चुनावों में तो केवल 1 प्रतिशत लोगों को ही मताधिकार मिला था।

3.6 विभाजन का एक संभावित विकल्प

मार्च 1946 में ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने लीग की माँग का अध्ययन करने और स्वतंत्र भारत के लिए एक उचित राजनीतिक रूपरेखा सुझाने के लिए तीन-सदस्यीय प्रतिनिधिमंडल दिल्ली भेजा। इस केबीनेट मिशन ने तीन महीने तक भारत का दौरा किया और एक ढीले-ढाले त्रिस्तरीय महासंघ का सुझाव दिया। इसमें भारत एकीकृत ही रहने वाला था जिसकी केंद्रीय सरकार काफ़ी कमज़ोर होती और उसके पास केवल विदेश, रक्षा और संचार का ज़िम्मा होता। संविधान सभा का चुनाव करते हुए मौजूदा प्रांतीय सभाओं को तीन हिस्सों में समूहबद्ध किया जाना था : हिंदू-बहुल प्रांतों को समूह 'क', पश्चिमोत्तर मुस्लिम-बहुल प्रांतों को समूह 'ख' और पूर्वोत्तर (असम सहित) के मुस्लिम-बहुल प्रांतों को समूह 'ग' में रखा गया था। प्रांतों के इन खण्डों या समूहों को मिला कर क्षेत्रीय ईकाइयों का गठन किया जाना था। माध्यमिक स्तर की कार्यकारी और विधायी शक्तियाँ उनके पास ही रहने वाली थीं।

शुरुआत में सभी प्रमुख पार्टियों ने इस योजना को मान लिया था। लेकिन यह समझौता ज़्यादा देर नहीं चल पाया क्योंकि सभी पक्षों की इस योजना के बारे में व्याख्या अलग-अलग थी। लीग की माँग थी कि यह समूहबद्धता अनिवार्य हो जिसमें समूह 'ख' और 'ग' के पास भविष्य में संघ से अलग होने का अधिकार होना चाहिए। कांग्रेस चाहती थी कि प्रांतों को अपनी इच्छा का समूह चुनने का अधिकार मिलना चाहिए। काँग्रेस कैबिनेट मिशन के इस स्पष्टीकरण से भी संतुष्ट नहीं थी कि शुरुआत में यह समूहबद्धता अनिवार्य होगी मगर एक बार संविधान बन जाने के बाद उनके पास समूहों से निकलने का अधिकार होगा और बदली हुई परिस्थितियों में नए चुनाव कराए जाएँगे। इस प्रकार, आखिरकार केबिनेट मिशन के प्रस्ताव को लीग और कांग्रेस, दोनों ने ही नहीं माना। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण पड़ाव था क्योंकि *इसके बाद* विभाजन कमोबेश अपरिहार्य हो गया था। कांग्रेस के ज़्यादातर नेता इसे त्रासद मगर अवश्यम्भावी परिणाम मान चुके थे। केवल महात्मा गाँधी और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत (एन.डब्ल्यू. एफ.पी.) के नेता ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ान ही अंत तक विभाजन का विरोध करते रहे।

चित्र 14.7
एन.डब्ल्यू.एफ.पी. में महात्मा गाँधी, खान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ान (जिन्हें फ्रंटियर गाँधी या सीमांत गाँधी कहा जाता था), सुशीला नायर और अमतुस सालेम के साथ, अक्तूबर 1938

3.7 विभाजन की ओर

केबिनेट मिशन योजना से अपना समर्थन वापस लेने के बाद मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की अपनी माँग को अमली जामा पहनाने के

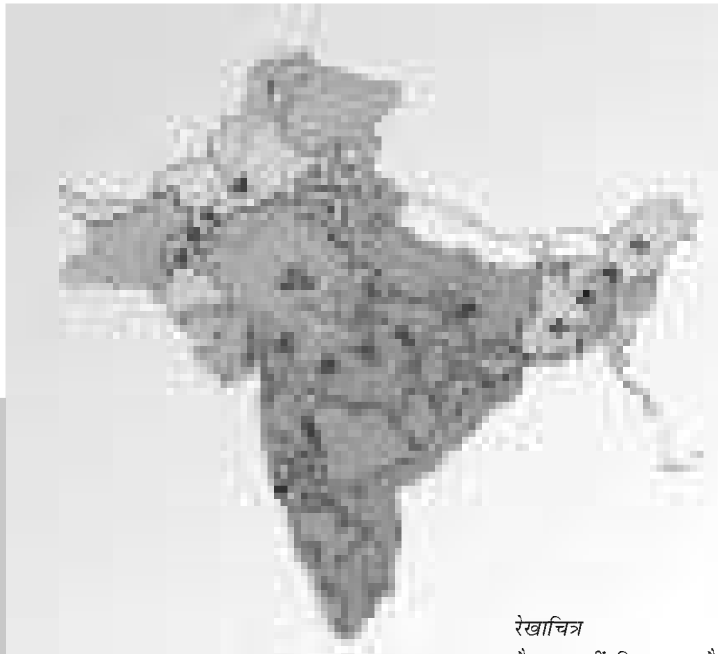

मानचित्र 1
तीन समूहों वाले भारतीय संघ के बारे में केबिनेट मिशन का प्रस्ताव

- 1941 के मुस्लिम-बहुल इलाक़े
- 1941 के हिंदू-बहुल इलाक़े
- राजकुमारों की रियासतें, जिनके लिए प्रस्ताव में स्पष्ट प्रावधान नहीं किया गया था

स्रोत 5

"बीहड़ में एक आवाज़"

महात्मा गाँधी जानते थे कि उनकी स्थिति "बीहड़ में एक आवाज़" जैसी है लेकिन फिर भी वे विभाजन की सोच का विरोध करते रहे :

किंतु आज हम कैसे दुखद परिवर्तन देख रहे हैं। मैं फिर वह दिन देखना चाहता हूँ जब हिंदू और मुसलमान आपसी सलाह के बिना कोई काम नहीं करेंगे। मैं दिन-रात इसी आग में जल जा रहा हूँ कि उस दिन को जल्दी से जल्दी साकार करने के लिए क्या करूँ। लीग से मेरी गुज़ारिश है कि वे किसी भी भारतीय को अपना शत्रु न मानें...। हिंदू और मुसलमान, दोनों एक ही मिट्टी से उपजे हैं। उनका खून एक है, वे एक जैसा भोजन करते हैं, एक ही पानी पीते हैं, और एक ही ज़बान बोलते हैं।

प्रार्थना सभा में भाषण, 7 सितंबर 1946, *कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी*, खंड 92, पृ. 139

लेकिन मुझे पूरा विश्वास है कि मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की जो माँग उठायी है वह पूरी तरह गैर-इस्लामिक है और मुझे इसको पापपूर्ण कृत्य कहने में कोई संकोच नहीं है। इस्लाम मानवता की एकता और भाईचारे का समर्थक है न कि मानव परिवार की एकजुटता को तोड़ने का। जो तत्व भारत को एक-दूसरे के खून के प्यासे टुकड़ों में बाँट देना चाहते हैं वे भारत और इस्लाम, दोनों के शत्रु हैं। भले ही वे मेरी देह के टुकड़े-टुकड़े कर दें, परंतु मुझसे ऐसी बात नहीं मनवा सकते जिसे मैं ग़लत मानता हूँ।

हरिजन, 26 सितंबर 1946, *कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी*, खंड 92, पृ. 229

➲ पाकिस्तान के विचार का विरोध करते हुए महात्मा गाँधी ने क्या तर्क दिए?

चित्र 14.8
कलकत्ता की सड़कें, अगस्त 1946 । लोहे की छड़े और लाठियाँ लिए .फ़सादी।

लिए प्रत्यक्ष कार्यवाही करने का फैसला लिया। पार्टी ने 16 अगस्त 1946 को "प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस" (Direct Action Day) मनाने का ऐलान किया। उसी दिन कलकत्ता में दंगा भड़क उठा जो कई दिनों तक चला और उसमें कई हज़ार लोग मारे गए। मार्च 1947 तक उत्तर भारत के बहुत सारे भागों में हिंसा फैल चुकी थी।

मार्च 1947 में कांग्रेस हाईकमान ने पंजाब को मुस्लिम-बहुल और हिंदू/सिख-बहुल, दो हिस्सों में बाँटने के प्रस्ताव पर मंज़ूरी दे दी। कांग्रेस ने बंगाल के मामले में भी यही सिद्धांत अपनाने का सुझाव दिया। अंकों के खेल में उलझकर पंजाब के बहुत सारे सिख नेता और कांग्रेसी भी इस बात को मान चुके थे कि अब विभाजन अनिवार्य विकृति है जिसे टाला नहीं जा सकता। उनको लगता था कि वे अविभाजित पंजाब में मुसलमानों से घिर जाएँगे और उन्हें मुस्लिम नेताओं के रहम पर जीना पड़ेगा, इसलिए वे भी कमोबेश इस फ़ैसले के हक में थे। बंगाल में भी *भद्रलोक* बंगाली हिंदुओं का जो तबका सत्ता अपने हाथ में रखना चाहता था, वह "मुसलमानों की स्थायी ग़ुलामी" (उनके एक नेता ने यही शब्द कहे थे) की आशंका से भयभीत था। संख्या की दृष्टि से वे कमज़ोर थे इसलिए उनको लगता था कि प्रांत के विभाजन से ही उनका राजनीतिक प्रभुत्व बना रह सकता है।

➲ चर्चा कीजिए...

भाग 3 को पढ़कर ये ज़ाहिर है कि पाकिस्तान कई कारणों से बना। आपके मत में इनमें से कौन से कारण सबसे महत्त्वपूर्ण थे और क्यों?

4. क़ानून व्यवस्था का नाश

चित्र 14.9
1946 के उन रक्त-रंजित महीनों के दौरान हिंसा और आगजनी में हज़ारों लोग मारे गए।

मार्च 1947 से तक़रीबन साल भर तक रक्तपात चलता रहा। इसका एक कारण यह था कि शासन की संस्थाएँ बिखर चुकी थीं। उसी समय बहावलपुर (पाकिस्तान) में तैनात पेंडेरल मून नाम के एक अफ़सर ने इस बारे में लिखा था कि जब मार्च 1947 में पूरे अमृतसर में आगज़नी और मारकाट हो रही थी तो पुलिस एक भी गोली नहीं चला पाई।

साल के आख़िर तक शासन तंत्र पूरी तरह नष्ट हो चुका था। पूरा अमृतसर ज़िला चौतरफ़ा रक्तपात में डूबा हुआ था। अंग्रेज़ अफ़सरों को सूझ नहीं रहा था कि हालात को कैसे सँभाला जाए। वे फ़ैसले लेना नहीं चाहते थे और हस्तक्षेप करने में हिचकिचा रहे थे। जब दहशतज़दा लोगों ने मदद के लिए गुहार लगाई तो अंग्रेज़ अफ़सरों ने उनसे महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल या मोहम्मद अली जिन्ना की शरण में जाने को कहा। किसी को मालूम नहीं था कि सत्ता किसके हाथ में है। महात्मा गाँधी के अलावा भारतीय दलों के सभी वरिष्ठ नेता आज़ादी के बारे में जारी वार्ताओं में व्यस्त थे जबकि प्रभावित प्रांतों के बहुत सारे भारतीय प्रशासनिक अफ़सर अपने ही जान-माल के बारे में भयभीत थे। अंग्रेज़ भारत छोड़ने की तैयारी में लगे थे।

समस्या इसलिए और बढ़ गई क्योंकि भारतीय सिपाही और पुलिस वाले भी हिंदू, मुसलमान या सिख के रूप में आचरण करने लगे थे। जैसे-जैसे सांप्रदायिक तनाव बढ़ा, वर्दीधारियों की पेशेवर प्रतिबद्धता पर भरोसा कमज़ोर पड़ता गया। बहुत सारे स्थानों पर न केवल पुलिस वालों ने अपने धर्म के लोगों की मदद की बल्कि उन्होंने दूसरे समुदायों पर हमले भी किए।

"एक गोली भी नहीं चलायी गयी"

मून ने जो लिखा :

24 घंटे से भी ज़्यादा वक़्त तक दंगाई भीड़ को इस विशाल व्यावसायिक शहर में बेरोक-टोक तबाही फैलाने दी गई। बेहतरीन बाज़ारों को जलाकर राख कर दिया गया जबकि उपद्रव फैलाने वालों के ऊपर एक गोली भी नहीं चलाई गयी। ...ज़िला मजिस्ट्रेट ने अपने (विशाल पुलिस) बल को शहर में मार्च का आदेश दिया और उसका कोई सार्थक इस्तेमाल किए बिना वापस बुला लिया...।

4.1 महात्मा गाँधी–एक अकेली फ़ौज

इस सारी उथल-पुथल में सांप्रदायिक सद्‌भाव बहाल करने के लिए एक आदमी की बहादुराना कोशिशें आख़िरकार रंग लाने लगीं। 77 साल के बुज़ुर्ग गाँधीजी ने अहिंसा के अपने जीवनपर्यंत सिद्धांत को एक बार फिर आज़माया और अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया। उनका फ़ैसला इस यक़ीन पर आधारित था कि लोगों का हृदय परिवर्तन किया जा सकता है। वे पूर्वी बंगाल के नोआखली (वर्तमान बांग्लादेश) से बिहार के गाँवों में और उसके बाद कलकत्ता व दिल्ली के दंगों में झुलसी झोंपड़-पट्टियों की यात्रा पर निकल पड़े। उनकी कोशिश थी कि हिंदू मुसलमान एक दूसरे को ना मारें और हर जगह उन्होंने अल्पसंख्यक समुदाय को, हिंदू अथवा मुस्लिम, दिलासा दी। अक्तूबर 1946 में पूर्वी बंगाल के मुसलमान हिंदुओं पर निशाना कस रहे थे। गाँधीजी वहाँ गए, पैदल, गाँव-गाँव पहुँचे और उन्होंने स्थानीय मुसलमानों को समझाया कि वे हिंदुओं की रक्षा करें। इसी तरह अन्य स्थानों पर, जैसे कि दिल्ली में, उन्होंने दोनों समुदायों में पारस्परिक भरोसा और विश्वास बनाने की कोशिश की। जान बचाने के लिए भागकर पुराने क़िले के भीड़ भरे शिविर में पनाह लेने वाले शाहिद अहमद देहलवी नामक दिल्ली के एक मुसलमान ने 9 सितंबर 1947 को दिल्ली में गाँधीजी के आगमन को "बड़ी लंबी और कठोर गर्मी के बाद बरसात की फुहारों के आने" जैसा महसूस किया। देहलवी ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि मुसलमान एक-दूसरे से कहने लगे थे : "अब दिल्ली बच जाएगी"।

चित्र 14.10
नोआखली में महात्मा गाँधी की एक झलक पाने को इकट्ठा गाँव वालों का हुजूम।

चित्र 14.11
बिहार में एक दंगा पीड़ित गाँव के लोग महात्मा गाँधी की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

28 नवंबर 1947 को गुरु नानक जयंती के मौके पर जब गाँधीजी गुरुद्वारा सीसगंज में सिखों की एक सभा को संबोधित करने गये तो उन्होंने देखा कि दिल्ली का दिल कहलाने वाले चाँदनी चौक की सड़क पर एक भी मुसलमान नहीं था। उसी शाम को अपने भाषण में उन्होंने कहा, "हमारे लिए इससे ज़्यादा शर्म की बात और क्या हो सकती है कि चाँदनी चौक में एक भी मुसलमान नहीं है?" गाँधीजी अपनी हत्या तक दिल्ली में ही रहे और आख़िरी दिनों में मुसलमानों को शहर से बाहर खदेड़ने की सोच से तंग आकर उन्होंने अनशन शुरू कर दिया था। आश्चर्यजनक बात है कि पाकिस्तान से आए हिंदू और सिख शरणार्थी भी अनशन में उनके साथ बैठते थे।

मौलाना आज़ाद ने लिखा है कि इस अनशन का असर, "आसमान की बिजली" जैसा रहा। लोगों को मुसलमानों के सफ़ाए के अभियान की निरर्थकता दिखाई देने लगी। मगर हिंसा का यह नंगा नाच आख़िरकार गाँधीजी की शाहदत के साथ ही ख़त्म हुआ। दिल्ली के बहुत सारे मुसलमानों ने बाद में कहा, "दुनिया सच्चाई की राह पर आ गई थी।"

➲ चर्चा कीजिए...

भारत छोड़ते समय अंग्रेज़ों ने शांति बनाए रखने के लिए क्या किया? महात्मा गाँधी ने ऐसे दु:खद दिनों में क्या किया?

5. बँटवारे में औरतें

5.1 औरतों की "बरामदगी"

पिछले तकरीबन डेढ़ दशक से इतिहासकार बँटवारे के दौरान आम लोगों के अनुभवों की पड़ताल कर रहे हैं। कई विद्वानों ने उस हिंसक काल में औरतों के भयानक अनुभवों के बारे में लिखा है। उनके साथ बलात्कार हुए, उनको अग़वा किया गया, बार-बार बेचा-ख़रीदा गया, अनजान हालात में अजनबियों के साथ एक नयी ज़िंदगी बसर करने के लिए मजबूर किया गया। औरतों ने जो कुछ भुगता था उसके गहरे सदमे के बावजूद बदले हुए हालात में कुछ औरतों ने अपने नए पारिवारिक बंधन विकसित किए। लेकिन भारत और पाकिस्तान की सरकारों ने इनसानी संबंधों की जटिलता के बारे में कोई संवेदनशील रवैया नहीं अपनाया। इस तरह की बहुत सारी औरतों को ज़बरदस्ती घर बिठा ली गई मानते हुए उन्हें उनके नए परिवारों से छीनकर दोबारा पुराने परिवारों या स्थानों पर भेज दिया गया। जिन औरतों के बारे में फ़ैसले लिए जा रहे थे उनसे इस बार भी सलाह नहीं ली गई। अपनी ज़िंदगी के बारे

में फ़ैसला लेने के उनके अधिकार को एक बार फिर नज़रअंदाज़ कर दिया। एक अंदाज़े के मुताबिक इस मुहिम में कुल मिलाकर लगभग 30,000 औरतों को, "बरामद" किया गया। इनमें से 22,000 मुस्लिम औरतों को भारत से और 8,000 हिंदू व सिख औरतों को पाकिस्तान से निकाला गया। यह मुहिम 1954 में जाकर ख़त्म हुई।

5.2 "इज़्ज़त" की रक्षा

विद्वानों ने इस बात पर भी रोशनी डाली है कि इस भीषण शारीरिक और मनोवैज्ञानिक ख़तरे के काल में किस तरह समुदाय की

स्रोत 6

औरतों की "बरामदगी" का मतलब क्या था

प्रकाश टण्डन ने उपनिवेशी पंजाब का एक आत्मकथात्मक सामाजिक इतिहास *पंजाबी सेंचुरी* के नाम से लिखा है। वहाँ उन्होंने एक महिला और एक जोड़े की दास्तान बयान की है। यहाँ उसका संक्षिप्त रूप दिया जा रहा है लेकिन हमने जहाँ तक संभव हो, मूल की भाषा और अभिव्यक्तियों को बनाए रखने की कोशिश की है।

एक घटना ऐसी हुई कि बँटवारे के दौरान मारकाट बचाने वाले एक सिख नौजवान ने हत्याकांड पर तुली हुई भीड़ को मनाकर एक ख़ूबसूरत मुसलमान लड़की को अपने लिए माँग लिया। उन दोनों ने शादी कर ली और धीरे-धीरे एक दूसरे से प्यार भी करने लगे। लड़की के दिमाग़ से अपने मारे गए माता-पिता और पिछली ज़िंदगी की यादें क्रमशः धुँधली पड़ने लगीं। वे एक दूसरे के साथ खुश थे और उनके एक बेटा भी हुआ। पर जल्दी ही अपहृत औरतों का पता लगा कर उन्हें वापस लौटाने में लगन से जुटे सामाजिक कार्यकर्ताओं और पुलिसवालों को उनकी भनक मिल गई। उन्होंने उस सिख के गृह-ज़िले जालंधर में पूछ-ताछ की। उसे इसकी ख़बर मिल गई और वह परिवार के साथ कलकत्ता भाग निकला। सामाजिक कार्यकर्ता भी कलकत्ता पहुँच गए इस बीच उसके मित्रों ने अदालत से स्टे-ऑर्डर लेने की कोशिश की पर कानून अपनी ही भारी-भरकम चाल से चल रहा था। कलकत्ता से यह जोड़ा इस उम्मीद में पंजाब के किसी अनजान से गाँव को भागा कि पीछा करने वाली पुलिस वहाँ नहीं पहुँच सकेगी। लेकिन पुलिस ने उन्हें पकड़ लिया और पूछ-ताछ करने लगी। उसकी पत्नी फिर से गर्भवती हो गई थी और अब बच्चे का जन्म नज़दीक ही था। उस सिख ने अपने छोटे-से बेटे को तो अपनी माँ के पास भेज दिया और खुद अपनी पत्नी को गन्ने के खेत में ले गया। वहाँ एक गड्ढे में उसने अपनी पत्नी को यथा संभव आराम से लिटा दिया और खुद पुलिस की राह देखते हुए एक बंदूक लेकर लेट गया। उसने ठान रखी थी कि जीते-जी वह अपनी पत्नी को अपने से अलग न होने देगा। उस गड्ढे में ही उसने अपने हाथों से पत्नी की जचगी कराई। अगले दिन उसकी पत्नी को तेज़ बुख़ार आ गया और तीन दिन में वह मर गई। पति उसे अस्पताल ले जाने की हिम्मत न कर सका क्योंकि वह डरता था कि सामाजिक कार्यकर्ता और पुलिस उसे उससे छीन लेंगे।

चित्र 14.12
अपने घरवालों की मौत की ख़बर सुनकर औरतें एक-दूसरे को ढाँढ़स बँधा रही हैं।
दंगों में पुरुष बड़ी संख्या में मारे गए थे।

इज़्ज़त बचाने की सोच भी एक अहम भूमिका अदा कर रही थी। इज़्ज़त का यह विचार मर्दानगी की एक ख़ास अवधारणा पर आधारित था जिसमें मर्दानगी *ज़न* (औरत) और ज़मीन पर मालिकाने से तय होती है। उत्तर भारतीय किसान समाजों में यह ख़ासा पुराना विचार रहा है। मर्द का पुंसत्व उसकी इस काबिलियत में निहित माना जाता था कि वह अपनी चीज़ों यानी ज़न और ज़मीन को औरों के क़ब्ज़े से बचाए रख सकता है या नहीं। अकसर इन दो सबसे प्राथमिक "संपत्तियों" पर ही टकराव शुरू होता था। और अकसर ही औरतें भी इन्हीं मूल्यों को आत्मसात कर लेती थीं।

इसीलिए कई बार जब पुरुषों को यह भय होता था कि, "उनकी" औरतों – बीवी, बेटी, बहन – को "शत्रु" नापाक कर सकता है तो वे औरतों को ही मार डालते थे। उर्वशी बुटालिया ने अपनी पुस्तक *दि अदर साइड ऑफ़ साइलेंस* में रावलपिंडी ज़िले के थुआ खालसा गाँव के एक ऐसे ही दर्दनाक हादसे का ज़िक्र किया है। बताते हैं कि तक़सीम के समय सिखों के इस गाँव की 90 औरतों ने "दुश्मनों" के हाथों में पड़ने की बजाय "अपनी मर्ज़ी से" कुएँ में कूदकर अपनी जान दे दी थी। इस गाँव से आए शरणार्थी दिल्ली के एक गुरुद्वारे में आज भी इस घटना पर कार्यक्रम आयोजित करते हैं। वे इन मौतों को आत्महत्या नहीं बल्कि शहादत का दर्जा देते हैं। उनको लगता है कि उस समय पुरुषों ने औरतों के फ़ैसले को बहादुरी से स्वीकार किया। बल्कि कई दफ़े तो उन्होंने औरतों को अपनी जान देने के लिए उकसाया भी। हर साल 13 मार्च को जब उनकी "शहादत" पर कार्यक्रम आयोजित किया जाता है तो इस घटना को मर्दों, औरतों और बच्चों की सभा में विस्तार से सुनाया जाता है। औरतों को अपनी बहनों के बलिदान और बहादुरी को अपने दिलों में संजोने और ख़ुद को भी उसी साँचे में ढालने के लिए प्रेरित किया जाता है।

यह स्मृति कार्यक्रम समुदाय के ज़िंदा बचे लोगों के लिए उन यादों को जीवित रखने में मदद देता है। इस कार्यक्रम में उन औरतों को याद नहीं किया जाता है जो मरना नहीं चाहती थीं, जिन्हें अपनी इच्छा के ख़िलाफ़ मौत का रास्ता चुनना पड़ा।

➲ चर्चा कीजिए...

किन विचारों की वजह से विभाजन के दौरान कई निर्दोष महिलाओं की मृत्यु हुई और उन्होंने कष्ट उठाया?

भारतीय और पाकिस्तानी सरकारें क्यों 'अपनी' महिलाओं की अदला-बदली के लिए तैयार हुईं?

क्या आपको लगता है कि ऐसा करते समय वे सही थे?

6. क्षेत्रीय विविधताएँ

अभी तक हम आम लोगों के जिन अनुभवों पर चर्चा कर रहे हैं वे उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी इलाक़े से संबंधित थे। आइए देखें कि बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य भारत और दक्कन में विभाजन किस रूप में सामने आया? कलकत्ता और नोआखली में 1946 में भी जनसंहार हो चुके थे लेकिन विभाजन का सबसे ख़ूनी और विनाशकारी रूप पंजाब में सामने आया। पश्चिमी पंजाब से तक़रीबन सभी हिंदुओं और सिखों को भारत की तरफ़ और तक़रीबन सभी पंजाबी भाषी मुसलमानों को पाकिस्तान की तरफ़ हाँक दिया गया। और यह सब कुछ 1946 से 1948 के बीच, महज़ दो साल में हो गया।

उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और हैदराबाद (आंध्र प्रदेश) के बहुत सारे परिवार पचास के दशक और साठ के दशक के शुरुआती सालों में भी पाकिस्तान जाकर बसते रहे लेकिन बहुत सारों ने भारत में ही रहने का फ़ैसला किया। पाकिस्तान गए ऐसे ज़्यादातर उर्दू भाषी लोग, जिन्हें मुहाजिर (अप्रवासी) कहा जाता है, सिंध के कराची-हैदराबाद इलाक़े में बस गए।

बंगाल में यह पलायन ज़्यादा लंबे समय तक चलता रहा। लोग ढीली-ढाली अंतर्राष्ट्रीय सीमा के आर-पार जाते रहे। इसका एक अर्थ यह था कि बंगाली विभाजन से जो पीड़ा उपजी वह उतनी तीखी नहीं थी लेकिन जिसकी टीस लगातार महसूस होती रही। पंजाब के विपरीत, बंगाल में धर्म के आधार पर आबादी का बँटवारा भी उतना साफ़ नहीं था। बहुत सारे बंगाली हिंदू पूर्वी पाकिस्तान में जबकि बहुत सारे बंगाली मुसलमान पश्चिम बंगाल में ही रुके रहे। आख़िरकार, बंगाली मुसलमानों (पूर्वी पाकिस्तानियों) ने अपनी राजनीतिक पहलकदमी के ज़रिए जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धांत को नकारते हुए पाकिस्तान से अलग होने का फ़ैसला लिया और 1971-72 में बांग्लादेश की स्थापना हुई। ज़ाहिर है, इस्लाम पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान को एक-दूसरे से जोड़कर नहीं रख पाया।

इसके बावजूद पंजाब और बंगाल के अनुभवों में ज़बरदस्त समानताएँ भी दिखाई देती हैं। दोनों ही जगह औरतों व लड़कियों को यातना का मुख्य निशाना बनाया गया। हमलावर औरतों की देह को जीते जाने वाले इलाक़े की तरह देखते थे। एक समुदाय की औरतों के अपमान को उनके पूरे समुदाय के अपमान तथा बदले की कार्रवाई के रूप में देखा जाता था।

चित्र 14.13
हताश चेहरे
1947 में पुराने क़िले के भीतर एक विशाल शरणार्थी शिविर खोला गया था जिसमें विभिन्न स्थानों से आने वाले शरण लेते थे।

कहानी, कविता, फ़िल्म

क्या आप विभाजन से संबंधित किसी लघुकथा, उपन्यास, कविता या फ़िल्म के बारे में जानते हैं? प्राय: ऐसा होता है कि बँटवारे से संबंधित साहित्य और फ़िल्मों में उस विध्वंसक घटना को इतिहासकारों के मुक़ाबले ज़्यादा गहरी अंतर्दृष्टि के साथ पेश किया जाता है। उनमें सामूहिक पीड़ा और कठिनाइयों को किसी एक व्यक्ति या एक छोटे से समूह के ज़रिए समझने की कोशिश की जाती है। उनकी नियति एक ऐसी विशाल घटना से तय होती है जिस पर उनका कोई वश नहीं था। इन कृतियों में उस समय के आक्रोश व भ्रमों, लोगों को जो अजीबोग़रीब रास्ते अपनाने पड़े, उनको दर्ज किया जाता है। उनमें हिंसा की भीषणता, इनसानी पतन और दुर्दशा पर सदमे व हैरानी का भाव दिखता है। उनमें उस उम्मीद और उन तरीकों का भी ज़िक्र होता है जिनके ज़रिए लोग ऐसी मुश्किल घड़ियों का मुक़ाबला करते हैं।

उर्दू के बेहद प्रतिभाशाली कहानीकार सआदत हसन मंटो ने अपने लेखन के बारे में कहा था:

> लंबे अर्से तक मैं देश के बँटवारे से अपनी उथल-पुथल के नतीजों को स्वीकार करने से इनकार करता रहा। महसूस तो मैं अब भी वही करता हूँ, पर मुझे लगता है कि आख़िरकार मैंने अपने आप पर तरस खाए या हताश हुए बगैर उस ख़ौफ़नाक सच्चाई को मंजूर कर लिया है। इस प्रक्रिया में मैंने इनसान के बनाए हुए लहू के इस समुंदर से अनोख़ी आब वाले मोतियों को निकालने की कोशिश की- मैंने इनसानों को मारनेवाले इनसानों की एकचित्त धुन के बारे में लिखा, उनमें से कुछ के पछतावे के बारे में लिखा, उन क़ातिलों के बहाए गए आँसुओं के बारे में लिखा जो समझ नहीं पा रहे थे कि उनमें अब तक कुछ इनसानी जज़्बे बाकी कैसे रह गए। इन तमाम, और इनके अलावा और भी बहुत-सी बातों को मैंने अपनी किताब *सियाह हाशिये* में लिखा है।'

विभाजन से संबंधित साहित्य और फ़िल्में बहुत सारी भाषाओं में मौजूद हैं। हिंदी, उर्दू, पंजाबी, सिंधी, बंगाली, असमिया और अंग्रेज़ी, इन सारी भाषाओं में इस विषय पर खूब काम हुआ है। संभव है आप मंटो, राजिन्दर सिंह बेदी, इन्तेज़ार हुसैन (उर्दू); भीष्म साहनी, कमलेश्वर, राही मासूम रज़ा (हिंदी); नारायण भारती (सिंधी); संत सिंह सेखों (पंजाबी); नरेन्द्रनाथ मित्रा, सैयद वलीउल्ला (बंगला); ललिताम्बिका अंतरज्ञानम (मलयालम); अमिताव घोष और बाप्सी सिधवा (अंग्रेज़ी) जैसे लेखकों को पढ़ना चाहते हों। अमृता प्रीतम, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ और दिनेश दास ने पंजाबी, उर्दू और बंगला में विभाजन पर यादगार कविताएँ लिखी हैं। संभव है इस विषय पर आप कुछ और फ़िल्में भी देखना चाहें। इस दिशा में आप ऋत्विक घटक (*मेघे ढाका तारा और सुबर्णरेखा*), एम.एस. सथ्यू (*गर्म हवा*), गोविन्द निहलानी (*तमस*), और हबीब तनवीर द्वारा निर्देशित नाटक *जिस लाहौर नई देख्या, ओ जम्या-ई-नई* को देख सकते हैं।

➲ चर्चा कीजिए...

क्या विभाजन से आपके राज्य या किसी पड़ोसी राज्य पर भी असर पड़ा? पता लगाइए कि इससे इलाक़े के मर्द-औरतों की ज़िंदगियों पर क्या असर पड़े और उन्होंने हालात का किस तरह सामना किया।

7. मदद, मानवता, सद्भावना

हिंसा के कचरे और विभाजन की पीड़ा के तले, इनसानियत और सौहार्द का एक विशाल इतिहास दबा पड़ा है। अब्दुल लतीफ़ के मर्मस्पर्शी बयानों जैसे बहुत सारे वृत्तांतों से इस बात का पता चलता है। इतिहासकारों ने इस आशय की अनगिनत कहानियाँ उजागर की हैं कि किस तरह बहुत सारे आम लोग बँटवारे के वक़्त एक-दूसरे की मदद भी कर रहे थे। ये आपसी हमदर्दी और साझेदारी, नए मौक़ों के खुलने और सदमे पर विजय की कहानियाँ हैं।

इस लिहाज़ से खुशदेव सिंह हमारे सामने एक बेहतरीन मिसाल हैं। खुशदेव सिंह एक सिख डॉक्टर थे और तपेदिक के विशेषज्ञ थे। वे उस समय धर्मपुर में तैनात थे जो अब हिमाचल प्रदेश में पड़ता है। दिन-रात लग कर डॉक्टर साहब ने असंख्य प्रवासी मुसलमानों, सिखों, हिंदुओं को बिना किसी भेदभाव के एक कोमल स्पर्श, भोजन, आश्रय और सुरक्षा प्रदान की। धर्मपुर के लोगों में उनके इनसानी जज़्बे और सहृदयता के प्रति गहरी आस्था और विश्वास पैदा हो गया था। उन पर लोगों का वैसा ही भरोसा था जैसा दिल्ली और कई जगह के मुसलमानों को गाँधीजी पर था। उनमें से एक, मुहम्मद उमर ने खुशदेव सिंह को चिट्ठी में लिखा था : "पूरी विनम्रता से मैं यह कहना चाहता हूँ कि मुझे आपके अलावा किसी की शरण में सुरक्षा दिखाई नहीं देती। इसलिए मेहरबानी करके आप मुझे अपने अस्पताल में एक सीट दे दीजिए।"

इस डॉक्टर द्वारा किए गए अथक राहत प्रयासों के बारे में उनके संस्मरणों – *लव इज़ स्ट्राँगर देन हेट, ए रिमेम्बेरेंस ऑफ़ 1947* (मुहब्बत नफ़रत से ज़्यादा ताक़तवर होती है : 1947 की यादें) से पता चलता है। यहाँ डॉक्टर साहब ने अपने कामों को बयान करते हुए लिखा है कि यह "एक इनसान होने के नाते बिरादर इनसानों के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी का निर्वाह करते हुए मेरी छोटी सी कोशिश" थी। उन्होंने 1949 में कराची की दो संक्षिप्त यात्राओं का गर्व से ज़िक्र किया है। उनके पुराने दोस्तों और धर्मपुर में उनसे मदद लेने वालों को कराची हवाई अड्डे पर

चित्र 14.14
हर जगह शरणार्थी शिविर लोगों से भरे हुए थे और इन लोगों को केवल खाना और छत ही नहीं चाहिए थी बल्कि प्यार और सहृदयता की भी ज़रूरत थी।

स्रोत 7

अंगूरों की एक छोटी सी टोकरी

कराची हवाई अड्डे पर 1949 में हुई मुलाक़ात का ब्योरा : डॉ. खुशदेव सिंह की ज़बानी :

'मेरे दोस्त मुझे हवाई अड्डे के एक कमरे में ले गए जहाँ हम सब बैठकर गपशप करने लगे.... (और) साथ ही दोपहर का खाना भी खाया। मुझे कराची से रात 2.30 बजे की उड़ान से लंदन जाना था।.... शाम को 5.00 बजे ..... मैंने अपने दोस्तों से निवेदन किया कि उन्होंने बड़ी फ़राख़दिली से मुझे अपना समय दिया है। मेरी समझ से अब उनसे सारी रात रुकने की उम्मीद करना तो बड़ी ज़्यादती होगी और वे यह तकलीफ़ न ही उठाएँ। मगर रात के खाने तक कोई भी नहीं उठा..... फिर उन्होंने कहा कि वे लोग जा रहे हैं और मैं जहाज़ पर चढ़ने से पहले थोड़ा आराम कर लूँ।.... मैं रात के क़रीब पौने दो बजे उठा और जब दरवाज़ा खोला तो पाया कि वे सबके सब तब तक वहीं थे।..... वे सब जहाज़ तक मेरे साथ आए और बिछुड़ने के पहले उन्होंने मुझे अंगूरों की एक छोटी सी टोकरी भेंट की। मेरे लिए प्यार के इस उमड़ते सैलाब और इस पड़ाव से मुझे मिली खुशी के लिए कृतज्ञता व्यक्त करने को मेरे पास शब्द नहीं थे।

➲ **चर्चा कीजिए...**

इस बारे में और जानकारी जुटाएँ कि किस तरह लोगों ने विभाजन के समय एक-दूसरे को मदद दी और कई लोगों की ज़िंदगी बचाई।

उनके साथ कुछ यादगार घंटे बिताने का मौका मिला। पहले से उन्हें जानने वाले 6 पुलिस काँस्टेबल उन्हें लेकर जहाज़ तक गए और जहाज़ पर चढ़ते हुए उन्हें सलामी दी। "मैंने हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया। मेरी आँखों से आँसू छलक आए थे।"

8. मौखिक गवाही और इतिहास

क्या आपने उन चीज़ों पर गौर किया है जिनके सहारे इस अध्याय में विभाजन के इतिहास को सूत्रों में पिरोया जा रहा है। मौखिक वृत्तांत, संस्मरण, डायरियाँ, पारिवारिक इतिहास और स्वलिखित ब्योरे – इन सबसे तक़सीम के दौरान आम लोगों की कठिनाइयों व मुसीबतों को समझने में मदद मिलती है। लाखों लोग बँटवारे को पीड़ा तथा एक स्याह दौर की चुनौती के रूप में देखते हैं। उनके लिए यह सिर्फ़ संवैधानिक विभाजन या मुस्लिम लीग, कांग्रेस अथवा औरों की दलगत सियासत का मामला ही नहीं था। उनके लिए यह जीवन में अनपेक्षित बदलावों का वक़्त था। 1946-1950 के और उसके बाद भी जारी रहने वाले इन बदलावों से निपटने के लिए मनोवैज्ञानिक, भावनात्मक और सामाजिक समायोजन की ज़रूरत थी। यूरोपीय महाध्वंस (होलोकॉस्ट) की तरह हमें विभाजन को सिर्फ़ एक राजनीतिक घटना के रूप में नहीं देखना चाहिए बल्कि इससे गुज़रने वालों द्वारा उसे दिए गए अर्थों के ज़रिए भी समझना चाहिए। किसी घटना की हक़ीक़त को स्मृतियों और अनुभवों से भी आकार मिलता है।

व्यक्तिगत स्मृतियों – जो एक तरह का मौखिक स्रोत है – की एक ख़ूबी यह है कि उनमें हमें अनुभवों और स्मृतियों को और बारीक़ी से समझने का मौका मिलता है। इससे इतिहासकारों को बँटवारे जैसी घटनाओं के दौरान लोगों के साथ क्या-क्या हुआ, इस बारे में बहुरंगी और सजीव वृत्तांत लिखने की काबिलियत मिलती है। सरकारी दस्तावेज़ों से इस तरह की जानकारियाँ हासिल कर पाना नामुमकिन होता है। सरकारी दस्तावेज़ नीतिगत और दलगत मामलों तथा विभिन्न सरकारी योजनाओं से संबंधित होते हैं। विभाजन के मामले में सरकारी रिपोर्टों व फ़ाइलों और आला सरकारी अफ़सरों के निजी लेखन से अंग्रेज़ों तथा प्रमुख राजनीतिक पार्टियों के बीच भारत के भविष्य या शरणार्थियों के पुनर्वास के बारे में चलने वाली वार्ताओं पर तो काफ़ी रोशनी पड़ती है लेकिन उनसे देश विभाजन के लिए सरकार द्वारा लिए गए फ़ैसलों से प्रभावित होने वालों के रोज़मर्रा हालात और अनुभवों के बारे में ख़ास पता नहीं चलता।

मौखिक इतिहास से इतिहासकारों को ग़रीबों और कमज़ोरों – मसलन अब्दुल लतीफ़ के पिता, थुआ खालसा की औरतों, गेहूँ के खाली बोरों को बेच कर चार पैसे का जुगाड़ करने और थोक भाव पर खुदरा गेहूँ बेचने वाले शरणार्थियों, बिहार में बन रही सड़क पर काम के बोझ से दोहरी हुई जा रही एक मध्यवर्गीय बंगाली विधवा, एक पेशावरी व्यापारी जिसे भारत जा कर कटक में छोटी-मोटी नौकरी गज़ब की चीज़ दिखाई

दे रही थी लेकिन जिसे यह मालूम न था कि "कटक कहाँ है, यह हिंदुस्तान के ऊपरी हिस्से में है या निचले हिस्से में, पेशावर में तो हमने कभी उसके बारे में सुना नहीं" – के अनुभवों को उपेक्षा के अंधकार से निकाल कर अपने विषय के किनारों को और फैलाने का मौका मिलता है।

इस प्रकार संपन्न और सुज्ञात लोगों की गतिविधियों से आगे जाते हुए विभाजन का मौखिक इतिहास ऐसे मर्दों-औरतों के अनुभवों की पड़ताल करने में कामयाब रहा है जिनके वजूद को अब तक नज़रअंदाज़ कर दिया जाता था, सहज-स्वाभाविक मान लिया जाता था, या जिनका मुख्यधारा के इतिहास में बस चलते-चलते ज़िक्र कर दिया जाता था। यह उल्लेखनीय बात है क्योंकि जो इतिहास हम आमतौर पर पढ़ते हैं उसमें आम इनसानों के जीवन और कार्यों को अकसर पहुँच के बाहर या महत्वहीन मान लिया जाता है।

अभी भी बहुत सारे इतिहासकार मौखिक इतिहास के बारे में शंकालु हैं। वे यह कह कर इसको खारिज कर रहे हैं कि मौखिक जानकारियों में सटीकता नहीं होती और उनसे घटनाओं का जो क्रम उभरता है वह अकसर सही नहीं होता। इतिहासकारों की दलील है कि निजी तजुर्बों की विशिष्टता के सहारे समान्यकरण करना, यानी किसी सामान्य नतीजे पर पहुँचना मुश्किल होता है। उनका कहना है कि इस तरह के छोटे-छोटे अनुभवों से मुक़म्मल तसवीर नहीं बनाई जा सकती और सिर्फ़ एक गवाह को गवाह नहीं माना जा सकता। उनको यह भी लगता है कि मौखिक विवरण सतही मुद्दों से ताल्लुक रखते हैं और यादों में चस्पां रह जाने वाले छोटे-छोटे अनुभव इतिहास की वृहत्तर प्रक्रियाओं का कारण ढूँढ़ने में अप्रासंगिक होते हैं।

भारत के विभाजन और जर्मनी के महाध्वंस जैसी घटनाओं के संदर्भ में ऐसी गवाहियों की कोई कमी नहीं होगी जिनसे पता चलता है कि उनके दरमियान अनगिनत लोगों ने कितनी तरह की और कितनी भीषण कठिनाइयों व तनावों का सामना किया। इस प्रकार इनमें रुझानों की शिनाख़्त करने और अपवादों को चिह्नित करने के लिए साक्ष्यों की भरमार है। मौखिक या लिखित बयानों की तुलना करके उनसे निकलने वाले नतीजों को दूसरे स्रोतों से मिलाकर देखने और आंतरिक अंतर्विरोधों के बारे में चौकस रहते हुए इतिहासकार किसी भी दिए गए साक्ष्य की विश्वसनीयता को तौल सकते हैं। इसके अलावा वैसे भी, अगर इतिहास में साधारण व कमज़ोरों के वजूद को जगह देनी है तो यह कहने में कोई हर्ज़ नहीं है कि बँटवारे का मौखिक इतिहास केवल सतही मुद्दों से संबंधित नहीं है। विभाजन के अनुभव पूरी कहानी का इस कदर केंद्रीय हिस्सा हैं कि अन्य स्रोतों की जाँच करने के लिए मौखिक स्रोतों तथा मौखिक स्रोतों की जाँच करने के लिए अन्य स्रोतों का इस्तेमाल किया ही जाना चाहिए। अलग तरह के सवालों के जवाब ढूँढ़ने के लिए अलग तरह के स्रोतों को तो ढूँढ़ना ही होगा। मिसाल के तौर पर, सरकारी रिपोर्टों से हमें भारतीय और पाकिस्तानी सरकारों द्वारा "बरामद" की गई औरतों की अदला-बदली और तादाद का पता तो चल जाता है लेकिन उन औरतों ने भोगा क्या, उन पर क्या कुछ बीती, इसका जवाब तो सिर्फ़ वे औरतें ही दे सकती हैं।

लेकिन हमें इस बात का एहसास होना चाहिए कि बँटवारे के बारे में मौखिक ब्योरे ख़ुद-ब-ख़ुद या आसानी से उपलब्ध नहीं होते। उन्हें साक्षात्कार के ज़रिए ही हासिल किया जा सकता है और साक्षात्कार में भी लोगों के दर्द के अहसास और सूझबूझ से काम लेना पड़ता है। इस सिलसिले में सबसे पहले मुश्किल यही होती है कि मुमकिन है इन अनुभवों से गुज़रने वाले निहायत निजी आपबीती के बारे में बात करने को राज़ी ही न हों। मिसाल के तौर पर, कोई ऐसी औरत किसी अजनबी के सामने अपने ख़ौफ़नाक अनुभवों को कैसे बेपर्दा कर देगी जिसका बलात्कार किया गया था? साक्षात्कार लेने वालों को किसी की एकदम निजी पीड़ा और सदमे में झाँकने से आमतौर पर परहेज़ करना चाहिए। उन्हें पीड़ित महिला से सघन और उपयोगी जानकारियाँ हासिल करने के लिए आत्मीय संबंध विकसित करने चाहिए। इसके बाद याददाश्त की समस्या आती है, सो अलग। किसी घटना के बारे में कुछ दशक बाद जब बात की जाती है तो लोग क्या याद रखते हैं या भूल जाते हैं, यह आंशिक रूप से इस पर निर्भर करता है कि बीच के सालों में उनके अनुभव किस तरह के रहे हैं, इस दौरान उनके समुदायों और राष्ट्रों के साथ क्या हुआ है। मौखिक इतिहासकारों को विभाजन के "वास्तविक" अनुभवों को "निर्मित" स्मृतियों के जाल से बाहर निकालने का चुनौतीपूर्ण काम भी करना पड़ता है।

निष्कर्षतः, विभाजन का एक समग्र वृत्तांत बुनने के लिए बहुत तरह के स्रोतों का इस्तेमाल करना ज़रूरी है ताकि हम उसे एक घटना के साथ-साथ एक प्रक्रिया के रूप में भी देख सकें और उन लोगों के अनुभवों को समझ सकें जो उस स्याह ख़ौफ़नाक दौर से गुज़र रहे थे।

चित्र 14.15
न तो सभी गाड़ी से यात्रा कर सकते थे और न ही सभी पैदल चल सकते थे।

काल-रेखा

1930	प्रसिद्ध उर्दू कवि मुहम्मद इक़बाल एकीकृत ढीले-ढाले भारतीय संघ के भीतर एक 'उत्तर-पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य' की ज़रूरत का विचार पेश करते हैं
1933, 1935	कैम्ब्रिज में पढ़ने वाले एक पंजाबी मुसलमान युवक चौधरी रहमत अली ने पाकिस्तान या *पाक-स्तान* नाम पेश किया
1937-39	ब्रिटिश भारत के 11 में से 7 प्रांतों में कांग्रेस के मत्रिमंडल सत्ता में आए
1940	लाहौर में मुस्लिम लीग मुस्लिम बहुल इलाकों के लिए कुछ हद तक स्वायत्तता की माँग करते हुए प्रस्ताव पेश करती है
1946	प्रांतों में चुनाव संपन्न होते हैं। सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में कांग्रेस को और मुस्लिम सीटों पर मुस्लिम लीग को शानदार कामयाबी मिलती है।
मार्च से जून	ब्रिटिश कैबिनेट अपना तीन सदस्य मिशन दिल्ली भेजता है
अगस्त	मुस्लिम लीग पाकिस्तान की स्थापना के लिए 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' के पक्ष में फ़ैसला लेती है
16 अगस्त	कलकत्ता में हिंदू-सिखों और मुसलमानों के बीच हिंसा फूट पड़ती है, कई दिन चलने वाली इस हिंसा में हज़ारों लोग मारे जाते हैं
मार्च 1947	कांग्रेस हाईकमान पंजाब को मुस्लिम बहुल और हिंदू/सिख बहुल हिस्सों में बाँटने के पक्ष में फ़ैसला लेता है और बंगाल में भी इसी सिद्धांत को अपनाने का आह्वान करता है
मार्च 1947 के बाद	अंग्रेज़ भारत छोड़कर जाने लगते हैं
14-15 अगस्त 1947	पाकिस्तान का गठन होता है; भारत स्वतंत्र होता है। महात्मा गाँधी सांप्रदायिक सौहार्द बहाल करने के लिए बंगाल का दौरा करते हैं

उत्तर दीजिए (लगभग 100 से 150 शब्दों में)

1. 1940 के प्रस्ताव के ज़रिए मुस्लिम लीग ने क्या माँग की?
2. कुछ लोगों को ऐसा क्यों लगता था कि बँटवारा बहुत अचानक हुआ?
3. आम लोग विभाजन को किस तरह देखते थे?
4. विभाजन के ख़िलाफ़ महात्मा गाँधी की दलील क्या थी?
5. विभाजन को दक्षिणी एशिया के इतिहास में एक ऐतिहासिक मोड़ क्यों माना जाता है?

निम्नलिखित पर एक लघु निबंध लिखिए (लगभग 250 से 300 शब्दों में)

6. ब्रिटिश भारत का बँटवारा क्यों किया गया?
7. बँटवारे के समय औरतों के क्या अनुभव रहे?
8. बँटवारे के सवाल पर कांग्रेस की सोच कैसे बदली?
9. मौखिक इतिहास के फ़ायदे/नुकसानों की पड़ताल कीजिए। मौखिक इतिहास की पद्धतियों से विभाजन के बारे में हमारी समझ को किस तरह विस्तार मिलता है?

मानचित्र कार्य

10. दक्षिणी एशिया के नक्शे पर कैबिनेट मिशन प्रस्तावों में उल्लिखित भाग, क, ख और ग को चिह्नित कीजिए। यह नक्शा मौजूदा दक्षिण एशिया के राजनैतिक नक्शे से किस तरह अलग है?

परियोजना कार्य (कोई एक)

11. यूगोस्लाविया के विभाजन को जन्म देने वाली नृजातीय हिंसा के बारे में पता लगाइए। उसमें आप जिन नतीजों पर पहुँचते हैं उनकी तुलना इस अध्याय में भारत विभाजन के बारे में बताई गई बातों से कीजिए।
12. पता लगाइए कि क्या आपके शहर, कस्बे, गाँव या आस-पास के किसी स्थान पर दूर से कोई समुदाय आकर बसा है (हो सकता है आपके इलाक़े में बँटवारे के समय आए लोग भी रहते हों)। ऐसे समुदायों के लोगों से बात कीजिए और अपने निष्कर्षों को एक रिपोर्ट में संकलित कीजिए। लोगों से पूछिए कि वे कहाँ से आए हैं, उन्हें अपनी जगह क्यों छोड़नी पड़ी और उससे पहले व बाद में उनके कैसे अनुभव रहे। यह भी पता लगाइए कि उनके आने से क्या बदलाव पैदा हुए।

यदि आप और जानकारी चाहते हैं तो इन्हें पढ़िए :

जसोदरा बागची एवं शुभॉरंजन दासगुप्ता (सं.), 2003
द ट्रॉमा एंड दि ट्रायम्फ़ : जेंडर एंड पार्टीशन इन इर्स्टन इंडिया, स्त्री, कोलकाता

आलोक भल्ला (सं.), 1994
स्टोरीज़ एबाउट द पार्टीशन ऑफ़ इंडिया, खंड, 1, 2, 3 इंडस (हार्पर कॉलिंस), नयी दिल्ली

उर्वशी बुटालिया, 1998
द अदर साइड ऑफ़ वॉयलेंस : वॉयसेज़ फ़्रॉम द पार्टीशन ऑफ़ इंडिया, वाइकिंग (पेंगुइन बुक्स), नयी दिल्ली

ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, 2001
रिमेम्बरिंग पार्टीशन : वॉयलेंस, नेशनलिज़्म एंड हिस्ट्री इन इंडिया,
कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज

अनिता इंदर सिंह, 2006
द पार्टीशन ऑफ़ इंडिया,
नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली

इयान टालबॉट, 1998
पंजाब एंड द राज, 1849-1947,
मनोहर, दिल्ली

अध्याय
पंद्रह

संविधान का निर्माण
एक नए युग की शुरुआत

भारतीय संविधान 26 जनवरी 1950 को अस्तित्व में आया और यह दुनिया का सबसे लंबा संविधान है। यदि हम अपने देश के आकार और विविधता पर ध्यान दें तो इसकी लंबाई व पेचीदगी को आसानी से समझ सकते हैं। स्वतंत्रता के समय भारत न केवल एक विशाल और विविधतापूर्ण बल्कि गहरे तौर पर बिखरा हुआ देश भी था। ऐसे में देश की एकजुटता और प्रगति के लिए एक विस्तृत, गहन विचार-विमर्श पर आधारित और सावधानीपूर्वक सूत्रबद्ध किया गया संविधान लाज़िमी था। हमारे संविधान ने अतीत और वर्तमान के घावों पर मरहम लगाने और विभिन्न वर्गों, जातियों व समुदायों में बँटे भारतीयों को एक साझा राजनीतिक प्रयोग में शामिल करने में मदद दी है। दूसरी ओर, इस संविधान ने लंबे समय से चली आ रही ऊँच-नीच और अधीनता की संस्कृति में लोकतांत्रिक संस्थानों को विकसित करने का भी प्रयास किया है।

भारत के संविधान को दिसंबर 1946 से दिसंबर 1949 के बीच सूत्रबद्ध किया गया। इस दौरान संविधान सभा में इसके मसविदे के एक-एक भाग पर लंबी चर्चाएँ चलीं। संविधान सभा

चित्र 15.1
दिसंबर 1949 में तीन साल तक चली बहस के बाद संविधान पर हस्ताक्षर किए गए।

के कुल 11 सत्र हुए जिनमें 165 दिन बैठकों में गए। सत्रों के बीच विभिन्न समितियाँ और उपसमितियाँ मसविदे को सुधारने और सँवारने का काम करती थीं।

राजनीति शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके होंगे कि भारत का संविधान कैसा है। आप देख चुके हैं कि आज़ादी के बाद इस संविधान की क्या उपयोगिता और सार्थकता रही है। इस अध्याय में हम संविधान के इतिहास और उसके निर्माण के दौरान हुई गहन परिचर्चा को जानेंगे। यदि संविधान सभा में उठने वाली आवाज़ों को सुनने का प्रयास करें तो हमें उन प्रक्रियाओं का अंदाज़ा लग जाएगा जिनके माध्यम से संविधान को सूत्रबद्ध किया गया और एक नए राष्ट्र की कल्पना साकार हुई।

1. उथल-पुथल का दौर

चित्र 15.2
विनाश और उथल-पुथल की छवियाँ संविधान सभा के सदस्यों को लंबे समय तक परेशान करती रहीं।

संविधान निर्माण से पहले के साल काफी उथल-पुथल वाले थे। यह महान आशाओं का क्षण भी था और भीषण मोहभंग का भी। 15 अगस्त 1947 को भारत आज़ाद तो कर दिया गया किंतु इसके साथ ही इसे विभाजित भी कर दिया गया। लोगों की स्मृति में 1942 का भारत छोड़ो आंदोलन अभी भी जीवित था जो ब्रिटिश राज के खिलाफ संभवतः सबसे व्यापक जनांदोलन था। विदेशी सहायता से सशस्त्र संघर्ष के जरिए स्वतंत्रता पाने के लिए सुभाष चंद्र बोस द्वारा किए गए प्रयास भी लोगों को बखूबी याद थे। 1946 के वसंत में बम्बई तथा अन्य शहरों में रॉयल इंडियन नेवी (शाही भारतीय नौसेना) के सिपाहियों का विद्रोह भी लोगों को बार-बार आंदोलित कर रहा था। लोगों की सहानुभूति सिपाहियों के साथ थी। चालीस के दशक के आखिरी सालों में देश के विभिन्न भागों में मजदूरों और किसानों के आंदोलन भी हो रहे थे।

व्यापक हिंदू-मुस्लिम एकता इन जनांदोलनों का एक अहम पहलू था। इसके विपरीत कांग्रेस और मुस्लिम लीग, दोनों प्रमुख राजनीतिक दल धार्मिक सौहार्द्र और सामाजिक सामंजस्य स्थापित करने के लिए सुलह-सफाई की कोशिशों में नाकामयाब होते जा रहे थे। अगस्त 1946 में कलकत्ता में शुरू हुई हिंसा के साथ उत्तरी और पूर्वी भारत में लगभग साल भर तक चलने वाला दंगे-फसाद और हत्याओं का लंबा सिलसिला शुरू हो गया था (अध्याय 13 और 14 देखिए)। बर्बर हिंसा का यह वीभत्स नाच भीषण जनसंहारों के साथ हुआ। इसके साथ ही देश-विभाजन की घोषणा हुई और असंख्य लोग एक जगह से दूसरी जगह जाने लगे।

15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता दिवस पर आनंद और उम्मीद का जो माहौल था वह उस समय के लोगों को कभी नहीं भूलेगा। लेकिन भारत के बहुत सारे मुसलमानों और पाकिस्तान में रहने वाले हिंदुओं व सिखों

चित्र 15.3
14 अगस्त 1947 की मध्यरात्रि को संविधान सभा में बोलते जवाहरलाल नेहरू
इसी समय नेहरू ने अपना वह प्रसिद्ध भाषण दिया था जिसकी शुरुआती पंक्तियाँ इस प्रकार थीं : "बहुत समय पहले हमने नियति से साक्षात्कार किया था और अब समय आ चुका है कि हम अपने उस संकल्प को न केवल पूर्ण रूप से या समग्रता में, बल्कि उल्लेखनीय रूप से साकार करें। अर्धरात्रि के इस क्षण में जब दुनिया सो रही है, भारत जीवन और स्वतंत्रता की ओर जाग रहा है।"

के लिए यह एक निर्मम चुनाव का क्षण था – उनके सामने यह तत्क्षण मृत्यु तथा पीढ़ियों पुरानी जड़ों से उखड़ जाने के बीच चुनाव का क्षण था। करोड़ों शरणार्थी यहाँ से वहाँ जा रहे थे। मुसलमान पूर्वी व पश्चिमी पाकिस्तान की तरफ तो हिंदू और सिख पश्चिमी बंगाल व पूर्वी पंजाब की तरफ बढ़े जा रहे थे। उनमें से बहुत सारे कभी मंज़िल तक नहीं पहुँचे, बीच रास्ते में ही मर गए।

नवजात राष्ट्र के सामने इतनी ही गंभीर एक और समस्या देशी रियासतों को लेकर थी। ब्रिटिश राज के दौरान उपमहाद्वीप का लगभग एक-तिहाई भू-भाग ऐसे नवाबों और रजवाड़ों के नियंत्रण में था जो ब्रिटिश ताज की अधीनता स्वीकार कर चुके थे। उनके पास अपने राज्यों को जैसे चाहे चलाने की सीमित ही सही लेकिन काफी आज़ादी थी। जब अंग्रेज़ों ने भारत छोड़ा तो इन नवाबों और राजाओं की संवैधानिक स्थिति बहुत अजीब हो गई। एक समकालीन प्रेक्षक ने कहा था कि कुछ महाराजा तो "बहुत सारे टुकड़ों में बँटे भारत में स्वतंत्र सत्ता का सपना देख रहे थे।"

संविधान सभा की बैठकें इसी पृष्ठभूमि में संपन्न हो रही थीं। बाहर जो कुछ चल रहा था उससे संविधान सभा में होने वाली बहस और विचार-विमर्श भी भला अछूता कैसे रह सकता था?

1.1 संविधान सभा का गठन

संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव सार्वभौमिक मताधिकार के आधार पर नहीं हुआ था। 1945-46 की सर्दियों में भारत के प्रांतों में चुनाव हुए थे। इसके पश्चात् प्रांतीय संसदों ने संविधान सभा के सदस्यों को चुना।

नई संविधान सभा में कांग्रेस प्रभावशाली थी। प्रांतीय चुनावों में

कांग्रेस ने सामान्य चुनाव क्षेत्रों में भारी जीत प्राप्त की और मुस्लिम लीग को अधिकांश आरक्षित मुस्लिम सीटें मिल गईं। लेकिन लीग ने संविधान सभा का बहिष्कार उचित समझा और एक अन्य संविधान बना कर उसने पाकिस्तान की माँग को जारी रखा। शुरुआत में समाजवादी भी संविधान सभा से परे रहे क्योंकि वे उसे अंग्रेज़ों की बनाई हुई संस्था मानते थे। वे मानते थे कि इस सभा का वाक़ई स्वायत्त होना असंभव है। इन सभी कारणों से संविधान सभा के 82 प्रतिशत सदस्य कांग्रेस पार्टी के ही सदस्य थे।

परंतु सभी कांग्रेस सदस्य एकमत नहीं थे। कई निर्णायक मुद्दों पर उनके मत भिन्न हो सकते थे। कई कांग्रेसी समाजवाद से प्रेरित थे तो कई अन्य ज़मींदारी के हिमायती थे। कुछ साम्प्रदायिक दलों के करीब थे लेकिन कई पक्के धर्मनिर्पेक्ष। राष्ट्रीय आंदोलन की वजह से कांग्रेसी वाद-विवाद करना और मत-भेदों पर बात-चीत कर समझौतों की खोज करना सीख गए थे। संविधान सभा में भी कांग्रेस सदस्यों ने कुछ ऐसा ही रुख़ अपनाया।

संविधान सभा में हुई चर्चाएँ जनमत से भी प्रभावित होती थीं। जब संविधान सभा में बहस होती थी तो विभिन्न पक्षों की दलीलें अख़बारों में भी छपती थीं और तमाम प्रस्तावों पर सार्वजनिक रूप से बहस चलती थी। इस तरह प्रेस में होने वाली इस आलोचना और जवाबी आलोचना से किसी मुद्दे पर बनने वाली सहमति या असहमति पर गहरा असर पड़ता था। सामूहिक सहभागिता बनाने के लिए जनता के सुझाव भी आमंत्रित किए जाते थे। कई भाषाई अल्पसंख्यक अपनी मातृभाषा की रक्षा की

चित्र 15.4
संविधान सभा का अधिवेशन।
सरदार वल्लभ भाई पटेल दाएँ से दूसरे स्थान पर बैठे हैं।

माँग करते थे। धार्मिक अल्पसंख्यक अपने विशेष हित सुरक्षित करवाना चाहते थे और दलित जाति-शोषण के अंत की माँग करते हुए सरकारी संस्थाओं में आरक्षण चाहते थे। सभा में सांस्कृतिक अधिकारों एवं समाजिक न्याय के कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर चल रही सार्वजनिक चर्चाओं पर बहस हुई।

1.2 मुख्य आवाज़ें

संविधान सभा में तीन सौ सदस्य थे। इनमें से छह सदस्यों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। इन छह में से तीन – जवाहर लाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल और राजेंद्र प्रसाद – कांग्रेस के सदस्य थे। एक निर्णायक प्रस्ताव, "उद्देश्य प्रस्ताव" को नेहरू ने पेश किया था। उन्होंने यह प्रस्ताव भी पेश किया था कि भारत का राष्ट्रीय ध्वज "केसरिया, सफ़ेद और गहरे हरे रंग की तीन बराबर चौड़ाई वाली पट्टियों का तिरंगा" झंडा होगा जिसके बीच में गहरे नीले रंग का चक्र होगा। पटेल मुख्य रूप से परदे के पीछे कई महत्त्वपूर्ण काम कर रहे थे। उन्होंने कई रिपोर्टों के प्रारूप लिखने में खास मदद की और कई परस्पर विरोधी विचारों के बीच सहमति पैदा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। राजेंद्र प्रसाद संविधान सभा के अध्यक्ष थे। सभा में चर्चा रचनात्मक दिशा ले और सभी सदस्यों को अपनी बात कहने का मौका मिले – यह उनकी ज़िम्मेदारियाँ थीं।

कांग्रेस के इस त्रिगुट के अलावा प्रख्यात विधिवेत्ता और अर्थशास्त्री बी.आर. अम्बेडकर भी सभा के सबसे महत्त्वपूर्ण सदस्यों में से एक थे। यद्यपि ब्रिटिश शासन के दौरान अम्बेडकर कांग्रेस के राजनीतिक विरोधी रहे थे, परंतु स्वतंत्रता के समय महात्मा गाँधी की सलाह पर उन्हें केंद्रीय विधि मंत्री का पद सँभालने का न्यौता दिया गया था। इस भूमिका में उन्होंने संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में काम किया। उनके साथ दो अन्य वकील भी काम कर रहे थे। एक गुजरात के के. एम. मुंशी थे और दूसरे मद्रास के अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर। दोनों ने ही संविधान के प्रारूप पर महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए।

इन छह सदस्यों को दो प्रशासनिक अधिकारियों ने महत्त्वपूर्ण सहायता दी। इनमें से एक बी.एन. राव थे। वह भारत सरकार के संवैधानिक सलाहकार थे और उन्होंने अन्य देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का गहन अध्ययन करके कई चर्चा पत्र तैयार किए थे। दूसरे अधिकारी एस.एन. मुखर्जी थे। इनकी भूमिका मुख्य योजनाकार की थी। मुखर्जी जटिल प्रस्तावों को स्पष्ट वैधिक भाषा में व्यक्त करने की क्षमता रखते थे।

अम्बेडकर के पास सभा में संविधान के प्रारूप को पारित करवाने की ज़िम्मेदारी थी। इस काम में कुल मिलाकर 3 वर्ष लगे और इस दौरान हुई चर्चाओं के मुद्रित रिकॉर्ड 11 भारी-भरकम खंडों में प्रकाशित हुए। यह लंबी मगर दिलचस्प प्रक्रिया थी। संविधान सभा के सदस्यों ने अपने विविध दृष्टिकोण बड़ी सफ़ाई से पेश किए थे। उनकी प्रस्तुतियों में हम भारत के भविष्य से जुड़े कई मुद्दों पर परस्पर विरोधी विचार देख सकते हैं: देश के भावी स्वरूप पर, भारतीय भाषाओं, राष्ट्र को कौन सी राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाएँ अपनानी चाहिए, नागरिकों के नैतिक मूल्य कैसे होने चाहिए और कैसे नहीं – इन सभी प्रश्नों पर भी।

➲ चर्चा कीजिए...

अध्याय 13 और 14 को एक बार फिर देखिए। अब चर्चा कीजिए कि उस समय के राजनीतिक हालात से संविधान सभा में चले बहस-मुबाहिसे पर किस तरह असर पड़ा।

चित्र 15.5
बी.आर. अम्बेडकर हिंदू कोड बिल पर चर्चा का संचालन कर रहे हैं।

2. संविधान की दृष्टि

13 दिसंबर 1946 को जवाहर लाल नेहरू ने संविधान सभा के सामने ''उद्देश्य प्रस्ताव'' पेश किया। यह एक ऐतिहासिक प्रस्ताव था जिसमें स्वतंत्र भारत के संविधान के मूल आदर्शों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी और वह फ़्रेमवर्क सुझाया गया था जिसके तहत संविधान का कार्य आगे बढ़ना था। इसमें भारत को एक "स्वतंत्र सम्प्रभु गणराज्य" घोषित किया गया था, नागरिकों को न्याय, समानता व स्वतंत्रता का आश्वासन दिया गया था, और यह वचन दिया गया था कि "अल्पसंख्यकों, पिछड़े व जनजातीय क्षेत्रों एवं दमित व अन्य पिछड़े वर्गों के लिए पर्याप्त रक्षात्मक प्रावधान किए जाएँगे...।" इन उद्देश्यों को रेखांकित करते हुए नेहरू ने भारतीय प्रयोग को एक व्यापक ऐतिहासिक संदर्भ में प्रस्तुत किया। इस अवसर पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि उनकी नज़र बरबस अतीत में हुए उन ऐतिहासिक प्रयोगों की ओर जा रही है जिनमें अधिकारों के ऐसे दस्तावेज़ तैयार किए गए थे।

स्रोत 1

"हम सिर्फ नकल करने वाले नहीं हैं"

13 दिसंबर 1946 को अपने प्रसिद्ध भाषण में जवाहरलाल नेहरू ने यह कहा था :

मेरे ज़हन में बार-बार वे सारी संविधान सभाएँ आ रही हैं जो पहले यह काम कर चुकी हैं। मुझे उस महान अमेरिकी राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया का खयाल आ रहा है जहाँ राष्ट्र-निर्माताओं ने एक ऐसा संविधान रच दिया जो इतने सारे सालों, डेढ़ सदी से भी ज़्यादा समय तक काल की कसौटी पर खरा उतरा है। उन्होंने एक महान राष्ट्र गढ़ा जो उसी संविधान पर आधारित है। इसके साथ ही मेरी नज़र उस महान क्रांति की ओर जाती है जो 150 साल पहले एक अन्य स्थान पर हुई थी। मुझे उस संविधान सभा का विचार आता है जो स्वतंत्रता के लिए इतने सारे संघर्ष लड़ने वाले पेरिस के भव्य एवं खूबसूरत शहर में जुटी थी। उस संविधान सभा ने कितनी मुश्किलों का सामना किया था और किस तरह राजा व तमाम अन्य अधिकारी उसके रास्ते में रोड़ा बन रहे थे। इतिहास के ये सारे अध्याय बरबस मुझे याद आ रहे हैं। सदन इस बात को याद रखेगा कि जब इस तरह की मुश्किलें आईं और जब उन संविधान सभाओं के लिए एक कमरा तक नहीं दिया जा रहा था तो उन्होंने टेनिस के खुले मैदान में सभा की थी और एक शपथ ली थी जिसे 'टेनिस कोर्ट की शपथ' के नाम से जाना जाता है। उन्होंने राजाओं व अन्य ताकतों की रुकावटों के बावजूद अपनी बैठकें जारी रखीं और तब तक वहाँ से नहीं हिले जब तक उन्होंने अपना काम पूरा नहीं कर लिया था। मुझे विश्वास है कि हम भी उसी शुद्ध भावना से यहाँ इकट्ठा हुए हैं और चाहे हमारी बैठक इस कक्ष में हो या कहीं और, चाहे खेतों में हो या बाज़ार में, हमारी बैठकें तब तक जारी रहेंगी जब तक हम अपना काम पूरा नहीं कर लेंगे।

जारी...

स्रोत 1 जारी...

इसके साथ ही मुझे हाल की एक क्रांति का विचार आता है जिसमें एक नए किस्म के राज्य का जन्म हुआ। यह रूस की क्रांति थी जिसने दुनिया के एक शक्तिशाली देश के रूप में सोवियत समाजवादी गणराज्य को जन्म दिया। आज यह देश दुनिया में अप्रतिम भूमिका निभा रहा है। यह न केवल दुनिया का ताकतवर देश है बल्कि हमारा पड़ोसी भी है।

ये सारे महान प्रयोग हमारे सामने हैं। हमें उनकी सफलताओं से सीखना है और उनकी विफलताओं से बचने का प्रयास करना है। हो सकता है हम उन्ही विफलताओं से बचने में सफल न हो पाएँ क्योंकि किसी भी इनसानी कोशिश में थोड़ी-बहुत नाकामी की गुंजाइश तो रहती ही है। परंतु, मुझे विश्वास है कि तमाम रुकावटों और कठिनाइयों के बावजूद हम आगे बढ़ेंगे और उस सपने को प्राप्त व साकार करके ही दम लेंगे जिसे हम इतने अरसे से अपने दिलों में संजोए हुए हैं...।

हमने एक स्वतंत्र संप्रभु गणराज्य की स्थापना का दृढ़ और पवित्र संकल्प लिया है। भारत का संप्रभु होना नियत है। इसका स्वतंत्र होना और गणराज्य होना भी स्वाभाविक है...। कुछ मित्रों ने सवाल उठाया है : "आपने यहाँ 'लोकतांत्रिक' शब्द क्यों नहीं रखा।" मैंने उन्हें कहा है कि निस्संदेह यह सोचा जा सकता है कि कोई गणराज्य लोकतांत्रिक न हो परंतु हमारा पूरा इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि हम लोकतांत्रिक संस्थानों के ही पक्षधर हैं। स्वाभाविक है कि हमारा लक्ष्य लोकतंत्र है। लोकतंत्र से कम कुछ भी नहीं। यह लोकतंत्र कैसा होगा, उसकी शक्ल-सूरत कैसी होगी, यह एक अलग मसला है? आज के लोकतंत्रों ने दुनिया की प्रगति में जबरदस्त भूमिका निभायी है और उनमें से बहुत सारे यूरोप तथा अन्य स्थानों के देश हैं। परंतु यह संदेहजनक हो सकता है कि अगर उन्हें पूरी तरह लोकतांत्रिक बने रहना है तो न जाने कब उन लोकतंत्रों को अपनी शक्ल-सूरत थोड़ी बहुत बदलनी पड़ती। मैं आशा करता हूँ कि किसी कथित लोकतांत्रिक देश की एक खास लोकतांत्रिक प्रणाली या किसी संस्थान विशेष की हम सिर्फ नकल करने वाले नहीं हैं। हो सकता है कि हम उससे बेहतर कुछ रच दें। बहरहाल, किसी भी सूरत में, हम यहाँ जैसी चाहे सरकार बनाएँ, वह हमारे लोगों के स्वभाव के अनुरूप और उनको स्वीकार्य ज़रूर होनी चाहिए। हम लोकतंत्र के हक में हैं। यह इस सदन को तय करना है कि इस लोकतंत्र, पूर्णतम लोकतंत्र का स्वरूप कैसा होगा। सदन इस बात को देख सकता है यद्यपि इस प्रस्ताव में हमने "लोकतांत्रिक" शब्द का इस्तेमाल नहीं किया है क्योंकि हमें लगा कि यह तो स्वाभाविक ही है कि "गणराज्य" शब्द में यह शब्द पहले ही निहित होता है। इसलिए हम अनावश्यक और अनुपयोगी शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहते थे। हमने शब्दों के उपयोग मात्र से कहीं ज़्यादा ध्यान दिया है। हमने इस प्रस्ताव में लोकतंत्र की अंतर्वस्तु प्रस्तुत की है। बल्कि लोकतंत्र की ही नहीं, आर्थिक लोकतंत्र की अंतर्वस्तु प्रस्तुत की है। अन्य सदस्यों को इस बात पर आपत्ति हो सकती है कि इस प्रस्ताव में हमने भारत को एक समाजवादी राज्य बनाने का उल्लेख क्यों नहीं किया है। यहाँ मेरा केवल इतना ही कहना है कि मैं समाजवाद का समर्थक हूँ और मुझे आशा है कि एक दिन भारत भी समाजवाद के पक्ष में होगा और वही भारत एक समाजवादी राज्य की स्थापना के मार्ग पर चलेगा और मुझे पूरा विश्वास है कि एक दिन पूरी दुनिया को इसी मार्ग पर चलना होगा।

संविधान सभा बहस, खंड 1

टेनिस कोर्ट की शपथ

नेहरू के भाषण (स्रोत 1) की सावधानी से पड़ताल की जानी चाहिए। उसमें क्या कहा जा रहा है? नेहरू के अतीत-प्रेम से क्या पता चलता है? संविधान की दृष्टि को निर्धारित करने वाले विचारों के उदगम के बारे में वह क्या कह रहे हैं? अतीत की ओर जाते हुए अमेरिकी और फ़्रांसीसी क्रांति का हवाला देते हुए नेहरू भारत में संविधान निर्माण के इतिहास को मुक्ति व स्वतंत्रता के एक लंबे ऐतिहासिक संघर्ष का हिस्सा सिद्ध कर रहे हैं। वह भारतीय संघर्ष के ऐतिहासिक महत्त्व को अतीत के क्रांतिकारिक क्षणों के समकक्ष बता रहे हैं। लेकिन नेहरू के कहने का आशय यह नहीं है कि उन घटनाओं को आज के लिए ब्लूप्रिंट मान लिया जाए; या कि उन क्रांतियों के विचारों को बिना सोचे-विचारे भारत पर लागू किया जा सकता है। वह किसी खास तरह के लोकतंत्र को अपनाने का विरोध करते हैं और कहते हैं कि हमारे लोकतंत्र की रूपरेखा हमारे बीच होने वाली चर्चा से ही उभरेगी। वे इस बात पर जोर देते हैं कि भारत में संविधान के आदर्श और प्रावधान कहीं और से उठाए गए नहीं हो सकते। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि 'हम सिर्फ नकल करने वाले नहीं हैं'। उनके शब्दों में, भारत में शासन की जो व्यवस्था स्थापित हो वह 'हमारे लोगों के स्वभाव के अनुरूप और उनको स्वीकार्य होनी चाहिए।' पश्चिम से, वहाँ की उपलब्धियों और विफलताओं से सबक लेना ज़रूरी तो है लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि पश्चिमी समाजों को भी अन्य स्थानों पर हुए प्रयोगों से बहुत कुछ सीखना पड़ा था और लोकतंत्र की अपनी अवधारणा बदलनी पड़ी थी। भारतीय संविधान का उद्देश्य यह होगा कि लोकतंत्र के उदारवादी विचारों और आर्थिक न्याय के समाजवादी विचारों का एक-दूसरे में समावेश किया जाए और भारतीय संदर्भ में इन विचारों की रचनात्मक व्याख्या की जाए। नेहरू इस बात पर जोर दे रहे थे कि भारत के लिए क्या उचित है – इस बारे में हमें रचनात्मक ढंग से सोचना चाहिए।

➲ उद्देश्य प्रस्ताव में "लोकतांत्रिक" शब्द का इस्तेमाल न करने के लिए जवाहरलाल नेहरू ने क्या कारण बताया था?

2.1 लोगों की इच्छा

संविधान सभा के कम्युनिस्ट सदस्य सोमनाथ लाहिड़ी को संविधान सभा की चर्चाओं पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्याह साया दिखाई देता था। उन्होंने सदस्यों तथा आम भारतीयों से आग्रह किया कि वे साम्राज्यवादी शासन के प्रभाव से खुद को पूरी तरह आज़ाद करें। 1946-47 के जाड़ों में जब संविधान सभा में चर्चा चल रही थी तो अंग्रेज़ अभी भी भारत में ही थे। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार शासन तो चला रही थी परंतु उसे सारा काम वायसराय तथा लंदन में बैठी ब्रिटिश सरकार की देखरेख में करना पड़ता था। लाहिड़ी ने अपने साथियों को समझाया कि संविधान सभा अंग्रेज़ों की बनाई हुई है और वह 'अंग्रेज़ों की योजना को साकार करने का काम कर रही है।'

चित्र 15.6
अंतरिम सरकार के सदस्य
प्रथम पंक्ति (बाएँ से दाएँ) : बलदेव सिंह, जॉन मथाई, सी. राजगोपालाचारी, जवाहरलाल नेहरू, लियाक़त अली ख़ान, वल्लभ भाई पटेल, आई.आई. चुंद्रीगर, आसफ अली, सी.एच. भाभा।
द्वितीय पंक्ति (बाएँ से दाएँ) : जगजीवन राम, गज़नफर अली ख़ान, राजेन्द्र प्रसाद, अब्दुर निश्तर।

स्रोत 2

"बहुत अच्छा महोदय – साहसिक शब्द, उदात्त शब्द"

सोमनाथ लाहिड़ी ने कहा था :

महोदय मैं पंडित नेहरू को इस बात के लिए मुबारकबाद देना चाहता हूँ कि उन्होंने यह कह कर भारतीय जनता की भावना को इतने सटीक शब्दों में व्यक्त किया है कि भारत के लोग अंग्रेज़ों द्वारा थोपी गई किसी चीज को स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने कहा कि इस तरह की जबरदस्ती पर असंतोष व आपत्ति व्यक्त की जाएगी और अगर आवश्यकता हुई तो हम संघर्ष की घाटी में उतरेंगे। बहुत अच्छा महोदय – साहसिक शब्द, उदात्त शब्द।

परंतु देखना यह है कि इस चुनौती को आप कैसे और कब साकार करते हैं। महोदय, मसला यह है कि यह जबरदस्ती इसी समय की जा रही है। न केवल ब्रिटिश योजना ने भावी संविधान बना दिया है... जो अंग्रेज़ों की संतुष्टि पर आश्रित होगा बल्कि इससे यह भी संकेत मिलता है कि मामूली से मामूली मतभेद के लिए भी आपको संघीय न्यायालय तक दौड़ना होगा या वहाँ इंग्लैंड में जाकर नाचना पड़ेगा; या ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लेमेंट एटली या किसी और के दरवाज़े पर दस्तक देनी होगी। केवल यही सच नहीं है कि हम चाहे जो भी योजना क्यों न बनाएँ यह संविधान सभा ब्रिटिश बंदूकों, ब्रिटिश सेना, उनके आर्थिक व वित्तीय शिकंजे के साये में है – इसका मतलब यह निकलता है कि मूल रूप से सत्ता अभी भी अंग्रेज़ों के हाथ में है और सत्ता का प्रश्न बुनियादी तौर पर अभी तय नहीं हुआ है, जिसका अर्थ यह निकलता है कि हमारा भविष्य अभी भी पूरी तरह हमारे हाथों में नहीं है। इतना ही नहीं, हाल ही में एटली तथा अन्य लोगों द्वारा दिए गए वक्तव्यों में यह भी स्पष्ट हो गया है कि अगर ज़रूरत पड़ी तो वे विभाजन से भी पीछे नहीं हटेंगे। महोदय इसका आशय यह है कि इस देश में कोई स्वतंत्रता नहीं है। जैसा कि अभी कुछ दिन पहले सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा था, हमारे पास केवल आपस में लड़ने की स्वतंत्रता है। हमें बस इतनी ही स्वतंत्रता मिली है...। इसलिए हमारा विनम्र सुझाव है कि यहाँ सवाल इस योजना की रूपरेखा के जरिए कुछ पा लेने का नहीं बल्कि यहाँ और अभी स्वतंत्रता की घोषणा करने और अंतरिम सरकार, भारत की जनता से यह आह्वान करने का है कि वे आपस में लड़ने की बजाय अपने शत्रु को देखें, जिसके हाथ में अभी भी कोड़ा है, वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद को देखें – और उससे मिलकर लड़ने के लिए आगे बढ़ें और जब हम स्वतंत्र हो जाएँगे, तब हम अपने दावों का हल ढूँढ़ सकते हैं।

संविधान सभा बहस, खंड 1

नेहरू ने स्वीकार किया कि ज़्यादातर राष्ट्रवादी नेता एक भिन्न प्रकार की संविधान सभा चाहते थे। एक लिहाज से यह भी सही था कि ब्रिटिश सरकार का 'उसके गठन में काफी हाथ था' और उसने सभा के कामकाज पर कुछ शर्तें भी लगा दी थीं। 'परंतु', नेहरू ने कहा, 'आपको उस स्रोत को नज़रअंदाज नहीं करना चाहिए जहाँ से इस सभा को शक्ति मिल रही है।'

> सरकारें सरकारी कागजों से नहीं बनतीं। सरकार जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है। हम यहाँ इसलिए जुटे हैं क्योंकि हमारे पास जनता की ताकत है और हम उतनी दूर तक ही जाएँगे जितनी दूर तक लोग हमें ले जाना चाहेंगे फिर चाहे वे किसी भी समूह या पार्टी से संबंधित क्यों न हों। इसलिए हमें भारतीय जनता के दिलों में समायी आकांक्षाओं और भावनाओं को हमेशा अपने ज़ेहन में रखना चाहिए और उन्हें पूरा करने का प्रयास करना चाहिए।

संविधान सभा उन लोगों की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का साधन मानी जा रही थी जिन्होंने स्वतंत्रता के आंदोलनों में हिस्सा लिया था। लोकतंत्र, समानता तथा न्याय जैसे आदर्श उन्नीसवीं सदी से भारत में सामाजिक संघर्षों के साथ गहरे तौर पर जुड़ चुके थे। जब उन्नीसवीं शताब्दी में समाज सुधारकों ने बाल-विवाह का विरोध किया और विधवा-विवाह का समर्थन किया तो वे सामाजिक न्याय का ही अलख जगा रहे थे। जब विवेकानंद ने हिंदू धर्म में सुधार के लिए मुहिम चलाई तो वह धर्मों को और ज़्यादा न्यायसंगत बनाने का ही प्रयास कर रहे थे। जब महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले ने दमित जातियों की पीड़ा का सवाल उठाया या कम्युनिस्टों और सोशलिस्टों ने मजदूरों और किसानों को एकजुट किया तो वे भी आर्थिक और सामाजिक न्याय के लिए ही जूझ रहे थे। एक दमनकारी और अवैध सरकार के खिलाफ राष्ट्रीय आंदोलन अपरिहार्य रूप से लोकतंत्र व न्याय का, नागरिकों के अधिकारों और समानता का संघर्ष भी था।

जैसे-जैसे प्रतिनिधित्व की माँग बढ़ी, अंग्रेज़ों को चरणबद्ध ढंग से संवैधानिक सुधार करने पड़े। प्रांतीय सरकारों में भारतीयों की हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए कई कानून (1909, 1919 और 1935) पारित किए गए। 1919 में कार्यपालिका को आंशिक रूप से प्रांतीय विधायिका के प्रति उत्तरदायी बनाया गया और 1935 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट के अंतर्गत उसे लगभग पूरी तरह विधायिका के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया। जब गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट के तहत 1937 में चुनाव हुए तो 11 में से 8 प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी।

➲ स्रोत 2 में वक्ता को ऐसा क्यों लगता है कि संविधान सभा ब्रिटिश बंदूकों के साये में काम कर रही है।

चित्र 15.7
एडविन मोंटेग्यू (बाएँ) ने ही 1919 के मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की रूपरेखा तैयार की थी जिनके जरिए प्रांतीय विधायिकाओं में सीमित प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लागू हुई थी।

➲ चर्चा कीजिए...
जवाहरलाल नेहरू ने "उद्देश्य प्रस्ताव" पर अपने भाषण में कौन से विचार पेश किए?

इसके बावजूद हम पहले के संवैधानिक बदलावों तथा 1946 से अगले तीन साल के दौरान घटी घटनाओं को स्वाभाविक रूप से एक ही प्रक्रिया का हिस्सा नहीं मान सकते। इससे पहले के संवैधानिक प्रयोग एक प्रतिनिध्यात्मक सरकार के लिए लगातार बढ़ती माँग के जवाब में थे जबकि विभिन्न कानूनों (1909, 1919 और 1935) को पारित करने की प्रक्रिया में भारतीयों की कोई प्रत्यक्ष हिस्सेदारी नहीं थी। उन्हें औपनिवेशिक सरकार ने ही लागू किया था। प्रांतीय निकायों का चुनाव करने वाले निर्वाचन मंडल का दायरा समय के साथ फैलता जा रहा था लेकिन 1935 में भी यह अधिकार वयस्क आबादी के 10-15 प्रतिशत हिस्से तक ही सीमित था। तब तक सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार की व्यवस्था नहीं थी। 1935 के कानून के तहत निर्वाचित विधायिकाएँ औपनिवेशिक शासन के ढाँचे में काम कर रही थीं और अंग्रेज़ों द्वारा नियुक्त गवर्नर के प्रति उत्तरदायी थीं। 13 दिसंबर 1946 को नेहरू जिस कल्पना की बात कर रहे थे वह एक स्वतंत्र संप्रभु भारतीय गणराज्य के संविधान की कल्पना थी।

3. अधिकारों का निर्धारण

नागरिकों के अधिकार किस तरह निर्धारित किए जाएँ? क्या उत्पीड़ित समूहों को कोई विशेष अधिकार मिलने चाहिए? अल्पसंख्यकों के क्या अधिकार हों? वास्तव में अल्पसंख्यक किसे कहा जाए? जैसे-जैसे संविधान सभा के पटल पर बहस आगे बढ़ी, यह साफ हो गया कि इनमें से किसी भी सवाल का कोई ऐसा उत्तर मौजूद नहीं है जिस पर पूरी सभा सहमत हो। इन सवालों के जवाब विचारों में टकराव और व्यक्तिगत मुठभेड़ों से ही पैदा होने थे। अपने उद्घाटन भाषण में नेहरू ने "जनता की इच्छा" का हवाला दिया था और कहा था कि संविधान निर्माताओं को "जनता के दिलों में समायी आकांक्षाओं और भावनाओं" को पूरा करना है। यह कोई आसान काम नहीं था। जैसे-जैसे आज़ादी की उम्मीद पैदा हुई, विभिन्न समूह अलग-अलग तरह से अपनी इच्छाएँ व्यक्त करने लगे। इन सभी अभिव्यक्तियों पर बहस करना ज़रूरी था। परस्पर विरोधी विचारों के बीच किसी समाधान पर पहुँचना और एक आम सहमति पर पहुँचना ज़रूरी था।

3.1 पृथक निर्वाचिका की समस्या

27 अगस्त 1947 को मद्रास के बी. पोकर बहादुर ने पृथक निर्वाचिका बनाए रखने के पक्ष में एक प्रभावशाली भाषण दिया। बहादुर ने कहा कि अल्पसंख्यक सब जगह होते हैं; उन्हें हम चाह कर भी नहीं हटा सकते। हमें ज़रूरत एक ऐसे राजनीतिक ढाँचे की है जिसके भीतर अल्पसंख्यक भी औरों के साथ सद्भाव के साथ जी सकें और समुदायों के बीच मतभेद कम से कम हों। इसके लिए ज़रूरी है कि राजनीतिक व्यवस्था में अल्पसंख्यकों का पूरा प्रतिनिधित्व हो, उनकी आवाज़ सुनी जाए और उनके विचारों पर ध्यान दिया जाए। देश के शासन में मुसलमानों की एक सार्थक हिस्सेदारी

सुनिश्चित करने के लिए पृथक निर्वाचिका के अलावा और कोई रास्ता नहीं हो सकता। बहादुर को लगता था कि मुसलमानों की ज़रूरतों को गैर-मुसलमान अच्छी तरह नहीं समझ सकते; न ही अन्य समुदायों के लोग मुसलमानों का कोई सही प्रतिनिधि चुन सकते हैं।

पृथक निर्वाचिका की हिमायत में दिए गए इस बयान से ज़्यादातर राष्ट्रवादी भड़क गए। इसके बाद जो गरमागरम बहस चली उसमें इस माँग के खिलाफ़ तरह-तरह के तर्क दिए गए। ज़्यादातर राष्ट्रवादियों को लग रहा था कि पृथक निर्वाचिका की व्यवस्था लोगों को बाँटने के लिए अंग्रेज़ों की चाल थी। आर.वी. धुलेकर ने बहादुर को संबोधित करते हुए कहा था, "अंग्रेज़ों ने संरक्षण के नाम पर अपना खेल खेला। इसकी आड़ में उन्होंने तुम्हें (अल्पसंख्यकों) फुसला लिया है। अब इस आदत को छोड़ दो...। अब कोई तुम्हें बहकाने वाला नहीं है।"

विभाजन के कारण तो राष्ट्रवादी नेता पृथक निर्वाचिका के प्रस्ताव पर और भड़कने लगे थे। उन्हें निरंतर गृहयुद्ध, दंगों और हिंसा की आशंका दिखाई देती थी। सरदार पटेल ने कहा था कि पृथक निर्वाचिका एक ऐसा "विष है जो हमारे देश की पूरी राजनीति में समा चुका है।" उनकी राय में यह एक ऐसी माँग थी जिसने एक समुदाय को दूसरे समुदाय से भिड़ा दिया, राष्ट्र के टुकड़े कर दिए, रक्तपात को जन्म दिया और देश के विभाजन का कारण बनी। पटेल ने कहा, "क्या तुम इस देश में शांति चाहते हो? अगर चाहते हो तो इसे (पृथक निर्वाचिका को) फौरन छोड़ दो।"

चित्र 15.8
1946 के जाड़ों में भारतीय नेता एटली के साथ वार्ता करने लंदन गए। इन वार्ताओं का कोई नतीजा नहीं निकला। (बाएँ से दाएँ - लियाकत अली, मोहम्मद अली जिन्ना, बलदेव सिंह, पैथिक-लॉरेंस)

स्रोत 3

"अंग्रेज़ तो चले गए, मगर जाते-जाते शरारत का बीज बो गए"

सरदार वल्लभ भाई पटेल ने कहा था :

यह दोहराने का कोई मतलब नहीं है कि हम पृथक निर्वाचिका की माँग इसलिए कर रहे हैं क्योंकि हमारे लिए यही अच्छा है। यह बात हम बहुत समय से सुन रहे हैं। हम सालों से यह सुन रहे हैं और इसी आंदोलन के कारण अब हम एक विभाजित राष्ट्र हैं...। क्या आप मुझे एक भी स्वतंत्र देश दिखा सकते हैं जहाँ पृथक निर्वाचिका हो? अगर आप मुझे दिखा दें तो मैं आपकी बात मान लूँगा। लेकिन अगर इस अभागे देश में विभाजन के बाद भी पृथक निर्वाचिका की व्यवस्था बनाए रखी गई तो यहाँ जीने का कोई मतलब नहीं होगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि यह सिर्फ मेरे भले की बात नहीं है बल्कि आपका भला भी इसी में है कि हम अतीत को भूल जाएँ। एक दिन हम एकजुट हो सकते हैं...। अंग्रेज़ तो चले गए, मगर जाते-जाते शरारत का बीज बो गए हैं। हम इस शरारत को और बढ़ाना नहीं चाहते। (सुनिए, सुनिए)। जब अंग्रेज़ों ने यह विचार पेश किया था तो उन्होंने यह उम्मीद नहीं की थी कि उन्हें इतनी जल्दी भागना पड़ेगा। उन्होंने तो अपने शासन की सुविधा के लिए यह किया था। खैर, कोई बात नहीं। मगर अब वे अपनी विरासत पीछे छोड़ गए हैं। अब हम इससे बाहर निकलेंगे या नहीं?

संविधान सभा बहस, खंड 5

पृथक निर्वाचिकाओं की माँग का जवाब देते हुए गोविन्द वल्लभ पंत ने ऐलान किया कि यह प्रस्ताव न केवल राष्ट्र के लिए बल्कि अल्पसंख्यकों के लिए भी खतरनाक है। वह बहादुर के इस विचार से सहमत थे कि किसी लोकतंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि समाज के विभिन्न तबकों में वह कितना आत्मविश्वास पैदा कर पाती है। उन्हें इस तर्क पर भी कोई आपत्ति नहीं थी कि एक मुक्त देश में प्रत्येक नागरिक के साथ ऐसा आचरण किया जाना चाहिए जिससे "न केवल उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो बल्कि उसमें स्वाभिमान का आध्यात्मिक भाव भी पैदा हो" तथा बहुल समुदाय का यह दायित्व है कि वह अल्पसंख्यकों की समस्याओं को समझे, उनकी आकांक्षाओं को महसूस करे। इसके बावजूद पंत पृथक निर्वाचिका का विरोध कर रहे थे। उनका कहना था कि यह एक आत्मघाती माँग है जो अल्पसंख्यकों को स्थायी रूप से अलग-थलग कर देगी, उन्हें कमज़ोर बना देगी और शासन में उन्हें प्रभावी हिस्सेदारी नहीं मिल पाएँगी।

स्रोत 4

"मेरा मानना है कि पृथक निर्वाचिका अल्पसंख्यकों के लिए आत्मघाती साबित होगी।"

27 अगस्त 1947 को संविधान सभा की बहस में गोविंद वल्लभ पंत ने कहा था :

> मेरा मानना है कि पृथक निर्वाचिका अल्पसंख्यकों के लिए आत्मघाती साबित होगी और उन्हें बहुत भारी नुकसान पहुँचाएगी। अगर उन्हें हमेशा के लिए अलग-थलग कर दिया गया तो वे कभी भी खुद को बहुसंख्यकों में रूपांतरित नहीं कर पाएँगे। निराशा का भाव शुरू से उन्हें अपंग बना देगा। आप क्या चाहते हैं और हमारा अंतिम उद्देश्य क्या है? क्या अल्पसंख्यक हमेशा अल्पसंख्यकों के रूप में ही रहना चाहते हैं या वे भी एक दिन एक महान राष्ट्र का अभिन्न अंग बनने और उसकी नियति को निर्धारित व नियंत्रित करने का सपना देखते हैं? मेरा विचार है कि अगर उन्हें शेष समुदाय से अलग रखा जाता है और ऐसे हवाबंद कमरे में काटकर रखा जाता है जहाँ उन्हें हवा के लिए भी औरों पर निर्भर रहना पड़ेगा तो यह उनके लिए भयानक रूप से खतरनाक होगा...। अगर अल्पसंख्यक पृथक निर्वाचिकाओं से जीतकर आते रहे तो कभी प्रभावी योगदान नहीं दे पाएँगे।

संविधान सभा बहस, खंड 2

➲ स्रोत 3 और 4 को पढ़िए। पृथक निर्वाचिकाओं के विरोध में कौन-कौन से तर्क दिए गए हैं?

इन सारी दलीलों के पीछे एक एकीकृत राज्य के निर्माण की चिंता काम कर रही थी। राजनीतिक एकता और राष्ट्र की स्थापना करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के नागरिक के साँचे में ढालना था, हर समूह को

राष्ट्र के भीतर समाहित किया जाना था। संविधान नागरिकों को अधिकार देगा परंतु नागरिकों को भी राज्य के प्रति अपनी निष्ठा का वचन लेना होगा। समुदायों को सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में मान्यता दी जा सकती थी और उन्हें सांस्कृतिक अधिकारों का आश्वासन दिया जा सकता था। मगर राजनीतिक रूप से सभी समुदायों के सदस्यों को राज्य के सामान्य सदस्यों के रूप में काम करना था अन्यथा उनकी निष्ठाएँ विभाजित होतीं। पंत ने कहा, "हमारे भीतर यह आत्मघाती और अपमानजनक आदत बनी हुई है कि हम कभी नागरिक के रूप में नहीं सोचते बल्कि समुदाय के रूप में ही सोच पाते हैं...। हमें याद रखना चाहिए कि महत्त्व केवल नागरिक का होता है। सामाजिक पिरामिड का आधार भी और उसकी चोटी भी नागरिक ही होता है।" जब सामुदायिक अधिकारों का महत्त्व रेखांकित किया जा रहा था, उस समय भी बहुत सारे राष्ट्रवादियों में यह भय सिर उठाने लगा था कि इससे निष्ठाएँ खंडित होंगी और एक शक्तिशाली राष्ट्र व शक्तिशाली राज्य की स्थापना नहीं हो पाएगी।

सारे मुसलमान भी पृथक निर्वाचिका की माँग के समर्थन में नहीं थे। उदाहरण के लिए, बेगम ऐज़ाज़ रसूल को लगता था कि पृथक निर्वाचिका आत्मघाती साबित होगी क्योंकि इससे अल्पसंख्यक बहुसंख्यकों से कट जाएँगे। 1949 तक संविधान सभा के ज़्यादातर सदस्य इस बात पर सहमत हो गए थे कि पृथक निर्वाचिका का प्रस्ताव अल्पसंख्यकों के हितों के खिलाफ जाता है। इसकी बजाय मुसलमानों को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए ताकि राजनीतिक व्यवस्था में उनको एक निर्णायक आवाज़ मिल सके।

3.2 "केवल इस प्रस्ताव से काम चलने वाला नहीं है"

उद्देश्य प्रस्ताव का स्वागत करते हुए किसान आंदोलन के नेता और समाजवादी विचारों वाले एन.जी. रंगा ने आह्वान किया कि अल्पसंख्यक शब्द की व्याख्या आर्थिक स्तर पर की जानी चाहिए। रंगा की नज़र में असली अल्पसंख्यक गरीब और दबे-कुचले लोग थे। उन्होंने इस बात का स्वागत किया कि संविधान में प्रत्येक व्यक्ति को कानूनी अधिकार दिए जा रहे हैं मगर उन्होंने इसकी सीमाओं को भी चिह्नित किया। उन्होंने कहा कि जब तक संविधानसम्मत अधिकारों को लागू करने का प्रभावी इंतज़ाम नहीं किया जाएगा तब तक गरीबों के लिए इस बात का कोई मतलब नहीं है कि अब उनके पास जीने का, पूर्ण रोजगार का अधिकार आ गया है; या अब वे सभा कर सकते हैं, सम्मेलन कर सकते हैं, संगठन बना सकते हैं और उनके पास अन्य नागरिक स्वतंत्रताएँ हैं। यह ज़रूरी था कि ऐसी परिस्थितियाँ बनाई जाएँ जहाँ संविधान द्वारा दिए गए अधिकारों का जनता प्रभावी ढंग से प्रयोग कर सके। रंगा ने कहा कि, "उन्हें सहारों की ज़रूरत है। उन्हें एक सीढ़ी चाहिए।"

स्रोत 5

"खंडित निष्ठा के लिए कोई जगह नहीं"

गोविंद वल्लभ पंत ने कहा कि निष्ठावान नागरिक बनने के लिए लोगों को समुदाय और खुद को बीच में रख कर सोचने की आदत छोड़नी होगी :

> लोकतंत्र की सफलता के लिए व्यक्ति को आत्मानुशासन की कला का प्रशिक्षण लेना होगा। लोकतंत्र में व्यक्ति को अपने लिए कम तथा औरों के लिए ज़्यादा फिक्र करनी चाहिए। यहाँ खंडित निष्ठा के लिए कोई जगह नहीं है। सारी निष्ठाएँ केवल राज्य पर केंद्रित होनी चाहिए। यदि किसी लोकतंत्र में आप प्रतिस्पर्धी निष्ठाएँ रख देते हैं या ऐसी व्यवस्था खड़ी कर देते हैं जिसमें कोई व्यक्ति या समूह अपने अपव्यय पर अंकुश लगाने की बजाय बृहत्तर या अन्य हितों की ज़रा भी परवाह नहीं करता, तो ऐसे लोकतंत्र का डूबना निश्चित है।

संविधान सभा बहस, खंड 2

➲ जी. बी. पंत निष्ठावादी नागरिकों के अभिलक्षणों को कैसे परिभाषित करते हैं?

स्रोत 6

"जी नहीं, असली अल्पसंख्यक इस देश की जनता है"

जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत किए गए उद्देश्य प्रस्ताव का स्वागत करते हुए एन.जी. रंगा ने कहा था :

> महोदय, अल्पसंख्यकों के बारे में बहुत बातें हो रही हैं। असली अल्पसंख्यक कौन हैं? तथाकथित पाकिस्तानी प्रांतों में रहने वाले हिंदू, सिख और यहाँ तक मुसलमान भी अल्पसंख्यक नहीं हैं। जी नहीं, असली अल्पसंख्यक तो इस देश की जनता है। यह जनता इतनी दबी-कुचली और इतनी उत्पीड़ित है कि अभी तक साधारण नागरिक के अधिकारों का लाभ भी नहीं उठा पा रही है। स्थिति क्या है? आप आदिवासी इलाकों में जाइए। उनके अपने कानूनों, उनके जनजातीय कानूनों, उनकी ज़मीन को उनसे नहीं छीना जा सकता। लेकिन हमारे व्यापारी वहाँ जाते हैं, और तथाकथित मुक्त बाज़ार के नाम पर उनकी ज़मीन छीन लेते हैं। भले ही कानून ज़मीन की इस बेदखली के खिलाफ हो, व्यापारी इन आदिवासियों को तरह-तरह के बंधनों में जकड़कर गुलाम बना लेते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी दासता के नर्क में ढकेल देते हैं। आइए अब आम गाँव वालों को देख लेते हैं। वहाँ सूदखोर पैसा लेकर जाता है और गाँव वालों को अपनी जेब में डाल लेता है। वहाँ ज़मींदार हैं और मालगुजार व अन्य लोग हैं जो इन गरीब देहातियों का शोषण करते हैं। इन लोगों में मूलभूत शिक्षा तक नहीं है। असली अल्पसंख्यक यही लोग हैं जिन्हें सुरक्षा और सुरक्षा का आश्वासन मिलना चाहिए। उन्हें आवश्यक सुरक्षा प्रदान करने के लिए केवल इस प्रस्ताव से काम चलने वाला नहीं है...।
>
> *संविधान सभा बहस, खंड 2*

➲ रंगा द्वारा 'अल्पसंख्यक' की अवधारणा को किस तरह परिभाषित किया गया है?

रंगा ने आम जनता और संविधान सभा में उसके प्रतिनिधित्व का दावा करने वालों के बीच मौजूद विशाल खाई की ओर भी ध्यान आकर्षित कराया। उन्होंने पूछा :

> हम किसका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं? अपने देश की आम जनता का। और इसके बावजूद हममें से ज़्यादातर लोग उस जनता का हिस्सा नहीं हैं। हम उनके हैं, उनके लिए काम करना चाहते हैं, लेकिन जनता खुद संविधान सभा तक नहीं पहुँच पा रही है। इसमें कुछ समय लग सकता है, तब तक हम यहाँ उनके ट्रस्टी हैं, उनके हिमायती हैं और उनके पक्ष में आवाज़ उठाने का भरसक प्रयास कर रहे हैं।

रंगा ने आदिवासियों को भी ऐसे ही समूहों में गिनाया था। इस समूह के प्रतिनिधियों में जयपाल सिंह जैसे ज़बरदस्त वक्ता भी शामिल थे। उद्देश्य प्रस्ताव का स्वागत करते हुए जयपाल सिंह ने कहा था :

> ... एक आदिवासी होने के नाते मुझसे यह उम्मीद नहीं की जाती कि मैं इस प्रस्ताव की पेचीदगियों को समझता होऊँगा। लेकिन मेरा सहज विवेक कहता है कि हममें से हरेक व्यक्ति को मुक्ति के उस मार्ग पर चलना चाहिए और मिलकर लड़ना चाहिए। महोदय, अगर भारतीय जनता में ऐसा कोई समूह है जिसके साथ सही व्यवहार नहीं किया गया है तो वह मेरा समूह है। मेरे लोगों को पिछले 6,000 साल से अपमानित किया जा रहा है, उपेक्षित किया जा रहा है...। मेरे समाज का पूरा इतिहास भारत के गैर-मूल निवासियों के हाथों लगातार शोषण और छीनाझपटी का इतिहास रहा है जिसके बीच में जब-तब विद्रोह और अव्यवस्था भी फैली है। इसके बावजूद मैं पंडित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों पर विश्वास करता हूँ। मैं आप सबके इस संकल्प का विश्वास करता हूँ कि अब हम एक नया अध्याय रचने जा रहे हैं। स्वतंत्र भारत का एक ऐसा अध्याय जहाँ सबके पास अवसरों की समानता होगी, जहाँ किसी की उपेक्षा नहीं होगी।

सिंह ने आदिवासियों की सुरक्षा तथा उन्हें आम आबादी के स्तर पर लाने के लिए ज़रूरी परिस्थितियाँ रचने की आवश्यकता पर सुंदर वक्तव्य दिया। उन्होंने कहा कि आदिवासी कबीले संख्या की दृष्टि से अल्पसंख्यक नहीं हैं लेकिन उन्हें संरक्षण की आवश्यकता है। उन्हें वहाँ से बेदखल कर दिया गया जहाँ वे रहते थे, उन्हें उनके जंगलों और चारागाहों से वंचित कर दिया गया, उन्हें नए घरों की तलाश में भागने के लिए मजबूर किया गया। उन्हें आदिम और पिछड़ा मानते हुए शेष समाज उन्हें हिकारत की नज़र से देखता है। जयपाल ने आदिवासियों और शेष समाज के बीच मौजूद भावनात्मक और भौतिक फासले को खत्म करने के लिए बड़ा जज़्बाती बयान दिया : "हमारा कहना है कि आपको हमारे साथ घुलना-मिलना चाहिए। हम आपके साथ मेलजोल चाहते हैं...।" जयपाल सिंह पृथक निर्वाचिका के हक में नहीं थे लेकिन उनको भी यह लगता था कि विधायिका में आदिवासियों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए सीटों के आरक्षण की व्यवस्था ज़रूरी है। उन्होंने कहा कि इस तरह औरों को आदिवासियों की आवाज़ सुनने और उनके पास आने के लिए मजबूर किया जा सकेगा।

3.3 "हमें हज़ारों साल तक दबाया गया है"

संविधान में दमित जातियों (Dispressed Castes) के अधिकारों को किस तरह परिभाषित किया जाए? राष्ट्रीय आंदोलनों के दौरान अम्बेडकर ने दमित जातियों के लिए पृथक निर्वाचिकाओं की माँग की थी जिसका

स्रोत 7

"हम अपनी सामाजिक अक्षमताओं को हटाना चाहते हैं"

मद्रास की दक्षायणी वेलायुधान की दलील थी :

हमें सब तरह की सुरक्षाएँ नहीं चाहिए। इस देश के कमज़ोरों को नैतिक सुरक्षा का आवरण चाहिए ...। मैं यह नहीं मान सकती कि सात करोड़ हरिजनों को अल्पसंख्यक माना जा सकता है...। जो हम चाहते हैं वह यह है... हमारी सामाजिक अपंगताओं का फौरन खात्मा।

संविधान सभा बहस, खंड 1

स्रोत 8

हमने विशेषाधिकार कभी नहीं माँगे

बम्बई की हंसा मेहता ने महिलाओं के लिए न्याय की माँग की, आरक्षित सीटों की नहीं और न ही पृथक चुनाव क्षेत्र की :

हमने विशेषाधिकार कभी नहीं माँगे। हमने सामाजिक न्याय, आर्थिक न्याय और राजनीतिक न्याय की माँग की है। हमने उस बराबरी की माँग की है जिसके बिना पारस्परिक आदर और समझ नहीं बन सकते, जिसके बिना पुरुष और महिला के बीच वास्तविक सहयोग संभव नहीं है।

महात्मा गाँधी ने यह कहते हुए विरोध किया था कि ऐसा करने से ये समुदाय स्थायी रूप से शेष समाज से कट जाएँगे। संविधान सभा इस विवाद को कैसे हल कर सकती थी? दमित जातियों को किस तरह की सुरक्षा दी जा सकती थी?

दमित जातियों के कुछ सदस्यों का आग्रह था कि "अस्पृश्यों" (अछूतों) की समस्या को केवल संरक्षण और बचाव के ज़रिए हल नहीं किया जा सकता। उनकी अपंगता के पीछे जाति विभाजित समाज के सामाजिक कायदे-कानूनों और नैतिक मूल्य-मान्यताओं का हाथ है। समाज ने उनकी सेवाओं और श्रम का इस्तेमाल किया है परंतु उन्हें सामाजिक तौर पर खुद से दूर रखा है, अन्य जातियों के लोग उनके साथ घुलने-मिलने से कतराते हैं, उनके साथ खाना नहीं खाते और उन्हें मंदिरों में नहीं जाने दिया जाता। मद्रास के सदस्य जे. नागप्पा ने कहा था, "हम सदा कष्ट उठाते रहे हैं पर अब और कष्ट उठाने को तैयार नहीं हैं। हमें अपनी ज़िम्मेदारियों का अहसास हो गया है। हमें मालूम है कि अपनी बात कैसे मनवानी है।"

नागप्पा ने कहा कि संख्या की दृष्टि से हरिजन अल्पसंख्यक नहीं हैं। आबादी में उनका हिस्सा 20-25 प्रतिशत है। उनकी पीड़ा का कारण यह है कि उन्हें बाकायदा समाज व राजनीति के हाशिए पर रखा गया है। उसका कारण उनकी संख्यात्मक महत्त्वहीनता नहीं है। उनके पास न तो शिक्षा तक पहुँच थी और न ही शासन में हिस्सेदारी। सवर्ण बहुमत वाली संविधान सभा को संबोधित करते हुए मध्य प्रांत के श्री के.जे. खाण्डेलकर ने कहा था :

> हमें हज़ारों साल तक दबाया गया है। ... दबाया गया ... इस हद तक दबाया कि हमारे दिमाग, हमारी देह काम नहीं करती और अब हमारा हृदय भी भावशून्य हो चुका है। न ही हम आगे बढ़ने के लायक रह गए हैं। यही हमारी स्थिति है।

बँटवारे की हिंसा के बाद अम्बेडकर तक ने पृथक निर्वाचिका की माँग छोड़ दी थी। संविधान सभा ने अंततः यह सुझाव दिया कि अस्पृश्यता का उन्मूलन किया जाए, हिंदू मंदिरों को सभी जातियों के लिए खोल दिया जाए और निचली जातियों को विधायिकाओं और सरकारी नौकरियों में आरक्षण दिया जाए। बहुत सारे लोगों का मानना था कि इससे भी सारी समस्याएँ हल नहीं हो पाएँगी। सामाजिक भेदभाव को केवल संवैधानिक कानून पारित करके खत्म नहीं किया जा सकता। समाज की सोच में बदलाव लाना होगा। परंतु लोकतांत्रिक जनता ने इन प्रावधानों का स्वागत किया।

➲ चर्चा कीजिए...

आदिवासियों के लिए सुरक्षात्मक उपायों की माँग करते हुए जयपाल सिंह कौन-कौन से तर्क देते हैं?

4. राज्य की शक्तियाँ

संविधान सभा में इस बात पर काफी बहस हुई कि केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के क्या अधिकार होने चाहिए। जो लोग शक्तिशाली केंद्र के पक्ष में थे उनमें जवाहरलाल नेहरू भी थे। संविधान सभा के अध्यक्ष के नाम लिखे पत्र में उन्होंने कहा था, "अब जबकि विभाजन एक हकीकत बन चुका है... एक दुर्बल केंद्रीय शासन की व्यवस्था देश के लिए हानिकारक होगी क्योंकि ऐसा केंद्र शांति स्थापित करने में, आम सरोकारों के बीच समन्वय स्थापित करने में और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पूरे देश के लिए आवाज़ उठाने में सक्षम नहीं होगा।"

संविधान के मसविदे में विषयों की तीन सूचियाँ बनाई गयी थीं : केंद्रीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। पहली सूची के विषय केवल केंद्र सरकार के अधीन होने थे जबकि दूसरी सूची के विषय केवल राज्य सरकारों के अंतर्गत आते। तीसरी सूची के विषय केंद्र और राज्य, दोनों की साझा ज़िम्मेदारी थे। परंतु अन्य संघों की तुलना में बहुत ज़्यादा विषयों को केवल केंद्रीय नियंत्रण में रखा गया था। समवर्ती सूची में भी प्रांतों की इच्छाओं की उपेक्षा करते हुए बहुत ज़्यादा विषय रखे गए। खनिज पदार्थों तथा प्रमुख उद्योगों पर भी केंद्र सरकार को ही नियंत्रण दिया गया। अनुच्छेद 356 में गवर्नर की सिफारिश पर केंद्र सरकार को राज्य सरकार के सारे अधिकार अपने हाथ में लेने का अधिकार दे दिया।

संविधान में राजकोषीय संघवाद की भी एक जटिल व्यवस्था बनाई गयी। कुछ करों (जैसे- सीमा शुल्क और कंपनी कर) से होने वाली सारी आय केंद्र सरकार के पास रखी गई; कुछ अन्य मामलों में (जैसे - आय कर और आबकारी शुल्क) में होने वाली आय राज्य और केंद्र सरकारों के बीच बाँट दी गई तथा अन्य मामलों से होने वाली आय (जैसे राज्य स्तरीय शुल्क) पूरी तरह राज्यों को सौंप दी गई। राज्य सरकारों को अपने स्तर पर भी कुछ अधिभार और कर वसूलने का अधिकार दिया गया। उदाहरण के लिए, वे ज़मीन और संपत्ति कर, बिक्री कर तथा बोतलबंद शराब पर अलग से कर वसूल कर सकते थे।

4.1 "केंद्र बिखर जाएगा"

राज्यों के अधिकारों की सबसे शक्तिशाली हिमायत मद्रास के सदस्य के. सन्तनम ने पेश की। उन्होंने कहा कि न केवल राज्यों को बल्कि केंद्र को मजबूत बनाने के लिए भी शक्तियों का पुनर्वितरण ज़रूरी है। "यह दलील एक ज़िद-सी बन गई है कि तमाम शक्तियाँ केंद्र को सौंप देने से वह मजबूत हो जाएगा।" सन्तनम ने कहा कि यह गलतफहमी है। अगर केंद्र के पास ज़रूरत से ज़्यादा ज़िम्मेदारियाँ होंगी तो वह प्रभावी ढंग से काम नहीं कर पाएगा। उसके कुछ दायित्वों में कमी करने से और उन्हें राज्यों को सौंप देने से केंद्र ज़्यादा मजबूत हो सकता है।

स्रोत 9

बेहतर देशभक्त कौन है?

मैसूर के सर ए. रामास्वामी मुदालियार ने 21 अगस्त 1947 की बहस में कहा था :

> शक्तिशाली केंद्र की हिमायत के बहाने दिल को यह तसल्ली देने का कोई फायदा नहीं है कि हम ज़्यादा बड़े देशभक्त हैं और जो इन संसाधनों पर कड़ी नज़र रखना चाहते हैं उनके भीतर राष्ट्रीय भावना या देशभक्ति का अभाव है।

जहाँ तक राज्यों का सवाल है, सन्तनम का मानना था कि शक्तियों का मौजूदा वितरण उनको पंगु बना देगा। राजकोषीय प्रावधान प्रांतों को खोखला कर देगा क्योंकि भूराजस्व के अलावा ज़्यादातर कर केंद्र सरकार के अधिकार में दे दिए गए हैं। यदि पैसा ही नहीं होगा तो राज्यों में विकास परियोजनाएँ कैसे चलेंगी। "मैं ऐसा संविधान नहीं चाहता जिसमें इकाई को आकर केंद्र से यह कहना पड़े कि 'मैं अपने लोगों की शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर सकता। मैं उन्हें साफ-सफाई नहीं दे सकता, मुझे सड़कों में सुधार, उद्योगों की स्थापना के लिए खैरात दे दीजिए।' बेहतर होगा कि हम संघीय व्यवस्था को पूरी तरह खत्म कर दें और एकल व्यवस्था (यूनिटरी सिस्टम) स्थापित करें।" सन्तनम ने कहा कि अगर पर्याप्त जाँच-पड़ताल किए बिना शक्तियों का प्रस्तावित वितरण लागू किया गया तो हमारा भविष्य अंधकार में पड़ जाएगा। उन्होंने कहा कि कुछ ही सालों में सारे प्रांत "केंद्र के विरुद्ध" उठ खड़े होंगे।

प्रांतों के बहुत सारे दूसरे सदस्य भी इसी तरह की आशंकाओं से परेशान थे। उन्होंने इस बात के लिए जमकर ज़ोर लगाया कि समवर्ती सूची और केंद्रीय सूची में कम से कम विषयों को रखा जाए। उड़ीसा के एक सदस्य ने यहाँ तक चेतावनी दे डाली कि संविधान में शक्तियों के बेहिसाब केंद्रीकरण के कारण "केंद्र बिखर जाएगा।"

4.2 "आज हमें एक शक्तिशाली सरकार की आवश्यकता है"

प्रांतों के लिए अधिक शक्तियों की माँग से सभा में तीखी प्रतिक्रियाएँ आने लगीं। शक्तिशाली केंद्र की ज़रूरत को असंख्य अवसरों पर रेखांकित किया जा चुका था। अम्बेडकर ने घोषणा की थी कि वह "एक शक्तिशाली और एकीकृत केंद्र" चाहते हैं; (सुनिए, सुनिए); "1935 के गवर्नमेंट एक्ट में हमने जो केंद्र बनाया था उससे भी ज़्यादा शक्तिशाली केंद्र"। सड़कों पर हो रही जिस हिंसा के कारण देश टुकड़े-टुकड़े हो रहा था, उसका हवाला देते हुए बहुत सारे सदस्यों ने बार-बार यह कहा कि केंद्र की शक्तियों में भारी इज़ाफा होना चाहिए ताकि वह सांप्रदायिक हिंसा को रोक सके। प्रांतों के लिए अधिक शक्तियों की माँग का जवाब देते हुए गोपालस्वामी अय्यर ने ज़ोर देकर कहा कि "केंद्र ज़्यादा से ज़्यादा मजबूत होना चाहिए।" संयुक्त प्रांत के एक सदस्य बालकृष्ण शर्मा ने विस्तार से इस बात पर प्रकाश डाला कि एक शक्तिशाली केंद्र का होना ज़रूरी है ताकि वह देश के हित में योजना बना सके, उपलब्ध आर्थिक संसाधनों को जुटा सके, एक उचित शासन व्यवस्था स्थापित कर सके और देश को विदेशी आक्रमण से बचा सके।

विभाजन से पहले कांग्रेस ने प्रांतों को काफी स्वायत्तता देने पर अपनी सहमति व्यक्त की थी। कुछ हद तक यह मुस्लिम लीग को इस बात का

भरोसा दिलाने की कोशिश थी कि जिन प्रांतों में लीग की सरकार बनी है वहाँ दखलअंदाज़ी नहीं की जाएगी। बँटवारे को देखने के बाद ज़्यादातर राष्ट्रवादियों की राय बदल चुकी थी। उनका कहना था कि अब एक विकेंद्रीकृत संरचना के लिए पहले जैसे राजनैतिक दवाब नहीं बचे हैं।

औपनिवेशिक शासन द्वारा थोपी गई एकल व्यवस्था पहले से ही मौजूद थी। उस ज़माने में हुई घटनाओं से केंद्रीयतावाद को बढ़ावा मिला जिसे अब अफरा-तफरी पर अंकुश लगाने तथा देश के आर्थिक विकास की योजना बनाने के लिए और भी ज़रूरी माना जाने लगा। इस प्रकार संविधान में भारतीय संघ के घटक राज्यों के अधिकारों की तुलना में केंद्र के अधिकारों की ओर स्पष्ट झुकाव दिखाई देता है।

➲ चर्चा कीजिए...
एक शक्तिशाली केंद्र सरकार की हिमायत में क्या दलीलें दी जा रही थीं?

5. राष्ट्र की भाषा

जब एक देश के विभिन्न भागों में लोग अलग-अलग भाषाएँ बोलते हों, उनकी सांस्कृतिक विरासत अलग हो तो एक राष्ट्र का निर्माण कैसे किया जा सकता है? कैसे लोग एक-दूसरे की बात सुन सकते हैं या एक-दूसरे से जुड़ सकते हैं जबकि वे एक-दूसरे की भाषा भी नहीं समझते? संविधान सभा में भाषा के मुद्दे पर कई महीनों तक बहस हुई और कई बार काफी तनातनी पैदा हो गई।

तीस के दशक तक कांग्रेस ने यह मान लिया था कि हिंदुस्तानी को राष्ट्रीय भाषा का दर्ज़ा दिया जाए। महात्मा गाँधी का मानना था कि हरेक को एक ऐसी भाषा बोलनी चाहिए जिसे लोग आसानी से समझ सकें। हिंदी और उर्दू के मेल से बनी हिंदुस्तानी भारतीय जनता के बहुत बड़े हिस्से की भाषा थी और यह विविध संस्कृतियों के आदान-प्रदान से समृद्ध हुई एक साझी भाषा थी। जैसे-जैसे समय बीता, बहुत तरह के स्रोतों से नए-नए शब्द और अर्थ इसमें समाते गए और उसे विभिन्न क्षेत्रों के बहुत सारे लोग समझने लगे। महात्मा गाँधी को लगता था कि यह बहुसांस्कृतिक भाषा विविध समुदायों के बीच संचार की आदर्श भाषा हो सकती है : वह हिंदुओं और मुसलमानों को, उत्तर और दक्षिण के लोगों को एकजुट कर सकती है।

लेकिन उन्नीसवीं सदी के आखिर से एक भाषा के रूप में हिंदुस्तानी धीरे-धीरे बदल रही थी। जैसे-जैसे सांप्रदायिक टकराव गहरे होते जा रहे थे, हिंदी और उर्दू एक-दूसरे से दूर जा रही थीं। एक तरफ तो फ़ारसी और अरबी मूल के सारे शब्दों को हटाकर हिंदी को संस्कृतनिष्ठ बनाने की कोशिश की जा रही थी। दूसरी तरफ उर्दू लगातार फ़ारसी के नज़दीक होती जा रही थी। नतीजा यह हुआ कि भाषा भी धार्मिक पहचान की राजनीति का हिस्सा बन गई। लेकिन हिंदुस्तानी के साझा चरित्र में महात्मा गाँधी की आस्था कम नहीं हुई।

स्रोत 10

राष्ट्रीय भाषा की क्या विशेषताएँ होनी चाहिए?

अपनी मृत्यु से कुछ माह पहले महात्मा गाँधी ने भाषा के प्रश्न पर अपने विचार दोहराते हुए कहा था :

> यह हिंदुस्तानी न तो संस्कृतनिष्ठ हिंदी होनी चाहिए और न ही फ़ारसीनिष्ठ उर्दू। यह दोनों का सुंदर मिश्रण होना चाहिए। उसे विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं से शब्द खुलकर उधार लेने चाहिए। विदेशी भाषाओं के ऐसे शब्द लेने में कोई हर्ज नहीं है जो हमारी राष्ट्रीय भाषा में अच्छी तरह और आसानी से घुलमिल सकते हैं। इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय भाषा एक समृद्ध और शक्तिशाली भाषा होनी चाहिए जो मानवीय विचारों और भावनाओं के पूरे समुच्चय को अभिव्यक्ति दे सके। खुद को हिंदी या उर्दू से बाँध लेना देशभक्ति की भावना तथा समझदारी के विरुद्ध एक अपराध होगा।

हरिजन सेवक, 12 अक्तूबर 1947

5.1 हिंदी की हिमायत

संविधान सभा के एक शुरुआती सत्र में संयुक्त प्रांत के कांग्रेसी सदस्य आर.वी. धुलेकर ने इस बात के लिए पुरज़ोर शब्दों में आवाज़ उठाई थी कि हिंदी को संविधान निर्माण की भाषा के रूप में इस्तेमाल किया जाए। जब किसी ने कहा कि सभा के सभी सदस्य हिंदी नहीं समझते तो धुलेकर ने पलटकर कहा कि, "इस सदन में जो लोग भारत का संविधान रचने बैठे हैं और हिंदुस्तानी नहीं जानते वे इस सभा की सदस्यता के पात्र नहीं हैं। उन्हें चले जाना चाहिए।" जब इन टिप्पणियों के कारण सभा में हंगामा खड़ा हुआ तो धुलेकर हिंदी में अपना भाषण देते रहे। जवाहरलाल नेहरू के हस्तक्षेप के चलते आखिरकार सदन में शांति बहाल हुई लेकिन भाषा का सवाल अगले तीन साल तक बार-बार कार्रवाइयों में बाधा डालता रहा और सदस्यों को उत्तेजित करता रहा।

तकरीबन 3 साल बाद 12 सितंबर 1947 को राष्ट्र की भाषा के सवाल पर धुलेकर के भाषण ने एक बार फिर तूफान खड़ा कर दिया। तब तक संविधान सभा की भाषा समिति अपनी रिपोर्ट पेश कर चुकी थी। समिति ने राष्ट्रीय भाषा के सवाल पर हिंदी के समर्थकों और विरोधियों के बीच पैदा हो गए गतिरोध को तोड़ने के लिए एक फार्मूला विकसित कर लिया था। समिति ने सुझाव दिया कि देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी भारत की राजकीय भाषा होगी। परंतु इस फार्मूले को समिति ने घोषित नहीं किया था। समिति का मानना था कि हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए हमें धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए। पहले 15 साल तक सरकारी कामों में अंग्रेज़ी का इस्तेमाल जारी रहेगा। प्रत्येक प्रांत को अपने कामों के लिए कोई एक क्षेत्रीय भाषा चुनने का अधिकार होगा। संविधान सभा की भाषा समिति ने हिंदी को राष्ट्रभाषा की बजाय राजभाषा कहकर विभिन्न पक्षों की भावनाओं को शांत करने और सर्वस्वीकृत समाधान पेश करने का प्रयास किया था।

धुलेकर बीच-बचाव की ऐसी मुद्रा से राज़ी होने वाले नहीं थे। वे चाहते थे कि हिंदी को राजभाषा नहीं बल्कि राष्ट्रभाषा घोषित किया जाए। उन्होंने ऐसे लोगों की आलोचना की जिन्हें लगता था कि हिंदी को उन पर थोपा जा रहा है। धुलेकर ने ऐसे लोगों का मज़ाक उड़ाया जो महात्मा गाँधी का नाम लेकर हिंदी की बजाय हिंदुस्तानी को राष्ट्रीय भाषा बनाना चाहते हैं :

> महोदय, इस बात पर मेरे से ज़्यादा हर्ष किसी और को नहीं होगा कि हिंदी को देश की राजभाषा घोषित कर दिया गया है...। कुछ लोग कहते हैं कि यह हिंदी को एक रियायत दी गई है। मैं कहता हूँ, "बिलकुल नहीं" यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की परिणति है।

बहुत सारे सदस्यों को धुलेकर के बात करने के अंदाज़ से काफी परेशानी हो रही थी। उनके भाषण के दौरान संविधान सभा के अध्यक्ष ने कई बार उन्हें टोककर कहा कि, "इस तरह बात करके मेरे विचार में आप अपनी बात को आगे नहीं बढ़ा पाएँगे।" लेकिन धुलेकर ने अपने ही अंदाज़ में बात जारी रखी।

5.2 वर्चस्व का भय

धुलेकर के बोलने के बाद मद्रास की सदस्य श्रीमति जी. दुर्गाबाई ने इस चर्चा पर अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहा :

> अध्यक्ष महोदय, अभी हाल तक भारत की राष्ट्रीय भाषा का जो सवाल लगभग सहमति तक पहुँच गया था, अचानक बेहद विवादास्पद मुद्दा बन गया है। चाहे यह सही हुआ हो या गलत, गैर-हिंदी भाषी इलाकों के लोगों को यह अहसास कराया जा रहा है कि यह झगड़ा, या हिंदी भाषी इलाकों का यह रवैया असल में इस राष्ट्र की साझा संस्कृति पर भारत की अन्य शक्तिशाली भाषाओं के स्वाभाविक प्रभाव को रोकने की लड़ाई है।

श्रीमति दुर्गाबाई ने सदन को बताया कि दक्षिण में हिंदी का विरोध बहुत ज़्यादा है : "विरोधियों का यह मानना संभवत: सही है कि हिंदी के लिए हो रहा यह प्रचार प्रांतीय भाषाओं की जड़ें खोदने का प्रयास है...।" इसके बावजूद बहुत सारे अन्य सदस्यों के साथ-साथ उन्होंने भी महात्मा गाँधी के आह्वान का पालन किया और दक्षिण में हिंदी का प्रचार जारी रखा, विरोध का सामना किया, हिंदी के स्कूल खोले और कक्षाएँ चलायीं। "अब इस सबका क्या नतीजा निकलता है?" दुर्गाबाई ने पूछा, "सदी के शुरुआती सालों में हमने जिस उत्साह से हिंदी को अपनाया था, मैं उसके विरुद्ध यह आक्रामकता देखकर सकते में हूँ।" दुर्गाबाई हिंदुस्तानी को जनता की भाषा स्वीकार कर चुकी थीं मगर अब उस भाषा को बदला जा रहा था, उर्दू तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दों को उससे निकाला जा रहा था। उनका मानना था कि हिंदुस्तानी के समावेशी और साझा स्वरूप को कमज़ोर करने वाले किसी भी कदम से विभिन्न भाषायी समूहों के बीच बेचैनी और भय पैदा होना निश्चित है।

जैसे-जैसे चर्चा तीखी होती गई बहुत सारे सदस्यों ने परस्पर समायोजन व सम्मान की भावना का आह्वान किया। बम्बई के एक सदस्य श्री शंकरराव देव ने कहा कि कांग्रेसी तथा महात्मा गाँधी का अनुयायी होने के नाते वे हिंदुस्तानी को राष्ट्र की भाषा के रूप में स्वीकार कर चुके हैं, परंतु उन्होंने चेतावनी देते हुए कहा : "अगर आप (हिंदी के लिए) दिल से समर्थन चाहते हैं तो आपको ऐसा कोई

कदम नहीं उठाना चाहिए जिससे मेरे भीतर संदेह पैदा हो और मेरी आंशकाओं को बल मिले।" मद्रास के श्री टी.ए. रामलिंगम चेट्टियार ने इस बात पर ज़ोर दिया कि जो कुछ भी किया जाए, एहतियात के साथ किए जाए। यदि आक्रामक होकर काम किया गया तो हिंदी का कोई भला नहीं हो पाएगा। चाहे लोगों के भय निराधार हों, उनको शांत किया जाना चाहिए वरना "लोगों में गहरी कड़वाहट रह जाएगी।" उन्होंने कहा, "जब हम साथ रहना चाहते हैं और एक एकीकृत राष्ट्र की स्थापना करना चाहते हैं तो परस्पर समायोजन होना ही चाहिए और लोगों पर चीज़ें थोपने का सवाल नहीं उठना चाहिए...।"

निष्कर्षतः, भारतीय संविधान गहन विवादों और परिचर्चाओं से गुज़रते हुए बना। उसके कई प्रावधान लेन-देन की प्रक्रिया के ज़रिए बनाए गए थे। उन पर सहमति तब बन पाई जब सदस्यों ने दो विरोधी विचारों के बीच की ज़मीन तैयार कर ली।

परंतु संविधान के एक केंद्रीय अभिलक्षण पर काफी हद तक सहमति थी। यह सहमति प्रत्येक वयस्क भारतीय को मताधिकार देने पर थी। इसके पीछे एक ख़ास किस्म का भरोसा था जिसके पूर्वउदाहरण अन्य देश के इतिहास में नहीं थे। दूसरे लोकतंत्रों में पूर्ण वयस्क मताधिकार धीरे-धीरे, कई चरणों से गुज़रते हुए, लोगों को मिला। संयुक्त राज्य अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम जैसे देशों में शुरू-शुरू में मताधिकार केवल संपत्ति रखने वाले पुरुषों को ही दिया गया; फिर पढ़े-लिखे पुरुषों को इस विशेष वर्ग में शामिल किया गया। लंबे व कटु संघर्षों के बाद श्रमिक और किसान वर्ग के पुरुषों को मताधिकार मिल पाया। ऐसा अधिकार पाने के लिए महिलाओं को और भी लंबा संघर्ष करना पड़ा।

हमारे संविधान का दूसरा महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण था धर्मनिरपेक्षता पर बल। संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्षता के गुण तो नहीं गाए गए थे परंतु संविधान व समाज को चलाने के लिए भारतीय संदर्भों में उसके मुख्य अभिलक्षणों का ज़िक्र आदर्श रूप में किया गया था। ऐसा मूल अधिकारों की शृंखला को रचने के ज़रिए किया गया, विशेषकर 'धार्मिक स्वतंत्रता' (अनुच्छेद 25-28), "सांस्कृतिक व शैक्षिक अधिकार" (अनुच्छेद 29, 30) एवं 'समानता के अधिकार' (अनुच्छेद 14, 16, 17) राज्य ने सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार की गारंटी दी और उन्हें हितैषी संस्थाएँ बनाए रखने का अधिकार भी दिया। राज्य ने अपने आपको विभिन्न धार्मिक समुदायों से दूर रखने की कोशिश की और अपने स्कूलों व कॉलेजों में अनिवार्य धार्मिक शिक्षा पर रोक लगा दी। सरकार ने रोज़गार में धार्मिक भेद-भाव को अवैध ठहराया। लेकिन, दूसरी ओर धार्मिक समुदायों से जुड़े सामाजिक सुधार

कार्यक्रमों के लिए कुछ कानूनी गुंजाइश रखी गई। इसी वजह से अस्पृश्यता पर कानूनी रोक लग पाई और इसी कारण से व्यक्तिगत एवं पारिवारिक कानूनों में परिवर्तन हो पाए। भारतीय राजनीतिक धर्मनिरपेक्षता में राज्य व धर्म के बीच पूर्ण विच्छेद नहीं रहा। हमने दोनों के बीच एक विवेकपूर्ण फासला बनाने की कोशिश की है।

संविधान सभा के विवादों से हमें यह समझ आती है कि संविधान के निर्माण में कैसी-कैसी विरोधी आवाज़ें उठीं और कैसी-कैसी माँगें की गईं। ये चर्चाएँ हमें उन आदर्शों और सिद्धांतों के बारे में बताती हैं जिनका ज़िक्र संविधान के निर्माताओं ने किया, परंतु इन विवादों को समझने में हमें याद रखना चाहिए कि आदर्शों को विशेष संदर्भों के मुताबिक बदला गया। इसके अलावा ऐसा भी हुआ कि सभा के कुछ सदस्यों ने तीन वर्षों में हुई चर्चाओं के साथ-साथ अपने विचार ही बदल डाले। कुछ सदस्यों ने दूसरों के तर्कों के प्रकाश में अपनी समझ बदली और खुले दिलों-दिमाग से काम किया। कुछ अन्य सदस्यों ने आस-पास की घटनाओं को देखते हुए अपने विचार बदल डाले।

चित्र 15.9
संविधान सौंपते हुए बी.आर. अम्बेडकर और राजेंद्र प्रसाद एक-दूसरे को बधाई देते हुए।

काल-रेखा

1945	
26 जुलाई	ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार सत्ता में आती है
दिसंबर-जनवरी	भारत में आम चुनाव
1946	
16 मई	कैबिनेट मिशन अपनी संवैधानिक योजना की घोषणा करती है
16 जून	मुस्लिम लीग कैबिनेट मिशन की संवैधानिक योजना पर स्वीकृति देती है
16 जून	कैबिनेट मिशन केंद्र में अंतरिम सरकार के गठन का प्रस्ताव पेश करता है
2 सितंबर	कांग्रेस अंतरिम सरकार का गठन करती है जिसमें नेहरू को उपराष्ट्रपति बनाया जाता है
13 अक्तूबर	मुस्लिम लीग अंतरिम सरकार में शामिल होने का फैसला लेती है
3-6 दिसंबर	ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली कुछ भारतीय नेताओं से मिलते हैं। इन वार्ताओं का कोई नतीजा नहीं निकलता।
9 दिसंबर	संविधान सभा के अधिवेशन शुरू हो जाते हैं
1947	
29 जनवरी	मुस्लिम लीग संविधान सभा को भंग करने की माँग करती है
16 जुलाई	अंतरिम सरकार की आखिरी बैठक
11 अगस्त	जिन्ना को पाकिस्तान की संविधान सभा का अध्यक्ष निर्वाचित किया जाता है
14 अगस्त	पाकिस्तान की स्वतंत्रता : कराची में जश्न
14-15 अगस्त मध्यरात्रि	भारत में स्वतंत्रता का जश्न
1949	
दिसबंर	संविधान पर हस्ताक्षर

उत्तर दीजिए (लगभग 100 से 150 शब्दों में)

1. उद्देश्य प्रस्ताव में किन आदर्शों पर ज़ोर दिया गया था?
2. विभिन्न समूह 'अल्पसंख्यक' शब्द को किस तरह परिभाषित कर रहे थे?
3. प्रांतों के लिए ज़्यादा शक्तियों के पक्ष में क्या तर्क दिए गए?
4. महात्मा गाँधी को ऐसा क्यों लगता था कि हिंदुस्तानी राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए?

निम्नलिखित पर एक लघु निबंध लिखिए (लगभग 250 से 300 शब्दों में)

5. वे कौन सी ऐतिहासिक ताकतें थीं जिन्होंने संविधान का स्वरूप तय किया?
6. दमित समूहों की सुरक्षा के पक्ष में किए गए विभिन्न दावों पर चर्चा कीजिए।
7. संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने उस समय की राजनीतिक परिस्थिति और एक मजबूत केंद्र सरकार की ज़रूरत के बीच क्या संबंध देखा?
8. संविधान सभा ने भाषा के विवाद को हल करने के लिए क्या रास्ता निकाला?

मानचित्र कार्य

9. वर्तमान भारत के राजनीतिक मानचित्र पर यह दिखाइए कि प्रत्येक राज्य में कौन-कौन सी भाषाएँ बोली जाती हैं। इन राज्यों की राजभाषा को चिह्नित कीजिए। इस मानचित्र की तुलना 1950 के दशक के प्रारंभ के मानचित्र से कीजिए। दोनों मानचित्रों में आप क्या अंतर पाते हैं? क्या इन अंतरों से आपको भाषा और राज्यों के आयोजन के संबंधों के बारे में कुछ पता चलता है।

परियोजना कार्य (कोई एक)

10. हाल के वर्षों के किसी एक महत्त्वपूर्ण संवैधानिक परिवर्तन को चुनिए। पता लगाइए कि यह परिवर्तन क्यों हुआ, परिवर्तन के पीछे कौन-कौन से तर्क दिए गए और परिवर्तन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या थी? अगर संभव हो, तो संविधान सभा की चर्चाओं को देखने की कोशिश कीजिए (http://parliamentofindia. nic.in/ ls/debaes/debates.htm) । यह पता लगाइए कि मुद्दे पर उस वक्त कैसे चर्चा की गई। अपनी खोज पर संक्षिप्त रिपोर्ट लिखिए।
11. भारतीय संविधान की तुलना संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा फ्रांस अथवा दक्षिणी अफ्रीका के संविधान से कीजिए। ऐसा करते हुए निम्नलिखित में से किन्हीं दो विषयों पर गौर कीजिए : धर्मनिरपेक्षता, अल्पसंख्यक समुदायों के अधिकार और केंद्र एवं राज्यों के बीच संबंध। यह पता लगाइए कि इन संविधानों में अंतर और समानताएँ किस तरह से उनके क्षेत्रों के इतिहासों से जुड़ी हुई हैं।

यदि आप और जानकारी चाहते हैं तो इन्हें पढ़िए :

ग्रेनविले ऑस्टिन, 1972
दि इंडियन कॉंस्टीट्यूशन : दि कॉर्नरस्टॉन ऑफ ए नेशन
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली

राजीव भार्गव
"डेमोक्रेटिक विज़न ऑफ ए न्यू रिपब्लिक", *ट्रांसफॉर्मिंग इंडिया : सोशल एंड पॉलिटिकल डायनेमिक्स ऑफ डेमोक्रेसी*, एफ. आर. फ्रेंकिल एवं अन्य द्वारा संपादित,
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली

सुमित सरकार, 1983
"इंडियन डेमोक्रेसी : दि हिस्टॉरिकल इनहेरिटेंस", *दि सक्सेस ऑफ इंडियाज़ डेमोक्रेसी*, संपादक अतुल कोहली,
कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज

सुमित सरकार, 1983
मॉडर्न इंडिया : 1885-1947
मेकमिलन, नयी दिल्ली

अधिक जानकारी के लिए आप निम्नलिखित वेबसाइट देख सकते हैं
parliamentofindia.nic/ls/ debates/debates.htm
(यहाँ आप संविधान सभा की बहसों का डिजिटल संस्करण देख सकते हैं।)

चित्रों के लिए श्रेय

संस्थाओं से

Alkazi Foundation for the Arts, New Delhi (Figs. 11.6; 11.8; 12.12; 12.13)

Collection Jyotindra and Juta Jain, CIVIC Archives, New Delhi (Fig. 13.15)

Photo Division, Government of India, New Delhi (Figs. 14.3: 14.10: 15.3: 15.4: 15.5: 15.9)

Nehru Memorial Museum and Library, New Delhi (Fig. 15.6)

The Osian's Archive and Library Collection, Mumbai (Figs. 11.9: 11.18: 13.17)

Victoria Memorial Museum and Library, Kolkata (Fig. 10.6, 10.7)

पत्रिकाओं से

Builder (Figs. 12.26)

Punch (Figs. 11.13; 11.14; 11.17)

The Illustrated London News (Figs. 10.1; 10.10; 10.11; 10.12; 10.13; 10.14; 10.16; 10.17; 10.18; 10.19; 11.15; 11.16)

पुस्तकों से

Bayly, C.A., *The Raj: India and the British 1600-1947* (Figs. 10.4; 11.10; 11.11; 12.27)

Dalrymple, William, *The Last Mughal* (Fig. 11.1)

Daniell, Thomas and William, *Views of Calcutta* (Figs. 12.7; 12.8; 12.9; 12.19)

Evenson, Norma, *The Indian Metropolis: A View Toward the West* (Figs. 12.14; 12.16; 12.20; 12.22; 12.23; 12.25; 12.29; 12.30)

Metcalf, T.R., *An Imperial Vision: Indian Architecture and British Raj* (Fig. 12.28)

Publications Division, *Mahatma Gandhi* (many of the Figs. in Ch.14)

Ruhe, Peter, *Gandhi* (Figs. 13.7; 13.11; 13.12)

Singh, Khuswant, *Train to Pakistan* (Figs. 15.1; 15.4; 15.12; 15.13; 15.15)